

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj)**

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DATE	SIGNATURE

द्विगुणभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पदपाठ-सायणग्रहीधर-भाष्य-
 शान्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुकाशिनोटिप्पणी-वैदिक-
 स्वर-ठ्याकरण-पदानक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम् C-90

प्र० १।१५४;२,१२;१०।९० सूक्तानि, व० ३१,
 पारम्पर्योपनयनसूत्राणि च)

संस्कार, सङ्पादक तथा अनुवादक

डा०, सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (प० गुरु दयाल गोहंठमैडलिस्ट)

पी० एचडी०, बी० ए० जॉनमै, शास्त्री, प्रगाण,

केवल कायल वर्मा दलिया भगुन स्वर्णपत्रकी

आचार्य, संस्कृत विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भारती



मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

Government College Library
KOTAH

Class No 89124

Book No 5943V Vol No 1

Accession No 28174

GPB 009-7 59-6000 Bks

विस्तृतभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पदपाठ-सायणमहर्षि-भाष्य-
शाब्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुकाशिनोटिप्पणी-वैदिक-
स्वर-व्याकरण-पदानुक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम्

ENDING TEXT BOOK

(ऋ० १।१५४, २, १०, १०।९० सूक्तानि, य० २४
पारस्करोपनिषदसूत्राणि)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (प० गुरुदास दयाल गोल्डमैडलिस्ट)

पी० एनडी०, बी० ए० ऑनर्स, शाल्मो, प्रभाकर,

देवल कोयल वर्मा बलिया धम्मरत्न स्वर्णपदकी

आचार्य, संस्कृत विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर

भारती



मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

प्रकाशक—

भारती मन्दिर

अनुसन्धान शाला

४ हीरापुरी, गोरखपुर।

नया पता
डी-४०, बापू नगर,
जयपुर

सर्वाधिकार लेखक के अधीन सुरक्षित हैं।

मूल्य रु० ८/२५ न.पै.

मुद्रक

गोरखपुर :—

१. भारत प्रेम, हासुपुर—कोष, मुग्यपृष्ठ, विषयसूची, उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ आदि पृ० १—६०।
२. नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, गोलघर—उपनयनसूत्राणि पृ० १—२८, अक्षसूक्तानि —भूमिका पृ० १—२६

वाराणसी :—

३. ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काल भैरव मार्ग—विष्णु और पुरुष सूक्त, आदि पृ० १ अ से अन्त तक।
४. मास्टर प्रिंटिंग वर्क, ६१३४ बुलानाला—इन्द्रसूक्त ।
५. मार्गव भूषण प्रेम, त्रिलोचन—उपोद्घात, उपनयनसूत्रों की भूमिका, अक्षसूक्त की भूमिका, पृ० २७ से ७३।

विषयसूची

उपोद्घात

१

पारस्करीयोपनयनसूत्राणि

१. भूमिका

१५—५७

(यहाँ कोष्ठकों में सन्दर्भसंख्या दी गई है) ।

सरकार (१—६), अन्य जातियों में सत्कारों की सत्ता (७—६), उपनयन संस्कार की प्राचीनता (१०—१६), पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन गृह्य (१७—२१), पारस्करीय उपनयनविधि (२२—२८), पारस्करीय विधियों में प्रचार (२९) पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद (३०), आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान (३१—३३), गामिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर (३४—३५), पारस्कर के उपनयन सूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की मालिका (३६), कन्याओं का उपनयन (३७—४०), शूद्रों की स्थिति और उन का उपनयन (४१—५२) ।

२ उपनयनसूत्र और उन का हिन्दी अनुवाद

१—२७

३. परिशिष्ट १—सुकाशिनी टिप्पणियाँ

१—८१

४ (उपनयनसूत्रों की) पद और विषय अनुक्रमणिका

८२—८९

ऋक्सूक्तानि

१. भूमिका—ऋग्वेद का परिचय

१—७२

(यहाँ कोष्ठकों में सन्दर्भों की क्रमिक संख्या दी गई है ।)

वेद शब्द (१), शाखासंहिताएँ (२—५), ब्राह्मणग्रन्थ (६), अरिस्त्यक (७—६); उनिषद् (१०—११), सूत्र (१२—१५), ऋग्वेद (१६—१७), ऋग्वेद का काल (१८—२८), ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विकास (२९—४५), वेदमन्त्रों की सुरक्षा के साधन (४६—५०), ऋग्वेद में विकार (५२—५३), ऋग्वेद का

विस्तार और विभाजन (५४—५६), ऋग्वेद की सफटना (५७—७८), ऋग्वेद की भाषा (७९—८१), ऋग्वेद में छन्द प्रयोग (८२—८४) ऋग्वेद का धर्म (८५—११७), देवताओं का वर्गीकरण (९१), प्रमुख देवता (९२), अल्पस्तुत देवता (९३), अमूर्त देवता (९४—९५), देविया (९६—९७), युग्म देवता (९८), सघ देवता (९९), लघु देवता (१००—१०१), रत्न देवता (१०२), पार्थिव वस्तु—देवता रूप में (१०३), अमर (१०४—१०६), ऋषि दयानन्द का मत (१०७), विवेचन (१०८—११७), ऋग्वेद में लौकिक सामग्री (११८—१३४), लौकिक सूक्त (११८), सवाद सूक्त (११९), नीति सूक्त (१२०—१२१), ऐतिहासिक सामग्री (१२२—१२३), पहेलिया (१२४) सुश्रुसूक्त (१२५), दानस्तुतिया (१२६), भौगोलिक सामग्री (१२७), सामाजिक अरस्था (१२८—१२९), व्यवसाय (१३०—१३३), मनोविनाद (१३४), ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन (१३५—१३८), ऋग्वेद की व्याख्यानपद्धति (१३९—१६०), प्रस्तुत समग्र के देवताओं का स्वरूप—विष्णु का स्वरूप (१६१—१६४), इन्द्र का स्वरूप (१६५—१८२), पुरुष का स्वरूप (१८३—१८५)।

[आगे दाहिनी ओर छोटे कोष्ठकों में पृष्ठसंख्या दी गई है। कोष्ठकों से बाहर मन्त्रप्रतीक से पूर्व बाईं ओर मन्त्रों की क्रमशः क्रमिक और सूक्त में की संख्याएँ दी गई हैं।]

२. विष्णुसूक्तम् [अ० १।१५४]

१—२८

अध्यादि—(१), १. विष्णोर्नु कम्—(१—७), २ प्र तद्विष्णु—(७—११), ३ प्र विष्णवे शूपम्—(११—१४), ४ यस्य त्री पूर्णा—(१४—१८), ५ तदस्य प्रियम्—(१८—२३), ६ ता वा वास्तु०—(२४—२८)

३. इन्द्रसूक्तम् [अ० २।१०]

२९—८४

अध्यादि—(२९), ७।१ यो जात एव—(२९—३६), ८।२. य पृथिवीं (३७—४०), ९।३० यो हत्वाहिम०—(४०—४६), १०।४ येनेमा विश्वा

(४६—५१); ११५—य स्मा पृच्छन्ति (५१—५४), १२१६—या रभ्रत्य
चोदिता—(५४—६०), १३१७—यस्याश्वास प्रदिशि—(६०—६१), १४१८—
य क्रन्दसी—(६१—६३), १५१९—यस्मान्न श्रुते—(६३—६५), १६१२०—
य शश्वतो—(६५—६८), १७१२१—य शम्बर—(६८—७३), १८१२२—
य सतरश्मि०—(७३—७६), १९१२३—द्यावा चिदस्मै (७६—७८), २०१२४
—य मुन्यन्तम० (७८—८१), २११२५—य मुन्यते पनते (८१—८४) ।

४. पुरुषसूक्तम्—[श्रु० १०१९०, य० ३१] १अ—५०अ

श्रुण्यादि (१ अ), २२१२—सहसरीर्षा पुरुष (१ अ—४अ),
२३१२—पुरुष एवेद सर्वम् (५ अ—८ अ), २४१२—एतावानस्य महिमा
(८ अ—९ अ), २५१४—त्रिषाणूर्ध्व उदैत् (१० अ—११ अ), २६१५—
तस्माद्विराड्जायत (११ अ—१५ अ), २७१६—यत्पुरुषेण हविषा (१५ अ
१८ अ), २८१७—त यज्ञ वहिषि प्रीक्षन् (१८ अ—२० अ) २९१८—
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत सभृतम् (२० अ—२२ अ), ३०१९—तस्मान्नान्त्सर्वहुत
श्रुच (२२ अ—२४ अ), ३११२०—तस्मादन्वा अजायन्त (२४ अ—२५ अ),
३२१२१—यत्पुरुष व्यदधु (२५ अ—२८ अ), ३३१२२—ब्राह्मणोऽस्य
मुखमासीद् (२८ अ—३० अ), ३४१२३—चन्द्रमा मनसा जात (३० अ—
३४ अ), ३५१२४—नाभ्या आसाद्—(३४ अ—३६ अ), ३६१२५—सतात्यासद्
(३६ अ—३९ अ), ३७१२६—यज्ञेन यज्ञमयन्त (३९ अ—४१ अ) ४०१२७—
अद्भ्य सम्भुत (४१ अ—४४ अ), ३९१२८—वदाहमत (४४ अ
—४५ अ), ४०१२९—प्रजापतिश्चरति (४५ अ—४७ अ), ४११३०—
यो देवेभ्य आतपति (४७ अ—४८ अ), ४२१३१—रुच ब्राह्म (४८ अ—
५० अ), ४३१३२—भोश्च ते लक्ष्मीश्च (५० अ—५२ अ) ।

(तीनों परिशिष्टों की इस सूची में दाहिनी ओर कोष्ठकों में
संदर्भसंख्या दी गई है ।)

परिशिष्ट १—संहितापाठ से पदपाठ—

५३ अ—५६अ

पदपाठ का स्वरूप (१), संहितापाठ से पदपाठ लिखना (२), उदाहरण (३—४), पदपाठ लिखने के नियम (५), पदपाठ में इति लगाने के नियम—प्रगल्भ सशर्तों के आगे इति (६), अन्य पदों के आगे इति (७), अवग्रह लगाने का नियम (८) ।

परिशिष्ट २—वैदिक स्वर

६०अ—६५अ

वैदिक स्वर (१—३), स्वर के उपयोगी नियम (४—८), स्वतन्त्र स्वरित (९—१५), नित्य निपात (= अनुदात्त) पद (१६), उदात्त का अभाव (१७—१८), मन्त्राधनपदों का स्वर (१९—२०), क्रियापदों का स्वर (२१—२६), उपसर्गों का स्वर (२७—२८), समासों का स्वर (२९—३४) ।

परिशिष्ट ३—वैदिक व्याकरण

६६अ—८०अ

वर्णमाला (१—२), सन्धि (३—८), स्वरसन्धि (४—५), व्यञ्जन-सन्धि (६), बाह्य सन्धि (७), लोप होने पर सन्धि (८), शब्दरूप (९—३४), एकवचन (३०—३१), द्विवचन (३२—३५), बहुवचन (३६—३९), शब्दरूपों की रचना (३०), रथी (३१), नदी (३२), तनू (३३), सुना सुलुक् (३४), धातुप्रभिया (३५—६६), आगम (३५—३६), उपसर्ग (३७), तिप्प्रत्यय (३८—४२), द्वित्व (४३), गण (४४), लकार (४५—५६), काल (४६—४७), भाव (४८—५६), लोट् (४९—५६), √भू (५३), √सु (५४), लोट् रूपों का वर्गीकरण (५५), इजक्विट् (५६), मातृत्वद्योतक कृदन्त पद (५७—५८), क्तया अर्थ के रूप (५९), तुमर्थ के रूप (६०—६५), इत्यप्रत्यय (६६), कर्मप्रवचनीय निपात (६७—७०), वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ (७१—७५), कारक (७१), वर्णान्तर (७२), साहित्यिक दीर्घ (७३), प्रत्ययों का प्रयोग (७४), व्यत्यय (७५) ।

वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

८१अ

ऋक्सूक्तटिप्पणीषु व्याख्यातपदानामनुक्रमणिका

८३अ

संक्षेपविवरण

८७अ

ॐ ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तथा मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

उपोद्धात

प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग हैं —

१—पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि २ ऋक्सूक्तानि (य० ३१ व) । दोनों भागों की भूमिकाएँ, टिप्पणियाँ और अनुव्रतमणिकाएँ पृथक्-पृथक् रक्ती गई हैं । उपनयन सूत्रों की भूमिका में ऋक्सूक्तों की टिप्पणियाँ वे निर्देश दिए गए हैं और ऋक्सूक्तों की भूमिका और टिप्पणियाँ में उपनयन सूत्रों की टिप्पणियों की ओर अनेक बार निर्देश किया है । शत दोनों भाग स्वतन्त्र प्रतीत होने पर भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ।

२—इस संस्करण में पारस्करगृह्यसूत्र के दो संस्करणों का उपयोग किया गया है —

(अ) पारस्करगृह्यसूत्रम्—श्री वेदाचार्यविजयचन्द्रशमभट्टतटिप्पणि-
भि समलङ्कृतम्—श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीमप्रेसत्राण्य बम्बई सं० १९८५ वि० ।

(आ) पारस्करगृह्यसूत्र पञ्चभाष्योपेत महादेवशमणा संस्कृतम्—
गुजराती प्रेम, बम्बई १९७३ वि० ।

३—दोनों संस्करणों में कुछ भेद हैं जो इस प्रकार हैं —

(१) आ में अधिकांश स्थलों पर " के स्थान पर ठ का प्रयोग किया गया है । प्रकृत मूल में ऐसे स्थलों पर * चिह्न दिया गया है ।

(२) कुछ स्थलों पर " को आ में ँ पढ़ा है । ये स्थल † चिह्न से चिह्नित हैं ।

(३) सूत्र० १४, १०८, से १२४ आ में नहीं है ।

(४) आ में ८९ और ९० की सख्या क्रमश ९० और ८९ है।

४—इस सस्करण में 'अ' के पाठ को ही ग्रहण किया गया है। कोष्ठका में रखे हुए पाठ दाना मस्करणा में पाये जाते हैं परन्तु उन को सब भाष्यकार सूत्रकार को अनभिमत मानते हैं। सूत्र० १०८-१२४ भी इसी श्रेणी में है। छाप में उन में काष्ठक रह गए हैं।

५—अ और आ में कण्डिकाओं की सख्या व अक्षरों में भी अन्तर है। अ में यह प्रकरण ३-७ कण्डिकाओं में है, और 'आ' में २-५ में। इस सस्करण में दाना को सख्या दी गई है।

६—अ में सूत्रों पर अंक नहीं हैं। कण्डिका ३-६ में आ के अंक दाईं ओर हैं। कण्डिका ७ में भी अक्षर कर दिया गया है। इस सस्करण में बाईं ओर प्रत्येक सूत्र और मात्र पर अविकल सख्या दी गई है। अनुवाद टिप्पणियाँ भूमिका आदि में सबत्र इस अविकल सख्या का प्रयोग सौकर्य की दृष्टि से किया गया है।

७—अनुवाद और टिप्पणियाँ में प० मुखदेव वर्मा के हिन्दी अनुवाद हरिहर आदि के पाँच प्राचीन भाष्या सस्कारचन्द्रिका तथा सस्कारविधि से पुष्कल सहायता ली है।

८—दोना भागा—उपनयन सूत्रों और ऋक्सूक्ता की भूमिकाओं में दोनों से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रामाणिक अनतिविस्तृत वर्णन किया गया है। अपने विचारों के लिए पादटिप्पणियों में पुष्कल प्रमाण भी दिए हैं। इन विचारों में अपनी नई खोजों को समाविष्ट कर दिया है।* यहाँ वर्णित विषयों का ज्ञान विषयमूला पर दृष्टि डालने से हो सकेगा।

*परमपूज्यगुरुजी योग्युत डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी का आदेश है कि अपनी विचारधाराओं का समावेश करते हुए वैदिक साहित्य का एक इतिहास लिखें। वेदविषयक यह भूमिका उसी आदेशपालन का एक अंग है।

९—उपनयन सूत्रों के इस सस्करण की टिप्पणियों और अनुवाद में वेदसूत्रों के अर्थ यावदद्य ज्ञात भाष्यकारों से अनुभूति लेते हुए भी उनसे पर्याप्त भिन्न हैं। इस में मेरा प्रयास बेंकट भाष्य के समान कोई नया सम्प्रदाय चालू करने का नहीं है। मैं ने केवल त्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्र के अर्थ में समन्वय के प्राचीन नियम को चरितार्थ करने का प्रयास किया है। कर्मकाण्ड के ग्रन्था के भाष्यकार बहुधा इस नियम का पालन करने में सफल नहीं हो पाए हैं। इस में मैं न तो सफलता की उद्धोषणा करता हूँ न अर्थों की दृष्टता की। हां, एवविधता का दिश्वाम अवश्य है। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ यदि इस प्रकार न किए जाएँ तो त्रियाएँ और मन्त्रों के अर्थ असम्बद्ध रह कर अभीष्ट फल देने से ही वञ्चित नहीं रहते, प्रत्युत अनिष्ट के कारण भी बन जाते हैं। अतः भाष्यकारों के विभिन्न दृष्टियों से कर्मकाण्ड के प्रकरण में जमगत अर्थ यहाँ अवाञ्छनीय और अप्रासंगिक हैं।

१०—उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ में अपने अनुवाद के आधारों का देने के साथ ही भाष्यकारों के मतों का निदर्श भी किया है। यथास्थल उन की आलोचना भी की है। सस्कार की क्रियाओं आदि के मूल भावों को खोलने का प्रयत्न भी किया है। षण्ड, षस्त्र, अजिन आदि पर नई दृष्टि से सम्प्रमाणमूलविचार प्रस्तुत किए हैं। उपनयन के सांस्कृतिक महत्त्व का समझने में ये टिप्पणियाँ उपयोगी हों सकें इसी भावना से इन्हें सुविस्तृत बनाया है। अन्त में पदा और विषयों की एक अनुक्रमणिका भी दी है।

११—इस ग्रंथ में सकलित ऋग्वेद के सूक्तों के मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद प्रायः सायण और आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों की झंझी पर दिया है। बहुधा आधुनिक विद्वानों के अर्थों की अपेक्षा सायण के अर्थ अधिक स्पष्ट, सगत और बोधगम्य हैं। ऐसे स्थलों पर सायणीय व्याख्यान को अपनाया है। अनुवाद में हिन्दी के शब्दों का चुनाव टिप्पणियों में दिए

गए अरने मुझाबो बे अनुसूप करने का प्रयास भी किया है । अपने विचारो को टिप्पणियो में व्यक्त किया है, सामान्यत उन्हें हिन्दी अनुवाद में समाविष्ट नहीं किया है । इस बे दो लक्ष्य है —

१ विद्याविया को परीक्षा की दृष्टि से मन्त्र वा विवादहीन ग्राह्य अनुवाद मिल जाए । २ सामान्य पाठवा को सायणीय और आधुनिक शैली बे अनुवादा वा साक्षात् परिचय हो जाए । टिप्पणिया में आधुनिक विज्ञाना के विचारा को समाविष्ट करते हुए नैरक्त शैली पर ब्राह्मण ग्रन्थो और वैदिक मसृति के आधार पर प्रमुख पदा और पदममूहा की व्याख्या की है । समस्त मन्त्रा वा अथ पाठक स्वयं कर सकेंगे । टिप्पणियो में प्रदत्त ये व्याख्यान वैदिक विद्वानो के विचार बे लिए अनेकविध सामग्री प्रस्तुत करते हैं । इन में अनेका वेदविषयक भाष्यताआ के स्थान पर नए और युक्ति-प्रमाण-मगत मुझाव प्रस्तुत किए गए हैं । इसी कारण इस सफलता वा नाम वेदभाष्यम् ($\sqrt{\text{लु}}$ से) रक्का गया है । यह सस्करण इस दृष्टि से अन्य सस्करणो से विलक्षण और शोषभूयिष्ठ है । विद्यार्थी इन टिप्पणियो को समस्त कर परीक्षा में दे कर अधिक अरु प्राप्त कर सकेंगे ।

१२—देवताआ पर लिखी गई टिप्पणिया में प्रचरणोचित अर्थ वा विवेचन करने बे लिए जितनी सामग्री आवश्यक थी उतनी ही दी गई है । उन के अन्य स्वरूपा और व्युत्पत्ति आदि वा विवेचन सामान्यत छोड दिया गया है । उन के दार्शनिक स्वरूप वा परिचय डा० फतहसिंह बे वैदिक दान में बड़ी उत्तमरीति से दिया गया है । देवताओ बे स्वरूप और व्युत्पत्ति वा ज्ञान उन के ग्रंथ की वैदिक ऐतिमौलीजी से प्राप्त किया जा सकता है ।

१३—सामान्यत आजकल के अधिवाश विद्वान् ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवृत्त की हुई वेदभाष्यशैली की उसे अवैज्ञानिक बहू धर उपेक्षा करते हैं और उन के वेदभाष्या तथा उन की भूमिका को साम्प्रदायिक बहू कर उस से दूर रहने हैं । परन्तु दयानन्दभाष्य के प्रति उन के उपरागत उद्गार उन बे

अपने ज्ञान, मस्तिष्क और हृदय का चित्र उपस्थित करते हैं दयानन्द-भाष्य के दोषों का नहीं। यद्यपि वेदाध्ययन के ह्रमिता युग में सायण और उवट-महीधर आदि में वेदज्ञान के दीपक को प्रज्वलित रख कर हम पर महान् उपकार किया है तथापि उन के भाष्य और शैली वैदिक ज्ञान की गरिमा को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ नहीं है। यह बात विशेष रूप से कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों पर लागू होती है। इन मन्त्रों के अर्थों और उन के विनियोग की तुलना में उन में बहुधा कोई सम्बन्ध पता नहीं चलता है। ब्राह्मणों का मत है कि मन्त्र और क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में या तो मन्त्र के अर्थ में परिवर्तन किया जाए या क्रिया को बदला जाए तब ही ब्राह्मण का लेख सार्थक होगा। क्रिया परम्परा से चली आ रही है। उस में परिवर्तन में महान् अवस्था आ जाती है। अतः मन्त्रों के अर्थों का ही क्रिया के अनुसार करना आवश्यक हो जाता है। यह अर्थान्तर केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित वेदभाष्यशैली में सम्भव है। अन्य किसी शैली में नहीं। इस तथ्य का क्रियात्मक रूप उपनयनसंस्कार में विनियुक्त मन्त्रों के इस ग्रंथ में दिए गए अनुवाद और टिप्पणियों में स्पष्टतया दिखाई पड़ेगा।

१४—अतः इस संस्करण के उपनयन में विनियुक्त मन्त्रों व अनुवाद और टिप्पणियों से यह सरलता में ज्ञात हो जायेगा कि ऋषि दयानन्द का वेदार्थ और वेदार्थशैली भगवद् और अस्पृश्य नहीं है प्रत्युत वे प्रयोज्य अनुकरणीय, मननीय और लाभकारी हैं। इस वेदभाष्य से अनेकों वैदिक-गुणियाँ सुलभ होती हैं और वेद का प्राचीन गौरव दृष्टिपूर्व में आने लगता है।

१५ यह ग्रन्थ आर्यसमाज आदि धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्र में कार्य करने वाले वैदिक पण्डितों को भी कार्य करने की एक नई प्रणाली और क्षेत्र का दिग्दर्शन कराने वाला होगा। आर्यसमाज की संस्थाओं में सम्भीर वैदिक

साहित्य के सृजन की मात्रा पर्याप्त अन्य है और उम की शैली भी कुछ परिवर्तन की अपेक्षा रखती है।

१६ टिप्पणियाँ में पद पद पर अनेक ग्रन्थों के प्रमाण और उद्धरण दिए हैं। बहुत से ग्रन्थों के स्थला को देखने का सुभाव दिया गया है। परीक्षार्थी प्रश्नपत्रों के उत्तरों में इन सब को छोड़ दें। इन प्रमाणों का याद करना अनावश्यक है। यदि इन ग्रन्थों से उन में वेदाध्ययन के लिए रुचि जागृत हो गई तो ये प्रमाण उन को सहायक होंगे। यही स्थिति ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्धृत पदों के अनेकविध अर्थों की है। उन सब को याद करना आवश्यक नहीं। यह सब सामग्री विद्वानों के विवेचन, विषय को मप्रमाण करने और आगे अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने के लिए है।

१७ इस ग्रन्थ में मेरे दीर्घध्यायी अध्ययन और खोजों की छाप बहुत दिखाने पड़ेगी। विद्वानों को इस की अनेक पक्षों के पूर्ण महत्त्व को समझने के लिए मेरे पुराने लेख और रचनाओं के ज्ञान की आवश्यकता अनुभव होगी। ऐसे स्थला पर बहुधा अपने विचारों को कुछ विस्तार में वर्णन करने और पाठि० या कोष्ठका में अपनी रचनाओं के सम्बन्धित स्थला का निर्देश करने का प्रयत्न किया है।

१८ ऋग्वेद के सूक्तों में बाईं ओर मन्त्रों की अविकल क्रमिक सख्या और बाईं ओर सूक्त में मन्त्र की सख्या दी है। यजुर्वेद की सख्या जहाँ भिन्न है वहाँ मन्त्र के नीचे लिख दी है। ग्रन्थ में प्रमाणों में बहुधा और अनुक्रम-शिकाओं में सर्वत्र अविकल सख्या का ही प्रयोग किया गया है।

१९ उपनयन सूत्रों के इस संस्करण में मन्त्रों पर स्वर चिह्न नहीं लगाए जा सके हैं। भारस्वर गृह्यसूत्र के संस्करण में मन्त्रों पर स्वरचिह्न दिए भी नहीं गए हैं।

२०. सूक्तों में मन्त्रपाठ पदपाठ और टिप्पणियों के पदों में स्वर दिए

गए हैं। बी० ए० और एम० ए० दोनों ही श्रेणियों में पदपाठ पूछा जाता है। अतः स्वरों के चिह्नों का परिज्ञान भी नितरा आवश्यक है। वैदिक व्याकरण पर भी प्रश्न पूछे जाते हैं। वैसे भी मन्त्रों की भाषा को समझने के लिए वैदिक व्याकरण का ज्ञान परम वाछनीय है। अतः इन दोनों विषयों का मक्षिप्त, समकत, स्पष्ट और आवश्यक परिचय यहाँ संकलित मन्त्रों में उदाहरणों के साथ ऋग्वेद के सूक्तों के अन्त में दिया गया है।

२१ इस प्रकार इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण और सभी विश्वविद्यालयों में प्रयोग किए जाने योग्य बनाया है। यदि यह संस्करण विश्वविद्यालयों में आवृत्त हुआ तो और अधिक मन्त्रों और सूक्तों पर लिखने का साहस करना संभव हो सकता है।

२२ स्वतन्त्रता में पूर्व वैदिक और मस्मृत के विद्वानों में एक विशेष गुण या परिपाटी थी—दूसरों के लेखों और ग्रन्थों आदि का गम्भीर अध्ययन कर उन पर अपने-अपने विचार प्रकाशित करना और ऐसे विचारों की आलोचना प्रत्यालोचना। सद्भावनापूर्ण यह शैली अध्ययन और ज्ञान को विस्तृत करने का अत्युत्तम उपाय थी। परन्तु आज इस शैली का प्रचलन पर्याप्त कम हो गया है। इस में सद्भावना के ह्रास के साथ अहंभाव भी बहुत बढ़ गया है। यदि कोई देव इस रचना की एवंविध सद्भावनापूर्ण आलोचना करें तो उस की एक प्रति विचारार्थ प्राप्त कर उन का परम अनुगृहीत रहूँगा।

२३. भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में बी० ए० में वेद पढ़ाने की परिपाटी अंग्रेजों के काल से चली आ रही है। यद्यपि अंग्रेजों का लक्ष्य निर्व्याज रूप से भारतीय साहित्य और मस्मृति से न्याय करना नहीं था तथापि उन्होंने वेदाध्ययन का क्रम चालू किया जो उन के गमनकाल में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

२४. परन्तु स्थितियाँ बदली। अंग्रेज चले गए। स्वतन्त्रता आई।

दश ने अनेक क्षेत्रों में उन्नति प्रारम्भ की। शिक्षा का क्षेत्र भी अपवाद न रह सका। परन्तु इस उन्नति में भी वेदाध्ययन का ह्रास-सा लक्षित होता है। कई स्थानों पर बी० ए० स्तर पर वेद का पठनपाठन नहीं होता है। कई विश्वविद्यालयों में वदप्रेमी विद्वानों का कार्यवाहक होना पर भी वेद का वग नहीं है। कई स्थानों पर पाठ्य प्रणाली में वेद का वग हान पर भी अध्यापन की व्यवस्था नहीं है। परिणामतः आज वेद से सुपरिचित विद्यार्थी विश्वविद्यालयों से अपेक्षाकृत कम निकलते हैं।

२५ आज का विद्यार्थी हिंदी माध्यम से पढ़ना चाहता है। इन माध्यम में वेद पर ग्रन्थों की समस्या अत्यन्त है। इस कारण भी विद्यार्थी वेदाध्ययन से घबराते हैं। उन के लिए उपयुक्त सामग्री हिंदी माध्यम से प्रस्तुत करना आधुनिक अध्यापक का पवित्र कर्त्तव्य है।

२६ गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक संचालकों ने पिछले वर्ष का पाठ्यक्रम इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अनुसार निर्धारित किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० में वेद का पर्याप्त अंश पढ़ाया जाता है। परन्तु वहाँ के किसी अध्यापक ने अथवा अथ किसी ने उस भाग को हिन्दी या अंग्रेजी के माध्यम से विद्यार्थियों और जनता तक पहुँचाने का प्रयास नहीं किया। श्री रघुवर मिन्टूलाल गस्त्री और डा० चण्डिका प्रसाद गुप्ता ने उपरान्त वेदभाग का सायण और ज्योतिष आदि के भाष्य और एक भूमिका के साथ प्रकाशित कर पर्याप्त उपकार किया है परन्तु उस से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति पर्याप्त दूर रही है।

२७ इधर गोरखपुर विश्वविद्यालय ने इस वर्ष अपने पाठ्यक्रम में पर्याप्त परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप वेद का पाठ्यक्रम बहुत बढ़ल गया है। इस में अब केवल ऋग्वेद के तीन सूक्त १।१५४ २।१२ और १०।९० रह गए हैं। साथ ही इस में पारस्कर गहनब्रह्म के उपनयन सूत्रों को भी नियत किया गया है। यह पाठ्यसामग्री पूर्व की अपेक्षा

किञ्चित् कम होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस में विद्यार्थियों को वेद के ईश्वर और मृष्टिविषयक दार्शनिक विचारों, प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक सम्प्रदायों और शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय वैदिक सस्कृति की पर्याप्त झोंकी मिल जानी है। वैसे भी थोड़े पाठ का गम्भीर और विस्तृत अध्ययन लम्बे पाठ के चलते अध्ययन में कोटिदा उत्तम है। अतः पाठपत्रम का यह परिवर्तन अवाञ्छनीय नहीं है।

२८ जैसा ऊपर लिखा जा चुका है इस समय तक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जो विद्यार्थियों को रौचक और गम्भीर शैली में वेद के विषय में विद्वानों के विचारों को पहुँचा सके। पिछले वर्ष के पाठपत्रम के परिवर्तन के फलस्वरूप भी एक नए सग्रह की आवश्यकता हो गई है। इस रचना में इन दोनों ही लक्ष्यों को पूरा किया गया है। यदि विद्यार्थियों को इस में अभीष्ट महापना मिल सकी और उन में वेदाध्ययन की प्रवृत्ति जागृत हो सकी, तथा वैदिक विद्वानों और जनता की अपने-अपने अन्तर्गम सामग्री मिल सकी तो मैं अपने प्रयाम को सफल समझूँगा।

२९. इस सस्करण के तैय्यार होने में पर्याप्त समय लगा है। शीघ्रता के लिए कई प्रेसों में छपाई का प्रबन्ध कराने पर भी इस के प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक था। मेरी अपनी व्यस्तताएं और अध्यापनकार्य भी इस देरी में सहायक रहें हैं। इस बीच में इस ग्रन्थ में सन्तुष्टि अथा के अन्य सस्ते सस्करण भी निकलें हैं। इस सस्करण की उन से तुलना ही इस की उपादेयता की हृदयगम कर देगी। साथ ही मूल्य के अन्तर का भी समाधान कर देगी।

३०. इस ग्रन्थ के मुद्रण में भारत प्रेस, ज्योतिष प्रकाश प्रेस और भार्गव-भूषण प्रेस ने बड़ी तत्परता से कार्य किया है। अन्तिम दो प्रेसों ने इस पुस्तक में उन के यहाँ छपे भाग के लिए नियमित दरों पर कामज भी दिया है। इस के लिए उन का परम अनुगृहीत हूँ।

३१ स्थानीय गीता प्रेम की दुकान में इस पुस्तक के लिए कागज लेने का प्रयास किया गया। परन्तु उन्हा ने अममयना प्रकाशित की। श्री करम-चन्द घापर के कर्मचारी से सदा कागज न हाने का उत्तर मिला। अतः इसमें बहुत-सा कागज पर्याप्त अधिक दामा पर ले कर लगाया गया है। विभिन्न स्थानों से विभिन्न मिला का कागज हाने में उनमें अंतर होना स्वाभाविक था।

३२ नेशनल प्रेस और मास्टर प्रेस का भी परम आभारी हूँ। उन के सहयोग के बिना पुस्तक इतनी शीघ्र छपनी सम्भव नहीं थी।

३३ वेदभाग की पदानुक्रमणिका की परचियाँ मेरे प्रिय विद्यार्थियों— श्री अभयनन्दन पाण्डेय, श्री उमाशंकर शुक्ल और श्री रामसुरेश पाण्डेय ने बनाईं।

३४ ग्रंथरचना-काल में रोगग्रस्त मेरी यज्ञमय पत्नी श्री माकुन्तला गुप्ता ने अपनी उपेक्षा को महत्त्वं स्वीकार कर मेरी परम सहायता की है। उन्हा ने ही इस ग्रंथ के मूद्रण आदि की व्यवस्था की देखभाल भी की है। प्रेम से प्रूफ लाने ले जाने में मेरे पुत्र चि० सुवाधकुमार गुप्त और मेरी पुत्री चि० मुकुंतीकुमारी गुप्ता ने बहुत सहायता की है।

३५ जैसा पहले सकेत किया गया है इस रूप में इस ग्रंथ की रचना की प्रेरणा अपने गुरु डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी के आदेश से मिली और अनुभूति डा० फत्तुल्लाह की रचनाओं से। इन्हीं प्रेरणाओं के कारण यह पुस्तक रची गई अथवा सर्वत्र मात्स्य के धातावरण में ईर्ष्या और द्वेष मोल लेने और आर्थिक लाभ की मृगमरीचिका में भटकने आदि के अतिरिक्त सामाजिक दृष्टि में ऐसे ग्रंथों की रचना में और कोई लाभ हाता है यह सगयास्पद है। श्री भंडरनाथ झा उप कुलपति गोरखपुर विश्वविद्यालय को गुणग्राहकता ने भी मुझे इस धारा में गतिशील किया है।

२६ इस ग्रन्थ के प्रणयन में मन अनका ग्रन्थों में महायता ला है। अधिकांश ग्रन्थों का निर्देश पाल् टिप्पणियाँ और मन्त्रसूत्रों में कर दिया गया है। फिर बा वन्त में ग्रन्थों का नाम नही दिया गया है।

२७ इन सब का हृदय में परम आभारी हूँ।

३८ स्वयं मानव स्वभाव है। अतः इस में अनका भल रहो हाणी। उन के उत्तरात्तर परिष्कार का प्रयत्न करना मेरा कर्त्तव्य और लय है। आप ईश्वराधीन हूँ। जो बिना गुणग्राही जन उन पर दृष्टिपान कर सुधार का मार्ग निश्चाय उन का परम श्रेणी रहूँगा।

२९ अतः परम पिता परमात्मा का काटिग धन्यवाद है। उन की कृपा से ही तो मैं सब विचारों में हूँ—

उत्तमं च पश्यन्तं ह्यस्य वाचम
उत्तमं च शृण्वन्तं शृणयिनाम् ।
उत्तमं चम्प तव विमल
आपव पश्य उगती मुखासा ॥

४ हीरापुरी गान्धपुर

२३१२/५९

सुधीरकुमार गुप्त



वेदलावण्ये

पारस्करगृह्यसूत्रे
उपनयनसूत्राणि

भूमिका

संस्कार

१—संस्कार पद सम + कृ कर्ता स यन्ता है—संस्कारना गढ़ करना निखारना अपन अनुष्ण करना अत प्रभावित करना । प्राणी जा कुछ भी करता सुनता देखता और अनुभव करता है उसका प्रभाव उस के मस्तिष्क में रह जाता है । गनं गनं यह प्रभाव अभा हाते-हान एक दठ रूप प्राप्त कर लेता है और प्राणी का अपन वग म कर कठपुतली के समान अपनी धारा में चलान ग्य जाता है । प्राणी उस कम से बचना चाहता हुआ भा अज्ञात रूप में उसे कर्ता जाता है । य अज्ञात गक्तिया ही संस्कार कहलाती है ।

२—अत संस्कार मानव की व प्रवृत्तिया हैं जो अनक परिस्थितिया में उत्पन्न होती हैं । मानव अकला न विचरण करता है न मोचता है । वह सामाजिक प्राणी है । अभा से प्रभावित हाता है और उन को प्रभावित करता है । इस प्रकार एक जैमी प्रवृत्तिया और विचारधारा वाले व्यक्तिया को एक समान समाज का अग समचा जाता है और इन प्रवृत्तिया और विचारा को ही उस समाज और उन-उन व्यक्तिया की संस्कृति कहते हैं । अत यह कहना अनुचित न हागा कि मनुष्य के संस्कार ही उस की और उस के समाज की संस्कृति हैं ।

३—वैदिक संस्कारा के समय कुछ क्रियाएँ की जाती हैं मत्र बोले जाते हैं और सस्त्रियमाण व्यक्ति के मस्तिष्क पर उन बातों का प्रभाव डाला जाता है जिन से वह सस्त्रियमाण व्यक्ति अब तक अपरिचित था । संस्कृत व्यक्ति उस अपरिचित कम के प्रभाव का तो ग्रहण करता हा है साथ ही वह मह भी अनुभव करता है कि वह समाज के अय व्यक्तियों से पृथक नहीं

है, उन के मद्दग ही है। मंस्कार-काल में प्राप्त सम्मान उस में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न कर देने हैं और वह अपने को किसी कर्मविशेष के योग्य और उस के लिए अधिकृत समझने लगता है। उपस्थित जन भी मस्कार की क्रिया में प्रभावित होने हैं और उन्हें अपने समय में किए गये मस्कार की क्रियाएँ याद आ जाती हैं।

४—प्रत्येक मंस्कार में अन्य विशिष्ट कर्मों के साथ यज्ञ भी किया जाता है। यज्ञ का एक प्रत्यक्ष कार्य है—अग्नि में पड़ी हुई वस्तु जिन प्रकार मूशम परमागुओं में विभक्त हो कर सर्वत्र फैल जाती है और सब का बन्धाण करती है उस प्रकार मस्कर और उपस्थित जन भी अपने को जनहित में लगाने की प्रेरणा ग्रहण करने हैं।

५—कुमारावस्था में बालक में शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होने हैं। उसमें शनैः शनैः कामविकारों का उदय भी होता है। ये परिवर्तन और विकार पूर्वजों द्वारा समझित किए जाने परम आवश्यक हैं अन्यथा इस अवस्था में बालको में उच्छृंखलता के प्रवेश कर जाने से समाज की व्यवस्था को महान् क्षति पहुँचनी है। अतः उसे आत्ममयम के साथ अपने प्रति और समाज के प्रति कर्तव्यों की शिक्षा और उन पर आचरण कराने का अभ्यास शाला परम आवश्यक है। यह अभ्याससम्पादन उपनयन में प्रारम्भ हो कर शिक्षाकाल में सम्पादित किया जाता था।

६—गारम्बर का अभिमत उपनयन सस्कारों की त्रिवियों का संक्षेप आगे दिया जायगा। इन का जो व्याख्यान टिप्पणियों में दिया गया है उस में

१ मूह्यभूतों में विद्यारम्भ मस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन-काल में सम्भवतः इनकी आवश्यकता नहीं थी। वहाँ माता-पिता की जागरूकता में वेद-वेद में बालक अक्षर-लिपिज्ञान आदि प्राप्त करते रहे होंगे। अतः उपनयन में ही उनकी शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। जैसा

यह अनायास ही गमना जा सकता है कि उपनयन की समस्त त्रियाआ म गूढ़ भाव निहित हैं। ब्रह्मचारिया को उन सब भावा को हृदयगम करान से वे न केवल आत्ममयमी और कुल के दीपक मिट्ट हा सकते हैं प्रत्युत राष्ट्र और मानवता के परम हितकारक बन सकते हैं। उनमें गृधुता और क्षुद्र आत्मीयता साम्प्रदायिकता और स्वाथपरता की भावनाएँ समाप्त हो कर उदात्त भावनाआ में परिवर्तित हा जाता हैं। आजकल उपनयन सस्कार तो किए जाने हैं परन्तु उस काल म उपनयन की विधिया का भाव और उन का गम्भीर सन्देश बालको को हृदयगम नहीं कराया जाता है। आग का दिग्ग म भा आधुनिक शिक्षा प्रणाली म उदात्त भावा के व्याख्यान और आचरण के लिए गौणातिगौण स्थान हान स युवका की प्रवृत्तिया बहुता अवाछनीय धाराआ में बहनी हुई दिवार्ई पडती हैं।^१ उपनयन का ठीक प्रकार म सम्पादन और उम के उत्तर काल म बालका के चरित्र निमाण और कर्तव्य-परायणता पर ध्यान देन म देश क सामन उपस्थित अनका समस्याएँ सुविधा म हल हो सकगी।

टिप्पणिया में लिखा गया है आयु का विधान धीरे धीरे पाच वष से आग बढ़ता गया। कालांतर में घरेलू शिक्षा सम्पन्न न होन पर विद्यारम्भ सस्कार भा चालू हो गया—हिदू-सस्कार राजवली पाण्डय प० १३७ १४० भी देखें।

१ ऐसे व्यक्ति वेद की परिभाषा में परमातिपरम पापी होते हैं—
केवगधो भवति केवलादी। अत म महापातकिया मे भी निवृष्ट होते हैं।

२ डा० राजवली पाण्डय लिखते हैं कि पहले उपनयन सस्कार सब के लिए अनिवाय नहीं था। (पृ० १५७)। इस का धार्मिक महत्त्व था सामाजिक नहीं। उन का यह लेख विचारणीय है। आग दिए सहिताआ में उपनयन विषयक विवेचन से और ब्राह्मणा के विवरण, छे दष्टि में इसे मानना सभव नहीं। डा० पाण्डय का यह भी कह है कि कालांतर म

अन्य जातियों में संस्कारों की सत्ता

७—समार की समस्त जातियों में संस्कारों का विशेष महत्व पाया जाता है। अधिकसित सरल मस्कृति वाली जातियों में कुमारों का अपनी मस्कृति में संस्कार सार्वत्रिक है। इस से वे अपनी सामाजिक एकता को अशुण्य बनाए रखते हैं। जब उन की सस्कृति या हितों पर अन्यो के सम्पर्क आदि में आघात पहुँचता है, तब वे इस उपनयन संस्कार को परम कट्टरता से सम्पादित करते हैं। वहाँ उपनयन संस्कार न कराने वाले व्यक्तियों और बालकों का तिरस्कार होता है। इन जातियों में यह विश्वास है कि सम्यता का विकास बालक में एकदम होता है और उपनयन से बालक का भूत समाप्त हो कर उस का नया सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। अब वह अपने में पहली और आगे आनेवाली पीढ़ियों के बीच एक कड़ी बन जाता है और अपनी समाज के हित का साधक। उन के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं—आत्म-रक्षा और अन्न का संग्रह। इसके लिए ही वे प्रमुख रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन जातियों में शिक्षाकाल में चरित्रनिर्माण, परम्परा, स्वास्थ्य और क्रिया-कलाप पर बहुत बल दिया जाता है।

८—इन जातियों में उपनयन की विधियों में कुमारों की भावनाओं को जागृत करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है—उन्हें सताया जाता है, सोने, कपड़े पहनने आदि से वञ्चित कर दिया जाता है और उन से समाज और मुखिया की रक्षा की प्रतिज्ञा कराई जाती

उपनयन को अनिवार्य बनाने से अनेको दोष उत्पन्न हो गए। यहाँ तक कि वृक्षा आदि का भी उपनयन किया जाने लगा (पृ० १५८-१६०)। परन्तु यह अनिवार्यता का परिणाम नहीं, प्रत्युत उपनयन के सत्य स्वरूप को न जानने, अश्वत्थ आदि में अभिमानी देवता और धार्मिकता की कल्पना आदि अज्ञान-जन्य अन्ध-वास का परिणाम था।

है। इस पराशा में अमफल वालका का वध कर दिया जाता है अथवा समाज में निम्न बना लिया जाता है।

९—मध्य और विकसित जातियाँ मना उपनयन का वध महत्व दिया जाता है। इसाइया यहूनियाँ मसलमाना और अथ सभा हिंदुआ से भिन्न जातियाँ मना अपन-अपन ढंग से उपनयन कर के उन्हें अपन धर्म का ज्ञान कराया जाता है। गिन्ना क माधना के कारण इन जातियाँ का उपनयन विधियाँ अविकसित जातियाँ के समान उग्र नहीं हाना परन्तु कहाँ कहाँ खतमा (=अगच्छन्) आदि की विधियाँ मना उन का अवगण पाया जाता है।'

उपनयन संस्कार की प्राचीनता

१० आयसमाज म उपनयन संस्कार प्राचीनतम काल से चल रहा है। इस का विस्तृत वर्णन गृहसूत्रा म उपलब्ध हाना है। परम्परागत आचार का ग्रन्थ हान के कारण इन म अपनी विधियाँ और विनियामा के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए ह।

११ डा० राजबला पाण्डेय लिखत ह कि यद्यपि आर्यों क प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में सूक्ता का मकलन कमवाण्ड की दृष्टि म यथाविधि नहीं है तथापि कहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कुछ धार्मिक विगिर्विधाना मे सम्बद्ध सूक्त मिलने हैं जिन म यभाधान विवाह और अन्त्यष्टि का वर्णन है।

१ विस्तार के लिए एनसाइक्लोपीडिया ऑफ मोगल साइन्सिज एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में इनिशियल मोगल औरमनाइज्जान एंडोलैमैम एंडजूकेगन आदि पर लेख एन मिलर का चाइल्ड इन प्रिमिटिव सोसाइटी (अध्याय १०) और एच० वे० मिटिव सीकट सोसाइटीज आदि देखें।

वही धार्मिक विधिविधानों में विनियोज्य कुछ मन्त्र भी पाए जाते हैं।
वहीं प्रासंगिक रूप से समाविष्ट अनेक सदस्यों में सस्वारा पर प्रकाश पड़ता है।

१२ ऋग्वेद में उप० १०१ नी के रूपा का प्रयाग पाँच बार हुआ है।
एक मन्त्र^१ में यह वनस्पति के सम्बन्ध में एक आप्रीसूक्त में आया है। इस
मन्त्र के भाष्यकारों के अर्थों से उपनयन पर कोई प्रकाश प्राप्त नहीं होता है।
परन्तु इस मन्त्र के दा मन्त्रों^२ को साथ ले कर विचार करने से इन में उपनयन
और उस के परिणामस्वरूप शिक्षा का वर्णन स्पष्ट मालूम पड़ता है। एक^३
अन्य मन्त्र में उपनीता-पद ब्रह्मजाया का विशेषण है। उस से अगले मन्त्र में देव
का एक अग ब्रह्मचारी बृहस्पति ब्रह्मजाया का पत्नी रूप में प्राप्त करता है।
इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यदि सायण के द्वारा उद्धृत आख्यान के बिना
इन मन्त्रों का पढ़ें तो यहाँ पर बालक और बालिकाओं के उपनयन, ब्रह्मचर्य
पालन और अध्ययन का उल्लेख मिलता है। इस अध्ययनयज्ञ में देव
मनुष्य और राजा—सभी सहयोग देने हैं। स्वा० श्यामन्द सरस्वती ने अनेक
मन्त्रों में बसु रुद्र और आदित्य को एतत्सज्जक ब्रह्मचारी के अर्थ में लिया
है। इन के भाष्य से वेद में अनेक स्थलों पर शिक्षासम्बन्धी लेख मिलते हैं।

१३ अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त^४ ही ब्रह्मचर्य पर मिलता है। वहाँ
एक सूक्त^५ में सत्यवन्धन पर भी है। ब्रह्मचर्य सूक्त में उपनयन, उपनयन से

१ ऋ० २।३।१०। २ ऋ० २।३।८९। ३ ऋ० १०।१०९।४।
४ वही, म० ५। ५ वही, म० ६। इन में राजान सत्य वृष्णा का देव
और मनुष्या का विशेषण लेना अनुचित न होगा क्या कि अनेक बार देवी
और मानुषी विधा का ही युगपत् वर्णन मन्त्रों में प्राप्त होता है। इस मन्त्र में
पुन तीन बार आया है और एक बार उत्त (जिम का अर्थ भी पुन हो सकता
है)। इस दृष्टि से चार देव, मनुष्य, राजन् और सत्यवारी (ब्रमश-
ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र—?) का निर्देश भी माना जा सकता है।
६ अवे० ११।७। ७ अवे० ६।१३३।

दूसरे जन्म की प्राप्ति, पृथिवी धुलोक और अतर्गित स्फी तीन समिधाआ मेखला वृष्ण वस्त्रा, दीध इमथ्रुआ मिमा अग्नि मूय चद्रमा मातरिश्वा और जला में ममिधादान वनस्पति मवत्सर और ऋतुआ के ब्रह्मचारी स सम्बन्ध और स्नातक का वणन किया गया है। मेखगामूवन मे मेखला का विशेषताआ गुरु से दान और ब्रह्मचारी से वचन का वणन है।

१४ गोपथ ब्राह्मण में उपनयन का याडा सा विवरण मिलता है और शतपथ ब्राह्मण में भी। दोनों में कुछ भेद लक्षित होता है। डा० राजबली पाण्डेय ने शतपथ ब्राह्मण में अजिन या मृगचम का उल्लेख बताया है परन्तु यह विचारणीय है। डा के निर्दिष्ट स्थल पर अजपथ के अजिन को बिछान का वणन है। वही आग चल कर इस अजपथ का प्रजापति से तादात्म्य बनाया गया है। अतः यह अजिन चम नहीं रहा होगा। इसी प्रकरण में औदुम्बरी हान का वणन है। यह उदुम्बर अन्न रूप ऊज ही है। गृह्यसूत्रा में औदुम्बर दण्ड वैश्य का बताया गया है जो अन्नोत्पादन का उत्तरदायी था। इस ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ में यूपाराहण का विधान है। यह निया ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर के विवाह कर गृहस्थ बनना है। यह सब वर्णों पर चरितार्थ होनी है किन्ती एक वर्ण के लिए नहीं है। पाण्डेय महाब्राह्मण में ब्राह्म्यो और ब्राह्म्यस्तोम का वणन है। इस ब्राह्म्यस्तोम में पतितसावित्रिकों को शुद्ध करके पुनः आयसमाज में ग्रहण कर लिया जाता था।

१५ उपनिषदों में ब्रह्मचर्याश्रम की अनेक व्याख्या मिलती है। यहाँ पर शतपथब्राह्मण के समान उपनयनविधि का वणन नहीं है प्रत्यन्त ब्रह्मचारी के गुरुकुल में वास गोपालन गुरु का सेवा गुरुकुल में प्रवर्ण

१ गो० १।२।१८। २ ग० ११।३।३।१। ३ श० ५।२।१।२१।
४ श० ५।२।१।२४—प्रजापतिर्वा एष यदजपथ। ५ श० ५।२।१।२३।
६ पाठ० सूत्र० ९०। ॥ आय सूत्र० १ (५॥) में सुकाशिता टिप्पणिया देख। इस से सुकाशिता टिप्पणिया में प्रकाशित भाव—समस्त प्रजा-विन् वैश्य हैं—की पुष्टि होती है।

अध्ययन और अध्यापन विषयक प्रतिवचन गिष्य के गुण व्रत्तचय की श्रवण धिया गायत्री के उपदेश की रीति और उपदेश तथा गुरुकुल छात्रन समक्ष उपदेश आदि का वर्णन पाया जाता है।

१६ गृह्यसूत्रों में मानव के जीवन में होनेवाले—गर्भाधान पुंसवन, मीमन्ताग्रनयन जातकर्म नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन चूडावर्ण उपनयन समावर्तन विवाह और अत्यष्टि—मस्कार का विस्तृत विधान किया गया है। पीछे के साहित्य में भी बहुत-सी पद्धतियाँ प्रयाग और पारिपार्य आदि लिखी गई हैं। इन में भी मस्कार की विधियाँ का विस्तार वर्णन है परन्तु मन्त्रा और विनियोगों में समर्थ और विधियाँ के सांस्कृतिक महत्त्वा आदि पर प्रकाश डालने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। ऐसा प्रयास स्वा० दयानन्द सरस्वती की मस्कार विधि में बीज रूप में और ५० जातमाराम की मस्कारचरित्रिका में विस्तार किया जाता है। स्मृतियों में सामान्यतः मस्कारविषयक विनियोगों के बिना ही विधियाँ का वर्णन है। पुराण आदि पिछले साहित्य में भी मस्कार का परिचय उपलब्ध होता है। कुछ सामग्री परम्परा में प्रचलित आचारों से भी मिलती है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्र

१७ उपनयन मस्कार का रूप ऋग्वैदिक काल में ही विकसित हो गया प्रतीय जाता है। अथर्ववेद के वर्णना में यह पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में उपनयन समस्त प्रजाओं के लिए बताया गया है। वस्तुतः इन वर्णना में समस्त मानव जाति का एक माना है। उस में कोई भेद नहीं समझा गया है।

१८ शतपथब्राह्मण में उपनयन मस्कार की विधियाँ वैदिक वर्णना से साम्य रखती हैं। यहाँ समस्त मानवजाति का ब्राह्मण मान कर उपनयन के धर्म बताया गया है।

१९ पारस्कर गृह्यसूत्र न पशुपथयज्ञाहण का विधिया का ही अपनाया है। दाना की पदावली में घनिष्ट साम्य है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सूत्र० पारस्वरोय पदावली

शपथयज्ञाहण की पदावली

- | | |
|--|--|
| ७ ब्रह्मचयमागामिति वाचयति | ब्रह्मचयमागामित्याह। |
| २८ अयाम्य दग्धिण ह्मन् गहात्वाह
का नामामीति। | अर्धेनमाहका नामामीति।
अथास्य ह्मन् गह्मन्ति। |
| ३१ इन्द्रस्य ब्रह्मचायम्यग्निराचायस्त
वाहमाचायस्तवामाविति। | इन्द्रस्य ब्रह्मचायम्यग्निराचाय
स्तवाहमाचायस्तवामाविति। |
| ३२ अर्धेन भूतेभ्य परिददामि। | अर्धेन भूतेभ्य परिददाति। |
| ३३ प्रजापतय त्वा परिददामि श्वाय
त्वा सवित्र परिददाम्यग्भ्यस्त्वी
पत्नीभ्य परिददामि द्यावापृथिवी
भ्या त्वा परिददामि विवभ्यस्त्वा
देवेभ्य परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा
भूतेभ्य परिददाम्यग्निष्टया इति। | प्रजापतय त्वा पग्निदामि देवाय त्वा
सवित्र परिददामि
अदभ्यस्त्वीपथाम्य परिददा
मीति। द्यावापृथिवीभ्या त्वा
परिददामानि विवभ्यस्त्वा
भनभ्य परिददाम्यग्निष्टया इति। |
| ३६ ३८ ब्रह्मचायमि। अपाङ्गान।
कम कुरु। | ब्रह्मचायमायाह। अपाङ्गान।
कम कुरु। |
| ४१ समिधमाधहि। | समिधमाधहीति। |
| ३९ ४२ मा दिवा मुपुष्या। अपाङ्गान। एतन्नाह—मा मुपुष्या इति।
इति। | अपाङ्गानति। |

२० इसी प्रकार पारस्कर के बहुत से अर्थ सूत्र शपथयज्ञाहण की पदावली ही हैं। शपथयज्ञाहण न कतिपय विधिया का भाव या महत्त्व वर्णित किया है। पारस्कर न इन स्थला का निकाल लिया है। साथ ही कुछ विधिया को छोड़ भी दिया है। जो विधिया अपनाई ह उन के क्रम में भी कुछ आगम-बीछा कर दिया है।

२१ पारस्कर ने कुछ ऐसे विधान भी दिए हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं हैं जैम विभिन्न वर्णों के आयु, दण्ड, वस्त्र, भेसला आदि में भेद। शतपथ ब्राह्मण ने सावित्री के उपदेश के लिए विभिन्न अवधिया (वर्ष छै मास आदि—मूस० ४६-४७) का विधान सभी ब्रह्मचारिया के लिए किया है जब कि भाष्यकारा के अनुसार पारस्करीय विधान ब्राह्मणेतर ब्रह्मचारिया के लिए है। पारस्कर के गृह्यसूत्र में भी कतिपय ऐसे सूत्र और विधान हैं जो पारस्कर ने स्वीकार नहीं किए हैं परन्तु पीछे के लोग ने अन्य सूत्रा में ले कर इन में जाड़ दिए हैं। इन में से कुछ स्थल तो सर्वसम्मति से प्रक्षिप्त माने गए हैं। हो सकता है शेष में भी कुछ प्रक्षिप्त अंश हों। प्रक्षिप्त स्वीकृत अंग इन मस्करण में बाँटकर में दिखाए गए हैं।^१

पारस्करीय उपनयन विधि

२ ब्राह्मण के गुणा के अभिगपी वालक का उपनयन मस्कार आठ वर्ष की अवस्था में, क्षत्रिय गुणा के अभिलापिया का ग्यारह वर्ष की अवस्था में और वैश्य गुणा के अभिलापिया का बारह वर्ष की आयु में होना चाहिए। यदि इन आयुओं पर उपनयन सम्भव न होता तो सुविधानुसार करवाया जा सकता है परन्तु इसकी शरम अवधि ब्राह्मण गुणाभिलापी के लिए सालह वर्ष क्षत्रिय गुणाभिलापी के लिए बार्दस वर्ष और वैश्य गुणाभिलापी के लिए चौबीस वर्ष की आयु है। इस के पश्चात् वे सावित्री से वञ्चित हो कर गायत्री के उपदेश और अन्य सामाजिक सम्पर्कों से वहिष्कृत कर दिए जाएँ। प्रायश्चित्त कर के वे उपनयन करा सकते हैं। निम की तीन पीढ़िया तक उपनयन न हुआ हो उन्हें घ्रात्यस्ताम करना पड़ता है।

२३ ब्राह्मणा को भोजन कराने के पश्चात् गिर मुण्डवा कर अलकृत

१ इन में अन्तिम वण्डिका सारी प्रक्षिप्त है। मुद्रण में काष्ठक लगने रह गए हैं।

बालक को यज्ञवेदी पर लाते हैं। वह बालक पश्चिम की ओर बैठ कर कहता है—मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ब्रह्मचारी हो जाऊँ। आचार्य येने 'त्राय' मन्त्र से चस्त्र-परिधान इय दुरुक्ता अथवा युवा सुवासा' मन्त्र में अथवा चुप चाप मेखलावन्धन (यज्ञोपवीत मन्त्रों से) यज्ञोपवीतपरिधान, 'मिनम्य चक्षु' से अजिनग्रहण यो मे दण्ड मन्त्र से दण्डधारण कराते हैं। आपो हि ष्ठा आदि तीन मन्त्रों में जल से अपनी अञ्जलि द्वारा बालक की अञ्जलि को भरता है। तच्चक्षु मन्त्र से मूय को दिखाता है। मम व्रते' मन्त्र से दाहिने कन्ध और हृदय को छू कर अनुकूलता की भावना कर के दाहिना हाथ पकड़ कर पूछता है—तुम्हारा नाम क्या है। ब्रह्मचारी नाम बताता है। आचार्य कहता है कि तुम इन्द्र अग्नि और मेरे ब्रह्मचारी हो। अब प्रजापतये त्वा आदि न भूता से कुशलक्षम की प्राप्ति की कामना कर के अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है। अब बालक को कुछ खिला कर ब्रह्मचर्यपालन आचमन और कम करने दिन म न मान प्रश्न का उत्तर देने और हवन करने का उपदेश देता है।

२४ अब आचार्य बालक को अपने सामने बेदी के उत्तर अथवा दक्षिण की ओर बिठा कर सावित्री का उपदेश करता है। ब्राह्मणगुणाभिलाषी को गायत्री छन्द वाली सावित्री क्षत्रियगुणाभिलाषी को त्रिष्टुभ छन्द वाली सावित्री और वैश्यगुणाभिलाषी को जगती छन्द वाली सावित्री का अथवा सब को ही गायत्री छन्द वाली सावित्री का उपदेश किया जाता है। गायत्री के उपदेश के पश्चात् अग्नि की समिधादान अग्निसुध्रव मन्त्र से परिसमूहन अग्नि की प्रदक्षिणा खंड हो कर अग्नय समिधमाहापम मन्त्र से समिधाधान कर के फिर पहले के समान परिसमूहन और पयुक्षण करे। अब हाथ तपा कर 'तनूपा अग्नेर्जि' और भेधा मे देव सविता मन्त्रों से मुख को मले। अपने-अपने के वर्ण अनुसार गम्वाचन पूवक पहले माता से फिर अय इकार न करनेवाली स्त्रियाँ से भिक्षा माग। उसे गुरु को दे कर दिन भर मौन रह। सायकाल जंगल से गिरी हुई मूखी समिधाएँ ला कर अग्नि में डाल कर ही बोने।

२५ ब्रह्मचारी पृथिवी पर मोए। अधिक खार और नमक न खाए। मदा दण्ड रखे, गुरु की सेवा, हवन और भिक्षावृत्ति किया करे। गराव माम, हानिकारक स्नान, ऊँचा बैठना, भंग्युन चूड़ और चोरी—इन में बच। यदि आचार्य लेटे हुए, बैठे हुए, खड़े हुए अथवा चलते हुए को बुलाएँ तो त्रम में बैठ कर, उठ कर, चल कर और दौड़ कर उन की वात सुने। ऐसा ध्वज हार करने पर ब्रह्मचारी की ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है।

२६ विभिन्न वर्णों के दण्ड आदि डम प्रकार हैं —

ब्राह्मण के लिए		क्षत्रिय के लिए		वैश्य के लिए		सर्व के लिए	
				भेड की		(वैकल्पिक)	
वामम् (धस्त)	सन के	रेगम के	(ऊन) के।				
उत्तरीय अजिन	एगो की	रुह की	अजा या गो की।		गो की		
रगना	मूज की अथवा	धनुष् की	मूर्वा की				
	कुश अश्मन्तक						
	वस्त्र की						
दण्ड	पलाश का	विन्ध का	उदुम्बर का	मव ही लक-			
				डियाँ			

२६अ वेदाध्ययन के लिए अड़तालीस वर्ष की आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक वेद का अध्ययन बारह-बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर करे। यदि ऐसा भी न हो सके तो जब तक वेद को पूरा न पढ़ ले ब्रह्मचारी रहे।^१

२७ अध्ययन समाप्त कर चुकने वाला स्नातक होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं—१ विद्यास्नानक—केवल वेद को पढ़ कर सत्तार में प्रवेश करने वाला २ व्रतस्नातक—ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर लेता है परन्तु

१ यावद्ग्रहणम् का यह अर्थ भी हो सकता है—ग्रहण तक, समझने तक। अर्थात् जब तक पढ़ सके तब तक पढ़े। जब न पढ़ सके, तो छोड़ दे।

वेदाध्ययन पूरा नहीं होता । ३ विद्याव्रतस्नातक—जो वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य की अवधि—दोना को पूरा कर लेता है ।

२८ ब्राह्मण १६ वर्ष की आयु तक , क्षत्रिय २२ वर्ष की आयु तक और वैश्य २४ वर्ष की आयु तक उपनयन न कराने पर गायत्री के उपदेश से वञ्चित हो जाते हैं । यही नहीं । इन के साथ न व्यवहार किया जा सकता है, न इन का उपनयन । इन का अध्यापन भी बन्द कर दिया जाता है । ऐसे व्यक्तियों की तीन पीढ़ी तक यह स्थिति बनी रहने पर चौथी पीढ़ी के उपनयन आदि निषिद्ध हैं, परन्तु ब्राह्मणस्नोम करके ये पुनः उपनयन और अध्यापन के पात्र हो जाते हैं ।

पारस्करीय विधियों में प्रक्षेप

२९ उपरोक्त विधि में कुछ ऐसी बातें भी मिला दी गई हैं जो पारस्कर में नहीं मिली हैं । ये इस प्रकार हैं—

- १ यज्ञोपवीत-परिधान के लिए यज्ञोपवीत परम पवित्रम् आदि मन्त्र ।
- २ मित्रस्य चक्षु आदि मन्त्र से अग्निदान ।
- ३ अगानम्भन और त्रिपुण्ड्र तिलक लगाना ।

४ उपनीत ब्रह्मचारी के लिए चोटियों, सावित्र व्रत—छै और तीन रात तक या तुरन्त ही सम्पन्न होने वाला—तीन बार मीठे की आहुति दे कर पाँच सावत्सरिक वेदव्रत—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान का आचरण और व्रता की समाप्ति पर अवगुण्ठनी वा विसर्जन और गोदान ।

पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद

३० ऋग्वेद के मूह्यमूत्रकार आश्वलायन की उपनयन विधि मुख्यतः पारस्करीय विधि से मिलती-जुलती है । दोनों के सूत्रों में शब्दावली भी समान-सी है । दोनों में कुछ भेद भी हैं, जो इस प्रकार हैं —

(१) आचमन करने है कि उपनयन के लिए वाक् अपने-अपने वस्त्रों के लिए विभिन्न रंग के वस्त्र अथवा अपने-अपने धन के लिए विभिन्न अग्नि पहन कर मनवत्ता पर आए।

(२) आचमन नैवेद्य का मन्त्र आवी—भंड के वाग का वताइ है। पारम्पर मन्त्र का वतान है।^१

(३) आचमन न दण्डा के मास का विधान किया है। यहाँ पर शत्रिय का रक्त और अश्वार और नैवेद्य का वैच बनाया है। यह पारम्पर के विधान के विपरान है।

(४) अञ्जलिपूरण में आचमन न तन्मन्त्रिणवर्णामहे का विनियोग बनाया है। अञ्जलि का वाग कर के आचार्य देवस्य त्वा सविता प्रमथ मन्त्र म ब्रह्मचारा के हाथ का पकता है। सविता का वाक् का दूसरा और अग्नि का तीसरा आचार्य बनाया है। आचार्य मूय का निष्ठा कर ब्रह्मचारा के दायायुष्य की कामना करना है। महा उच्चम आग्नि मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता है।^२

(५) आचार्य बालक का प्राण का ब्रह्मचारा वत्ता कर उन प्रजापति का वत्ता है। युवायुवामा मन्त्र म आचार्य वाक् म अग्नि की प्रशिक्षा कराना है पारम्पर मन्त्रावधन। हृदय और वक्ष के स्थान म आचमन न किया मन्त्र का विनियोग नहीं किया है।^३

(६) आचमन समिध धान का धूपचान चाहत है परन्तु कृष्ण तैकागम आचार्य अमर्य समिधमाहापम मन्त्र म। मन्त्र का पाठ—

१ आच० म० १।१९। ८-९। य रस ब्राह्मण का दायाय शत्रिय का माञ्जिष्ठ और नैवेद्य का हारिद्र है। माध्यकार न ग्य वस्त्रा का परिधान वक्षिक माना है। २ महा सू० ११। ३ वही सू० १२। ४ पाठ सू० ८९३०। ५ आच० सू० १।२०। ४६। ६ वही सू० ७।

‘अग्नये समिधमाह्वार्य बृहते जातवेदने । तथा त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वय स्वाहा’—पास्कर के पाठ में भिन्न है (देखा मू० ५५) ।^१

(७) आश्वलायन ‘तेजसा मा समनज्मि’ में तीन बार मुख का मार्जन बताते हैं । ‘मयि मेघाम्’ आदि मन्त्र में उपस्थान कर के दायाँ घुटना टेक कर आचार्य के पैर छू कर बालक माविनी के उपदेश के लिए प्रार्थना करता है । आचार्य बालक के हाथ को वस्त्रसहित पकड़ कर गायत्री का उपदेश करता है और ब्रह्मचारी की योग्यता के अनुसार उम्र से मन्त्र का उच्चारण कराना है और उसे एकाग्र हाव में सुनने तथा आचार्य के अधीन हो कर वेद पढ़ने का उपदेश देता है ।^२

(८) आश्वलायन के मत में वदब्रह्मचर्य का काल केवल द्वादश वर्ष अथवा वेद पूरा पठ लेने तक होना है ।^३ भिक्षा पुरुष या स्त्री में मागी जा सकती है । यहा भिक्षा को आचार्य के समर्पण करने के पश्चात् शेष दिन में खड़े रहने का (?) विधान है । मायकाल ब्रह्मदीन और अनुप्रवचनीय पका कर आचार्य को बनाए । आचार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रारम्भ किए हुए हवन में ‘मदमस्यतिमद्भुतम्’ और गायत्री मन्त्र में दो ऋषिया के लिए और मौषिष्ट आहुनियाँ दे । ब्रह्मभोज के पश्चात् ब्रह्मचारी पूर्ण वेद पढ़ाने के लिए आचार्य से प्रार्थना करे और तीन रात बाग्ह रात या एक वर्ष तक क्षार और लवण का प्रयोग न करे ।^४

(९) आश्वलायन गव्य अजिन का विधान नहीं करते हैं ।

१ वही, १।२०।१०, २।१। २ वही १।२।१२-७। ३ वही, १।२।२। ४ वही, मू० ३-४। भाष्यकार ने इस वर्णन में विद्या, व्रत और विद्याव्रतस्नानका को उल्लेख माना है । यह पास्कर की अवधियों से भिन्न है । ५ वही, मू० ९-१७।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान

३१ आपस्तम्ब उपनयन काल में ही वेशवपनमस्कार चाहते हैं।^१ ये उपनयन के लिए वर्णों के लिए क्रम से वसन्त, ग्रीष्म और शरदृऋतु का विधान करन हैं। ये क्षत्रिय का दण्ड न्यग्राय का, स्वन्ध का या अवाचीन अग्रभाग वाला और वैश्य का खेर या गूलर का बताने हैं।^२ सावित्री के उपदेश के पश्चान् गृह्यचारी ऊपर के हाठ और काना का स्पर्श करता है।^३

३२ वेशवपन के पश्चान् ममिग्राधान, पत्यर पर सीधे पैर का स्थापन और मद्यानिर्मित वस्त्र का परिधान किया जाता है।^४

३३ आपस्तम्ब ने विभिन्न वर्णों के लिए वस्त्रा, अजिन, मेखला, दण्डा के माप आदि का कोई विधान नहीं किया है। गव्य अजिन का विधान भी नहीं है। इन के मन्त्रों में भी भेद है। विधि अवशाङ्कित सक्षिप्त है।

गोभिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर

३४ यहाँ गव्य अजिन का विधान नहीं है।^१ परिधान के लिए क्षौम या गाण, कार्पास और ऊन के वस्त्र बताए हैं, मेखला मूज, कासा और तम्बल (= दण) की, दण्ड पलाश, बिरब और पीपल के।^२ वालक 'अग्ने व्रत-पते' आदि मन्त्रों से पाँच आहुति देता है।^३ अभिवादन के लिए नया या पुराना नाम कल्पित किया जाता है।^४ आचार्य वालक के दक्षिण स्वन्ध, नाभि, हृदय और बाएँ कन्धे का स्पर्श करता है।^५ तीन रात के सावित्र व्रत के पश्चान् उम का चरु करे और दक्षिणा में गो दान दे।^६

१ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १०।५८। २ वही, सू० ४। ३ वही, ११।१५। ४ वही, ११।१०-१३। ५ वही, १०।९-१०। ६ गोभिल गृह्यसूत्र, २।१०।८। ७ वही, सू० ७-१२। ८ वही, सू० १५। ९ वही, सू० २१। १० वही सू० २४-२८। ११ वही, सू० ४३-४५।

३५ अन्य विरिया में और मन्त्रा के विनियोग आदि में शामिल गृह्य सूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र एक दूसरे के बहुत समीप हैं। यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् छन्द की सावित्री का उपदेश केवल पारस्कर ही कराते हैं अन्य सूत्रकार नहीं।

पारस्कर के उपनयनसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की तालिका

३६ मन्त्रप्रतीक

क्रमसंख्या

सूत्र० विनियोग

(१) अग्नये समिधमाहापम

५५ सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में।

(२) अग्ने सुध्रव

५३ सावित्री का उपदेश के पश्चात् हाय म अग्नि के परिसमूहन में।

(३) (अगानि च म आप्यायन्ताम्)

६२ अगालम्भन में जप।

(४) (अदृशमस्य)

११९ सूर्योदय पर जप में।

(५) (अप्स्वन्तर्)

११० मेखला और यज्ञापवीत का जल में स्थापन (हि-अ० म पाटि० १ भी देखें)।

(६) (आ नो भद्रा)

११५ वेदशिरस् से अवगुण्ठन में

(७) आपा हि पठ

२३ जल से अञ्जलिपूरण में।

(८) (आ ब्रह्मन्)

११५ वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।

(९) (आशु शिमान)

११५ वही।

(१०) इन्द्रस्य ब्रह्मचारी

३१ ब्रह्मचारी को 'आप का शिष्य हूँ' कहने पर आचार्य का अपनी भावना का प्रकाश।

(११) (इमां गुवम्)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में ।
(१२) इय दुरवनम्	११	मेघलादन्वन में ।
(१३) (उदीरनामवर)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में ।
(१४) (उदु त्यम्)	११९	सूर्योदय पर जप में ।
(१५) एषा ते	५७	सावित्री के उपदेश के पश्चान् समिधाधान में वैकल्पिक मन्त्र ।
(१६) गायत्री मन्त्र (भूर्भुव स्व । नत्सवितु)	४७	ग्राहण को सावित्री के उपदेश में ।
	५०	सब वर्णों को सावित्री के उपदेश में वैकल्पिक मन्त्र ।
(१७) (चित्र देवानाम्)	११९	सूर्योदय पर जप में ।
(१८) जगती सावित्री		
(१) पुञ्जने मन । य० ५।१४)		वैश्य को सावित्री के उपदेश में ।
(११) विद्वा एषाणि । य० १२।३)	४९	
(१९) तच्चक्षु	२५	सूर्यदर्शन में ।
(२०) तनूपा अग्नेऽग्नि	६०	हाथ तपा कर मुख का मलने में ।
(२१) तस्मा अरगमाम	२३ पाटि० १	जलो से अजलिपूरण में ।
(२२) त्रिष्टुम् सावित्री	४८	क्षत्रिय को सावित्री के उपदेश में ।
(१) ता सवितु । य १७।७४।)		
(११) देव सवित प्रमुव । य० ९।१)		
(२३) त्र्यायुष जमदग्ने	६३	राक्ष से त्र्यायुष (तिलक) लगाने में ।
(२४) (घी शान्ति)	१२०	वर्षा होने पर शान्ति (जप) में ।

(२५) (नमो वरुणाय)	११०	तीन बार मीठा देने में ।
(२६) प्रजापतये त्वा परिददामि	३३	ब्रह्मचारी को भूतों को समर्पित करने में ।
(२७) मम ग्रन्ते ते हृदयम्	२७	अधिहृदय दक्षिणास के जालम्भन में ।
(२८) (मित्रम्य चक्षुर्धरुणम्)	१७	अजिनप्रदान में ।
(२९) भेधा मे देव मविता	६१	हाथ तपा कर मुख को मलने में ।
(३०) (यज्ञोपवीतमसि) }	१५	यज्ञोपवीतपरिधान में ।
(३१) यज्ञोपवीत परमम्)		
(३२) युवा मुवामा	१२	मेखलाबन्धन में वक्त्रिक मन्त्र ।
(३३) येनेन्द्राय बृहस्पति	९	वाम परिधान में ।
(३४) यो मे दण्ड परापतत्	२०	दण्डग्रहण में ।
(३५) यो व शिषतम	२३पाटि०१ जला से अर्जलिपूरण में ।	

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में १६ मन्त्रों का विनियोग प्रक्षिप्त भाग में है, और १९ का प्रामाणिक भाग में है ।

कन्याओं का उपनयन

३७—संस्कृतभाषा की शैली है कि जहाँ स्त्री और पुरुष दाना का वर्गन अभिप्रेत होता है वहाँ भी पुल्लिङ्ग से ही निर्देश किया जाता है । अतः यदि साहित्य में स्त्रियों के उपनयन का विधान स्पष्ट, भाषात् और सविस्तार नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं । ब्राह्मण और ब्राह्मणी का, राजन्य और राजन्या का, वैश्य और वैश्या का समान क्रमशः ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य ही होता है । अतः ब्राह्मण आदि पुल्लिङ्ग के प्रयोगों से ब्राह्मण कन्या आदि का भी बोध होता है । इस प्रकार उन का उपनयन विहित है ।

३८—इमी गैला का अवलम्बन करत हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपन ददभाष्या में पुरुषों की शिक्षा के साथ स्त्रियों की शिक्षा का भी वर्णन किया है ।^१ एव मन्त्र के भाषा में लिखा है कि विद्वान्ता को अपनी (सु-) शिक्षा से कुमार और कुमारी ब्रह्मचारिणियों का परमन्वर से ल कर पथिवापयत पदार्थों का बाध कराना चाहिये ।^२ उहान सत्याय प्रकाश के सामरे समलिंगस म स्त्रियों के अध्ययन और ब्रह्मचर्य का विवचन भा किया है ।

३९—अथर्व म दर्विया का वर्णन वाक अपाला घाया गैलाम्ब्रा आदि ऋषिशास्त्रों का मता की भाषना से तथा बर्दिक साहित्य में विदुषा नागिया और ब्रह्मगादिनियों के वर्णन से बर्दिक का म लडकिया के उपनयन और उच्चनम शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति का अनुमान सुकर है ।

४०—अथर्ववद के ब्रह्मचारी सूक्त म ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का दुग्पन वर्णन हुआ है —

ब्रह्मचर्येण कया युवान विदत पतिम ।

अनन्वान ब्रह्मचर्यणाश्वा घास जिगीषति ।^३

इम मन्त्र म उस काल में उनके और स्त्रियों के उपनयन की सत्ता मुख्य है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारिणी आचार्यों आदि पदा पुरा नारीणा मपि मौज्जाव अनमिष्ये आदि स्मृतिवाक्या स्मृतियों म स्त्रियों के मन्त्र

१—उत्तरहरण के लिये य० ६।२४ २५ आदि का दयानन्दभाष्य देखें ।

२—य० ६।८ का भाष्य ।

३—अवे० ११।७।१८ । यहाँ अनन्वान्-पद कामसूत्र में वर्णित वयस्पुरुष का चोत्तरक है बरत का नहा । इसी प्रकार अथर्व अवजाति के पुरुष और घाम रतिमुख के चोत्तरक है ।

हीन सस्वारा के विधान रूप एतिहासिक अवगणा रामायण में की गयी के यन वरन के वणन गण साहित्य में स्त्रिया की शिखा और जाश्रमा में निवास और यनोपवीतिनी आदि पदा में होती है ।

शूद्रों की स्थिति और उन का उपनयन

४१—इस विषय पर कई विद्वानों ने अधिकृत रूप से लिखा है । डा अम्बेदकर के हू वरही गद्गाज और डा गर्मा के गद्गाज इन एंग्लोइण्ड इण्डिया में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है । गद्गा के विषय में जिनके अध्ययन अब तक हुए हैं उन में दो दृष्टियाँ काम करती हैं — १ शूद्र श्रमिक और समाज में नीचतम वर्ण हैं २ इस भावना की प्रतिनिरा रूप शूद्रों को उच्च वर्ण का मित्र करना । किसी भी अध्ययन में गद्गा साहित्यिक और भाषा की दृष्टि में विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है । यह विवेचन बहुत विस्तृत है । अब महा कतिपय विचार परम संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं ।

४२—वैदिक मन्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि वही मानव जाति के एक दो तीन चार और पाँच विभागों का बहुधा उल्लेख पाया जाता है । समान संख्या के विभागों का वर्णन भी समान नहीं है । उन के मूल में विभिन्न दृष्टियाँ रही प्रतीत होती हैं । तो भी थोड़ा से व्याख्यान से उन में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है ।

४३—ऋग्वेद के एक मंत्र में मनुओं की समस्त प्रजाओं का अग्नि द्वारा स्रष्ट बताया गया है —

१ यथा मन० २।६६ देखें ।

२ देखो डा गर्मा का शूद्राज इन एंग्लोइण्ड इण्डिया में प्रदत्त विवरण ।

स पूवया निविदा बध्यतायोरिमा प्रजा अजनयमनूनाम् ।
विदस्वता चक्षसा चामपश्च देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥^१

इस मन्त्र में प्रजा के अर्थ कोई विभाग नहीं बताया है । य प्रजाएँ आय ही है — उरु ज्योतिश्चक्रयुरार्याय^१ ।^२ इसी मन्त्र में दुहन्ता मनुष्याय दत्ता^३ तथा पुनरुक्त अग्नं ज्योतिर्जनाय चक्रयु^४ में आय मनुष और जन को समानार्थक माना है ।

४४—प० अश्विलानन्द ने लिखा है कि वेद के सवध में जहाँ वही पर किसी जाति का नाम मिलता है तो ब्राह्मण जाति का ही मिलता है अर्थ का नहीं वेद और ब्राह्मण का अन्यान्याय्य सम्बन्ध है ।^५ वस्तुस्थिति यह मालूम पड़ती है कि वैदिक काल में मानव मात्र को ब्राह्मण कहा जाता था ।^६

४५—अन्यत्र प्रजाप्रा के दो विभाग किए गए हैं । इन के नाम भिन्न भिन्न हैं—

(१) आर्य और दस्यु

विजानीह्यार्यान् य च दस्यवो ब्रहिष्मते रथया शासद्व्रतान् ।^१

दस्युआ वो धनिन वताया हे ।^२ य व्रत और यज्ञ से हीन कहे गए हैं—

अयव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम ।

अव स्व सखा दुषुवीत पवत मुध्नाय पवत ॥^३

मनु के अनुसार चारों वर्णों से बहिर्भूत आर्य और श्लेच्छ भाषा बोलने वाले सब दस्यु हैं —

१ ऋ० १।९६।२ २ ऋ १।११७।२ ३ ऋ १।९२।१७ ।
४ वेदप्रयासमालीचन पृ० १८२ । ५ आगे मस० ४२।५ तथा ऊपर मस० १७—१८ देखें । ६ ऋ १।५१।८ । ७ ऋ १।३३।४ ८ ऋ ८।७०।११

‘मुखवाहस्पृग्जाना या त्वाके जानमा वहि ।
स्नेच्छवाचःचार्यवाच सर्वे त दस्यव स्मृता ॥’

स्वामी दयानन्द ने ये विभाग चारों वर्णों के व्यक्तिवाद के माने हैं ।

(२) दास और आर्यः—

‘अस्त्येच्छ जिघामना वज्रमिन्द्राभिदामन ।
दासस्य वा मधवजायस्य वा मनुजवया वधम ॥’

इन वर्णों में दासा और आर्यों को सम स्तर पर रक्खा गया है । तब में पहले दास का उल्लेख है फिर आर्य का ।

(३) ब्रह्म और क्षत्रः—

‘यत्र ब्रह्म च क्षत्र च सम्यञ्ची चरत सह ।
त लोक पुण्य प्रज्ञेय यत्र देवा महाम्निना ॥’

प्रजा के ये विभाग राष्ट्र की व्यक्तिवाद का लक्षण हैं । समस्त व्यक्तिवाद इन के अन्तर्गत ही हैं । ये दोनों अगले मन्त्र के इन्द्र और वायु के अनुरूप माने जा सकते हैं ।

(४) मानुषी क्षिति और देवी विश्व

‘मत्स्य ते तविपस्य प्र जूतिमियमि वाचममृताय भूपत ।
इन्द्र क्षितिनाममि मानुषीणा विश्वा देवीनामुन पूर्वयादा ॥

१ मनु १०।४५ १ ऋभाभू० पृ० २९९—वेदरीति से इन के दो भेद हैं, एक आर्य और दूसरा दस्यु । २ ऋ १०।१०२।३ ३ य० २०।२५। य० १८। ३८-४४ और १९।५ आदि में भी ये ही दो विभाग माने गए हैं । ४ य० २०।२६—यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्ची चरत सह । त लोक प्रज्ञेय यत्र सदिन विद्यते ॥ ५ ऋ ३।३४।२

मानुषी क्षिति मानुषी विश्व ही है—'विशा वर्वि विश्पति मानुषीणाम्' ।^१ यहा 'स देवेषु वनने वार्षाणि' में देवी विश्व का निर्देश माना जा सकता है । इस वर्णन में देवी विश्व मानुषी विश्व के अन्तर्गत ही मानी जा सकती है, उस में पृथक् नहीं ।

(५) अयज्वन् और यज्वन्

'अयज्वानो यज्वभि स्पर्धमाना ।'^२

अगले मन्त्र में यज्वान को 'क्षितयो नवग्वा' कहा है ।^३ ये ऊपर वर्णित दस्यु और आर्य माने जा सकते हैं । 'स निरध्या नहुषो यद्वा अग्निर्विद्वके वलिहृत सहोभि' में इन्हें नहुष और विश्व से वर्णित किया है । सायण-भाष्य की योजना अस्वाभाविक है ।

(६) ब्राह्मण और देव

'तस्माज्जात ब्राह्मण ब्रह्म ज्यैष्ठ देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्' ।^४

अन्यत्र ब्रह्म को ब्रह्मचारिया से और देवों को अमृत से गतिमान् बताया है । सम्भवत ऋग्वेद ने 'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्ट देवेभिरत मानुषेभि' में इन विभागा को मानुष और देव कहा है ।

(७) शूद्र और अर्य

'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभाया, यदिन्द्रिये ।

यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयम्' ॥'^५

१ ऋ ५।४३। ६० ११ । ५।४।१७ में देवी प्रजा को मुख से उत्पन्न छन्द और मानुष प्रजा को प्रजनन से उत्पन्न कहा है । २ ऋ १।३३।५-३, ऋ १।३३।६ ४ ऋ ७।६।५ ५ अवे. ११।७।२३ ६ अवे. १९।१९।८- ७ वही, म० १०। ८ ऋ १९।१२५।५। आगे मस० ४२।५ की टिप्पणी भी देखें । ९ म० २०।१७.

इसमें मानवों के ये ही दो विभाग रिये गये हैं। इनमें शूद्र का उल्लेख पहले किया गया है। वर्णन की शैली में शूद्र का पूज्यत्व सुस्पष्ट है। इसमें ब्रह्म और राजन्य का उल्लेख नहीं है। इनका अन्तर्भाव शूद्र और अर्य में अभिप्रेत है। यजुर्वेद में अर्य पद आनुदात्त भी है और अन्तोदात्त भी। 'शूद्रा यदर्यजारा न पायाय घनायति' और 'शूद्रो यदर्याय जाग न पोप-मनु' मन्त्रों में 'अर्यजाग पद शूद्रा का और अर्याय जाग 'शूद्र' का विशेषण है। इन दोनों मन्त्रों में 'न' सर्वत्र ही उपमावाचक है। इस योजना से इन मन्त्रों में भी मानव जाति के शूद्र और अर्य विभागों का ही वर्णन उपलब्ध होता है।

(८) शूद्र और आर्य

'ता मे महन्नाक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाह मर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्य' ॥'
'उदप्रभ परिपाणाद् यानुधान किर्मादिनम् ।
तेनाह मर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्' ॥'
'प्रिय मा वृणु देवेषु प्रिय राजन्सु मा वृणु ।
प्रिय मर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये' ॥'

अथर्ववेद की पदानुक्रमणीकार ने यहाँ मर्वं 'उत' और 'आर्य' की सन्धि मानी है। अथर्ववेद में अर्य पद अन्तोदात्त है। अतः यहाँ 'उत' और 'अर्य' की सन्धि नहीं है। इन मन्त्रों में भी शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया है। ऋग्वेद में आर्यों का तीन प्रजाएँ बताया गया है — 'त्रय वृष्वन्ति भुवने-
षु रेतस्तित्र प्रजा आर्या ज्योतिरथा ।' प० अमिलानन्द लिखते हैं

१ य० २३।३० २ य० २३।३१ ३ अवे० ४।२०।४ ४ वही
म० ८। ५ अवे० १९।६२।१ ६ ऋ ७।३३।७

कि 'वेद में द्विजा की आर्य कहा है, शूद्रादि को नहीं।' सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही द्विज माना जाता है। यदि प्रवृत्त विभाग में 'आर्य' को इन तीनों वर्णों का शीतक मान लें, तो शूद्र चौथे वर्ण का वाचक बन जाता है। शतपथब्राह्मण में पशुओं को पूषा^१ कहा है। साथ ही पुष्टिकारक होने से पृथिवी को पूषा=शौद्रवर्ण माना है। वहाँ पशुओं को पुष्टि^२ और 'दैव्या विद्वा' कहा गया है। ऐसी स्थिति में समस्त पोषक गुण सम्पन्न प्राण, पदार्थ, भाव और स्थितियाँ पूषा=शौद्रवर्ण=शूद्र हैं। इस दृष्टि ने विचार करने पर मानवा में परोपकार, ज्ञान और सेवा आदि द्वारा पोषण करने वाले व्यक्ति हो 'शूद्र' ठहरते हैं। ऐसे व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के हो सकते हैं। निरुक्त में आर्य—का अर्थ ईश्वर पुत्र^३, अष्टाध्यायी में स्वामी और वैश्य^४ तथा निघण्टु में ईश्वर^५ दिया गया है। इस अर्थ की पुष्टि में शूद्र का अर्थ 'जो ईश्वरपुत्र नहीं है=असमृद्ध=त्यागी, सम्प्राप्ती(?)' होगा। यजुर्वेद में एक स्थल पर इस विभाग को शूद्र और ब्राह्मण बताया है—'असूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्या ।'^६

४६—कई बार मानव जाति के तीन विभाग भी किये गये हैं —

(१) देव, असुर और मनुष्य

'यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।

एवा सहस्रपोषाय कृणुत लक्ष्माश्विना' ॥^१

१ वेदत्रयीममाश्लेषन, पृ० २१७ २ श० ३।१।४।९ ३ वही.
४ श० ३।७।३।९। ५ नि० ६ पा० ३।१।१०३ ७ निघ २।२२।२
८ य० ३०।२२। यहा यह पदावली दो बार प्रयुक्त हुई है। पहली बार अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिस्थूल, अतिकृश, अतिशुक्ल, अतिकृष्ण, अतिबुल्व और अतिलोमश का और दूसरी बार मागध, पुस्चली, वित्तव और कर्लीव को असूद्र और अब्राह्मण में विभक्त किया है। ९ अवे० ६।१४१।३

यहा पर देवा' अश्विना का विरापण है । यदि इसे मानव जाति से भिन्न माना जाये तो यहा दस्यु और आर्य के समान दा ही विभाग रह जायेंगे ।

(२) ऋभु, असुर और ऋषि

या मधामृभवो विदुर्या मेधामगुरा विदु ।
ऋपयो भद्रा मेधा या विदुन्ता मय्या वेदायाममि ॥'

इन तीनों विभागों को एक समान भाव से वर्णित किया गया है ।

(३) ब्रह्म, सोम, राधस्

य सुवन्तमवति य पचन्त य दसन्त य शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वधन यस्य सामो यस्यद राध स जनाम इद्र ॥'

इस के पूर्वाद्ध में चार विभाग किय गये हैं उन की दृष्टि में उत्तराद्ध में तीन विभाग माने जा सकते हैं ।

(४) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य

ब्राह्मण एव पतिन राजन्यो न वैश्य ।
तस्मूय प्रब्रुवन्ति पचम्यो मानवेभ्य ॥'

यहाँ पर समस्त मानव जाति को पच मानव कह कर उस के तीन ही विभाग किये हैं । इन में शूद्र का वर्णन नहीं है । उन का अन्तर्भाव इन्हीं तीन में अभिप्रेत है ।

(५) देव, मनुष्य, राजन्य

पुनर्वे देवा अददु पुनर्मनुष्या अददु ।
राजान सत्य गृह्णन्ता ब्रह्मजाया पुनददु ॥'

१ अवे० ६।१०।३ २ ऋ २।१२।१४ ३ अवे० ५।१७।९
४ अवे० ५।१७।१०।

इसमें देव और मनुष्य को पूर्ववर्णित विभाग के ब्राह्मण और वैश्य कहा जा सकता है। वहाँ राजय और वैश्य को ब्रह्मजाया का पति नहीं माना है यहाँ उन्हें ब्रह्मजाया से सम्पन्न मान कर उस का दाता वर्णित किया है। इस प्रकरण में ब्राह्मणपद परमेश्वर के वाचक ब्राह्मणपद^१ से भिन्न है।

४३—अथ चार विभागों का उल्लेख है —

(१) सुवत्, पचत्, शसत् और शशमान

य सुवन्तमवति य पचन्त य शसन्त य शशमानमूती ।^२

सुवत्—यज्ञनिष्पादक वैश्य है, पचत्—गुष्टिकर्त्ता शूद्र है। शसत्—
स्त्रोता ब्राह्मण है और शशमान को क्षत्रिय^३ कहा जा सकता है।

(२) उग्र, ब्रह्मन्, ऋषि और सुमेधा

य य कामये त तमुग्र कृणोमि त ब्रह्मण तमुषि त सुमेधाम् ।^४
स्वभाव के कारण उग्र क्षत्रिय है^५ ब्रह्मन् ब्राह्मण है। शतपथ ब्राह्मण^६ में तप के कारण ऋषि को ऋषि माना है। ऋग्वेद में भी ऋषियों को तपस्वी कहा है—पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे वै निपेदु ।^७ अग्नि तप से उग्र होती है ।^८ ब्रह्मचारी भी तप करता है ।^९ यजुर्वेद में शूद्र को^{१०} और कौलान को^{११} तप से सम्बद्ध किया है। अतः ऋषि को शूद्र का घोटक

१ अवे० १०।८।३७-३८। २ ऋ २।१२।१४। ३ भागे म० २०।५ की टिप्पणी देखें। ४ ऋ १०।१२।५। ४अ उग्र रुद्र का एक रूप है। म० ६।१।३।१८ रुद्र घोर है—कौ० १६।७। ५ श० ६।१।१।१। ६ ऋ १०।१०९।४। ७ ऋ १०।१०९।१ पर साभा० देखें। ८ अवे० ११।३।१। ९ य० ३०।५। १० वही म० ७।

माना जा सकता है। योगदर्शन म तप का क्रियायाग^१, नियम^२ और अगुद्विया को क्षा^३ कर के कायन्द्रिय का गुद्व वर्गन वाला^४ कहा है। तप मुमेरा वर्णों के नामा म वैश्य का छातक हा जाना है।

(३) रघ्न, कृश, नाधमान ब्रह्मन् कीरि और युवतग्रावन् सुतसोम

या रघ्नस्य चादिना य कृशस्य या ब्रह्मणा नाधमानस्य कारे ।

युक्तग्राणा याज्विता मुनिप्र भुतनामस्य स जनास इद्र ॥^५

आगे मन्त्र १२ में की गइ व्याख्या के अनुसार य पद रमश क्षत्रिय गूद्र, ब्राह्मण और वैश्य के छातक मान जा सकते हैं।

(४) ब्रह्म और राजन्य; शूद्र और आर्य

प्रिय मा दभ कृणु ब्रह्मराज्याभ्या शूद्रायचायाय च ।

यस्मै च कामयामहे सवस्मै च विपश्यत' ॥^६

यहाँ पर शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है। अथर्ववेद म अय' पद अन्तोदात्त है और आय पद आद्युदात्त। मन्त्र में चार्याय म र्या पर स्वरित है। अत चायाय में च और आयाय की सन्धि है। आर्य पद सामान्यत आर्यजाति का और पहल लिखे वर्णन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य का छातक माना जाता है। ऐसी स्थिति म यहा दो विभागा १ ब्रह्म और राजन्य तथा २ शूद्र और आय का ईर्दटा वर्णित किया है। यदि ऐसा मान ठे तो य पद वर्णों के छातक न रह कर कम या शक्ति विभाषा के छातक बन जायेंगे।

१ यागदर्शन २।१। २ वही २।३२। ३ वही २।४३।

४ ऋ २।१२।६। ५ अवे० १९।३२।८।

(५) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र

‘ब्राह्मणोऽप्य मुत्तमागोद् बाहू राजन्य वृत् ।

ऊरु तदस्य यदस्य पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥’^अ

यह मन्त्र यजुर्वेद और अपववेद में भी आया है । चारों वर्णों का इस मन्त्र से उल्लेख केवल इसी मन्त्र में मिलता है । पीछे के काल में चानुर्वर्ण्य के लिए इसी मन्त्र का आधार बनाया गया है ।

४८—याच जना—वृष्टिया—चर्पणिया का बहुधा वर्णन पाया जाता है । यथा ‘अञ्जन्ति सुप्रयन पञ्च जना’,^१ ‘य पञ्च चर्पणीरभि निप-साद दमे दमे ।’^२ स्तोत्रा पञ्चवृष्टि के अन्तर्गत हैं—‘अस्माकं धुम्न-मधि पञ्च वृष्टिषु ।’^३ प्रार्वतायें पाँचों वृष्टियों के लिए की गयी हैं—‘यद् वा पञ्च क्षितीना धुम्नमाभर ।’^४ यहाँ पर उन में पारस्परिक भेद नहीं है । ये पञ्च जन बौन हैं, इस पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है । ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्हें यदु, तुवंग, दुह्यु, अनु, पुर कहा है—‘यदि-न्नाग्नी यदुषु तुवंगेषु यद् द्रुह्युध्वनुषु पुरेषु स्थ ।’^५ ऐतरेय ब्राह्मण^६ में ये देव, मनुष्य, गन्धर्वाप्सरसू, सर्प और पितृ, निष्कृत में^७ गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, औपमन्यव के^८ मत में चारा वर्ण और निपाद और प० अतिलानन्द^९ के विचार में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और यज-मान हैं । इनका परिगणन कुछ भी किया जाये वेद मन्त्रों में इन में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है ।

४९—यजुर्वेद में छे विभागा वा भी उल्लेख है —

५ अ ऋ १०।९०।१२। १ ऋ ६।११।४। २ ऋ ७।१५।२।
३ ऋ २।२।१०। ४ ऋ ६।४६।७। ५ ऋ १।१०।८।८। ६ ऐ०
३।३।१। ७ नि० ३।७। ८ वही। ९ वेदनीयसमालोचन, पृ० २०५।

ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अर्य (या आर्य ?), स्व और अरण

‘यथेमा वाच कन्याणीमावदानि जनेभ्य ।

ब्रह्मराजन्याभ्या नूद्रायचाययि च स्वाय चाग्णाय ।

प्रिया देवाना दधिणार्य दानुग्निह भूयासमय म काम ममृध्यनामुप

मादो नमनु ॥”

यदि ऊपर लिखे विभागा पर मामूहिक रूप से दृष्टि डाली जाये तो यह पत्र मानव जाति के तीन दृष्टिया से द्वा-त्रि विभाग स्पष्ट ज्ञान हो जायेगे—१ ब्रह्मन् और राजन्य २ शूद्र और अर्य (या आर्य) ३ स्व और अरण (अग्ने और पराये) ।

५०—वेदमन्त्रा में उपलब्ध मानव जाति के कनिष्ठ विभागा का निर्देश किया जा चुका है । शूद्रा की स्थिति के निर्णय में अधादत्त बातें विचारणीय हैं ।

(१) वेद में मानव जाति के एक या अनेक विभाग विभिन्न दृष्टिया से किये गये हैं । मजुर्वेद के नीचे दिए गए मन्त्रा में इस प्रकार की कुछ दृष्टिया का आभास मिलता है —

‘एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरामीत् ।

तिमृभिरस्तुवत ब्रह्मामृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरामीत् ।

पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यमृज्यन्त भूताना पतिरधिपतिरामीत् ।

सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽमृज्यन्त धाताधिपतिरामीत् ॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽमृज्यन्तादितिरधिपत्यामीत् ।

एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽमृज्यन्तात्तंवा अधिपनय आमन् ।

त्रयोदशभिरस्तुवत मासा अमृज्यन्त मवत्सरोऽधिपतिरामीन् ।

पञ्चदशभिरस्तुवत सत्रममृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरामीत् ।

मण्डपमिस्तुन्न ग्राम्या पशवोऽमृज्यन्त वृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥
 नवदशमिस्तुवत शूद्रार्थमृज्येतामहोरात्रे अधिपती आस्ताम् ।
 एरवि^१, शत्यास्तुवतेशपा पशवोऽमृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् ।
 त्रयावि^२, शत्यास्तुवत क्षुद्रा पशवोऽमृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।
 पञ्चवि^३, शत्यास्तुवताऽऽरण्या पशवोऽमृज्यन्त धायुरधिपतिरासीत् ।
 सप्तवि^४, शत्यास्तुवत छावापृथिवी र्यता वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्या-
 येस्त एवाधिपतय आसन् ॥
 नववि^५, शत्यास्तुवत वनस्पतयोऽमृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।
 एकनि^६, शतान्तुवत प्रजा जमृज्यन्त यथाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् ।
 त्रयस्त्रि^७, शतान्तुवत मृतान्यमाम्यन् प्रजापति परमेष्ठ्यधिपति-
 रासीन् ॥^{११}

इस वर्णन में ब्रह्म, ऋषि और क्षत्र की उत्पत्ति पूयक्-मृयक् बतायी है, परन्तु शूद्र और आर्य (अर्य) की एक साथ ।

(२) उपरान्त वर्णना में ममस्त विभागों को एक स्तर पर रखता गया है, केवल दस्युओं को हिमक बना कर उन्हें हीन माना गया है ।

(३) शूद्र का आर्य से पहले वर्णित किया गया है ।

(४) ऊपर दी गई व्याख्या के अनुसार ऋषि और शूद्र पद को समानार्थक माना जा सकता है । वैदिक साहित्य में ऋषि की स्थिति सुविदित है ।

(५) वेदमन्त्रों में चारों वर्णों का युगपत् आधुनिक क्रम से वर्णन

.१ य० १४।२८-३१ । इन में मन्त्र ३० में 'शूद्रार्थो' में 'राज-
 दन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) से शूद्र का पूर्वनिपात माना गया है ।
 परन्तु राजदन्तादिगण में 'शूद्रार्थम्' पाठ है, 'शूद्रार्थो' नहीं है । अपि च ।
 वेद मन्त्रों में अधिकांश स्थानों पर समाप्त के अभाव में शूद्र और आर्य का
 क्रम ही मिलता है । अतः यहाँ राजदन्तादि सूत्र लगाना अनावश्यक है ।

केवल एक मन्त्र' में पाया जाता है। आगे मम० ३३ की व्याख्या के अनुसार ये ब्राह्मण आदि पद पुरुष के नाम मान जा सकते हैं।

(६) अथर्ववेद के गृद्रकृता गजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभि कृता । जाया पत्या नुत्तेव कर्तार वध्वृच्छन्तु ॥^१ में गृद्रकृता का सबप्रथम वर्णन साभि-प्राय है। इसमें शत्रु गजन् और ब्रह्मन् का ही निर्देश है वैश्य का नहीं।

(७) तैत्तिरीय ब्राह्मण में वैश्या का ऋचाआम धना का यजपा से और ब्राह्मणा को मामना स उत्पन्न बताया गया है। साथ ही सब कुछ का ऋचाआम से उत्पन्न बताया है।^२ साय अथर्ववेद और गृद्र रह जात है। इन दोनों का सम्बन्ध अनुमानगम्य है।

(८) गतपथ ब्राह्मण में यज्ञ में उत्पन्न को ब्राह्मण कहा है। इसी लिए कहा दीक्षित राज्य और वैश्य को ब्राह्मण माना है।^३

(९) गतपथ ब्राह्मण में वर्णों की उत्पत्ति का क्रम विश्व शूद्र क्षत्र दिया है। पहले ब्रह्म (ब्राह्मण) ही था। उसमें शेष वर्णों की उत्पत्ति हुई। यहाँ पर चारों वर्णों का एक स्तर का माना है। यहाँ पूषा को शूद्र कहा है और पृथिवी का पूषा।^४ ब्राह्मणा में अनेक पदों के अर्थ एक ही साय ब्रह्म क्षत्र विश्व और पृथिवी (शूद्र भी ?) दिये गये हैं।

(१०) ऐतरेय ब्राह्मण में^५ सोम को ब्राह्मणा का दधि को वैश्या का और अपम् को शूद्रा का भक्ष बताया है। जल कल्याण और मित्रि के प्रतीक हैं। तु क—'दानो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। गयारभि सवन्तु न ॥'^६ एक स्थान पर इन्हें गतिशील करने वाला भी कहा है।^७

१ ऋ १०।९०।१२। २ अवे० १०।१।३ ३ तै० ३।१२।९।१-४।
४ श० ३।२।१।४०। ५ श० १४।४।२।२४-२७। ६ वैको० में वाक
गौ आदि पद देखें। ७ ऐ० ७।२९। ८ य० ३६।१२। य० ११।५०-५१
भी देखें। ९ य० ११।५२। पाठ० मेंपू० २७ पर २३ (11-v) देखें।

(११) ऊपर दामा को आयों का समकक्ष बताया है। यथावा नयति दासमाय^१ में यथावगम् का अर्थ वगमिव करने पर इन्द्र दामा का ननृत्व करता है भाव निवृत्ता है। ऋग्वेद में दास नमुचि पत्^२ एव शास्वतिकदृश्य का द्योतक है दासा व नीचत्व का द्योतक नहीं है।

(१२) अथवद के गूद्रामिच्छ प्रपञ्च्यम^३ में गूद्रा पद किसी स्थान विनाप का नाम प्रतीत होता है जातिविशेष का नाम नहीं है क्योंकि इस का प्रयोग मृजवत और बाल्हीकान के साथ हुआ है।

(१३) ऋग्वेद के पुनरुक्त अंग में वर्ण गूत्रम^४ के लिए आय वणम^५ का प्रयोग हुआ है। वधन दस्युप्र हि चातयस्व वय कृष्वान स्तव स्वापै^६ की पुष्टि में आय वणम का अर्थ आराम्य और स्वास्थ्य भा समचा जा सकता है।

(१४) छांदोग्य उपनिषद् में^७ श्रद्धादेय बहुदायी बहुपात्र्य और आवभय निमापक जानश्रुति पीत्रायण का गूद्र कहा गया है। स्वामी गकराचाय का समाधान सन्तोषजनक नहीं। वहा पर श्रुष्ठ और विद्या के लिए इच्छा प्रकट करने के कारण ही राजा को गूद्र कहा गया है।

(१५) महाभाष्यकार के लक्षानुसार^८ तप करने से विश्वामित्र ऋषि हो गये। उन के तप से ही उन के पिता और पितामह भी ऋषि हो गये। पुन या पीत्र के तप से पिता या दादा का ऋषि मन्त्रायद्रष्टा होना बुद्धिगम्य नहा ऋषि-श्रुष्ठ-गूद्र होना बुद्धिगम्य है।

(१६) यजुर्वेद के पुरुषमेत में अपन-अपन कर्मों के अनुरूप ही मनुष्यों

१ ऋ ५।३।४। २ ऋ ५।३।७-८। ३ अवे० ५।२।७
 ४ ऋ ३।३।५ ५ ऋ ३।३।९। ६ ऋ ५।४।६। ७ छा
 उ० ४।२।३ ५। ८ वेदश्रुतिसमालोचन प० २२७ पर पा० ४।१।
 १०४—अनुप्यानन्तयै विदादिभ्योऽञ् पर पतञ्जलि भनि का लक्ष देखें।

को विभिन्न गुणा और शक्तिया आदि में सम्बद्ध किया गया है। वह ब्राह्मण को ब्रह्म में राजन्य को क्षत्र में वैश्य का मन्त्रों में और गृह तथा कौशल का तप से सम्बद्ध किया है।^१ मनु ने समस्त वर्णों का तप पथक-पथक बताया है। उस में गृह का तप गवा बताया है। पूर्वोक्त वैदिक वर्णना से हम की पुष्टि नहीं हानी है। अतः गृह का तप से मन्त्रों के कारण 'पदभया दूरा अजायत' में पदभयाम का अर्थ तप धर्म करना यकिन मगत मालूम पड़ता है। तपस्य ब्राह्मण ने पाद का प्रतिष्ठा कहा भी है। पडविग ब्राह्मण ने पादों का अनुष्टुप कहा है। अनुस्ताभन मित्र की पत्नी गायत्रा वाक ज्यैष्ठ्य पृथिवी प्रजापति राजय अथ आप सत्यानृत आदि का अनुष्टुप कहा गया है। पृथिवी शूद्रवर्ण है क्या कि वह पूषा है।^२ अतः पदभयाम पापक भाव का भी द्योतक माना जा सकता है।

(१७) शतपथ ब्राह्मण में तप का गृह कहा है—तपा वै शूद्र ।

(१८) ऋग्वेद में अग्नि और विप्र दवा को द्विजमा या द्विज कहा है ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का नहीं।

(१९) मनु ने द्विजा के तीन जन्म माने हैं—माना में उपनयन में

१ मं० ३०।५ अ २ मनु ११।२३। ३ ज० १०।९०।१२। आगे मं० ३३।४ की टिप्पणी भी देख। ४ ग० १३।८।२। ५ पर्वणि ब्राह्मण २।३। ६ देखो वैका० प० २१-२६। ७ श० १४।४।२।२५। ८ श० १३।६।२।१० ९ देखो ऋ १।६०।९ १४०।२ १६९।४-५ ६।५०।२, १०।६१।१९। यहां पर मा० न द्विजा का पूरक मान कर विप्र अर्थ किया है। सायणीय याजना में भी वर्णभाव नहीं आता। ऋ ३।२७।८ में विप्र का यज्ञ का साधन और ऋ ८।६।२८ में घी (कम बुद्धि) से उत्पन्न बताया है। ऋषि भी विप्र है। अतः इस अर्थ में द्विजपद मानव मात्र का द्योतक है।

और यज्ञदीक्षा से ।^१ यत्तपय ब्राह्मण ने प्रत्येक यज्ञ में दीक्षित पुरुष को ब्राह्मण कहा है ।^२ महाभारत के अनुसार द्रुपद भी यज्ञ में दीक्षा लेने हैं और यज्ञमग्नौ पर 'पूर्ण यज्ञ' नामक दक्षिणा देते हैं ।^३

(२०) ज्यानिष शास्त्र में द्रुद्रा का स्वामी बुध बताया गया है—
विप्रादिन शुक्रगुरु बुधजरों यतो धृषश्चेत्यमितोऽन्त्यजानाम् ।^४ वहाँ बुध का शिष्टवाक् हाम्य में शचि रश्मिवाला और विद्वान् बनाया है—
'शिष्टवाक् मनतहास्यरचिर्जं ।'^५

(२१) ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के ऋषि वक्त्र ऐलूप को दागीपुत्र विनव और आचारधृष्ट माना जाता है ।^६ वक्त्र को ऋग्वेद में आपम् से सम्बन्धित और इन्द्र से रक्षित बताया है ।^७ हम के एक सूक्त^८ का देवता 'आप और एक सूक्त' का इन्द्र है । दो सूक्तों^९ के देवता विश्वेश्वर, इन्द्र आदि हैं । शिष्ट सूक्तों^{१०} के ग्याह्वे मन्त्र में 'वृषल' का प्रयोग है । सम्भवत इम वर्णन को ऋषि की आपसीती मान कर ऐतरेय ब्राह्मण की यथा मद्र ली गयी । यहाँ पर वृषल पद द्वयर्थन प्रतीत होता है—धर्म का धारक (—वृष धर्मं लाति गृह्णाति धारयतीति वा) होना हुआ भी आचारमे धर्म का नाशक (—वृष धर्मं लुनाति ऽतिति) । अन वक्त्र अपने जन्म के कारण नीच नहीं था, प्रत्युत अपने श्रेष्ठ्य के कारण

१ मनु० २।१६९। २ ष० ३।२।१।४०। ३ डॉ० अम्बेदकर द्वारा श्री राय के बलकृष्णस्वरण के महाभारत भान्ति पर्व, अध्याय ६० में उद्धृत द्रुपद ३८-४० और उन पर डॉ० अम्बेदकर का लेख—हूवर की मूद्राज, पृ० १२१। ४ बृहज्जातक २-७। ५ वही। ६ ऋ १०।३०-३४। ७ एनद्रिषवर्ग नामग्री आचार्य निवपूजन सिंह कुशवाहा ने वैदिक धर्म, गिनम्बर १९५७ के अंश में 'उपनयन (यज्ञोपवीत) गम्वार विमर्ग' में एकत्रित की है। ८ ऋ ७।१८।१२। ९ ऋ १०।३०। १० ऋ १०।३०। ११ ऋ १०।३१ ३३। १२ ऋ १०।३४।

और उपरोक्त मन्त्र में वृषल पद को प्रयुक्त करने के कारण 'वृषल' कहलाया होगा। कशीवान् आदि ऋषिया की स्थिति पर इस दृष्टि से पुन विचार की आवश्यकता है। वैसे भी मन्त्रा में सम्बद्ध ऋषि उन के रचयिता नहीं हैं। व उन के अथा के चोतन पद हैं। तत्सम्बन्धी आशयान आल-कारिक मात्र हैं।^{१ अ}

(२२) श्री मोनियर विलियम्स ने अपने 'वाप' में लिखा है कि बौद्ध-साहित्य में शूद्र पद ब्राह्मण का नाम है। यह नाम ईप्यावर भी प्राप्त हो सकता है और प्राचीन स्थितिया का अवशेष भी। वीरचरित' में शूद्रिन एक पुरुष का नाम है। हरिवंश में शूद्रा रौद्राश्व की पुत्री का नाम है।

(२३) मनु न शूद्रा का धर्म का विवचक बताया है —

यस्य शूद्रस्तु कुरुन राजा धर्मविवचनम् ।

तरय मोर्दानि तद्राष्ट्रं पक्क गाग्धि पश्यन् ॥

बहुभुत और सदाचारी व्यक्ति का ही धर्मविवचन का अधिकार प्राप्त होता है। तु क कुरुल्लव का व्याख्यान—धार्मिकोंअपि व्यवहारशोअपि शूद्र ।^{१ अ}

(२४) मनुस्मृति में जान होता है कि उस न काल में शूद्र राजा भी होते थे। वहाँ पर नृपतिमान का धर्मिय कहा है।^१ अतः शूद्र राजा धर्मिय ही रहे हाने।

१२ अ—देखा सुधीर कुमार गुप्त सीयस ऑफ दी क्वेवद दजर मसेज एण्ड फिलोसोफी, ऋक्सूक्ता की भूमिका, मदम ३०-४५ भी देखे।
१ विको० पृ० १०८५, वालम ३। २ वही। ३ मनु० ८।२१, श्लोक २० भी देखें। २अ वही, श्लोक २०। ४ मनु० १०।१०

(२५) कर्मापवरणा गद्रा कारव गिल्पिनस्तथा^१ कह कर मनु स्मृति न गद्र आदि का करमुक्त किया है। वद म कार और तथा अग्नि गिल्पिया का अग्नि सम्मान है। वदु तथा वहा एक रुपि है रुभव और न्वप्या दवता ह। अत इन का उन की थपठना कलाकौगल और यनमय जावन के लिए करा स मुवन किया गया हागा।

(२६) कभा कभा ब्राह्मण भी गूद्रा का सेवा करत थ। परन्तु उह इम सेवा क कारण पतित माना जाता था।^१ आपत्काल म वश्य भा गूद्रवृत्ति कर सकता था।

(२७) गूद्र का हया करन पर मनुस्मृति न प्रायश्चित्त का विधान किया है।

(२८) अमरबाध म आभारी का महागूद्रा कहा है।^१ मन क मत म ब्राह्मण स अम्बष्ठ क्या म उत्पन्न स्त्रा आभारा हाता ह।^१ बीज का प्रमानता के कारण आभारा ब्राह्मण हा है। उम महागूद्री कहना प्राचान इतिहास का अवगप है।

(२९) अग्निस्मृति म विप्रा क दस प्रकार बनाथ ह जिन में गूद्र विप्र भा ह —

दवा मुनिद्विजा राजा वय गद्रा निपादक ।

पगुम्पच्छग्रपि चाण्ण्य दगविधा स्मता ॥

इम म बदिव और पाछ क काल के मानव जानि क भागा का एकत्र कर दिया गया है।

१ मन० १०।१२०। २ दवा रुपिया और त्रेवताशा की अनुक्रमणिका। ३ मनु० २।६९। ४ मनु० १०।९८। ५ मनु० ११।१३० १२१ १४०। ६ अका० २।६।१२। ७ मनु० १०।१५। ८ स्मृति मदम भाग १ प० २८६।

(३०) डा अम्बेदकर ने लिखा है कि महाभारत के हस्तलेखा में से छै में पैजवन मुदास को 'गुद्र', एव में गुद्र के स्थान पर शुद्ध 'बहा' गया है। दो में 'शूद्र-गुद्र' के स्थान पर 'पुरा' का पाठ है। 'गुद्र' के स्थान पर 'गुद्ध' का प्रयोग इन दोनों का समानार्थक बता रहा है।^{१अ} पुराणा में और ऐतिहासिकों की दृष्टि में ऋग्वेद में पैजवन मुदास क्षत्रिय है। अन क्षत्रिय गुद्ध-शूद्र मिश्र होने हैं।

(३१) यजुर्वेद में ब्राह्मण आदि के साथ शूद्रा में भी रथ के आधान की प्रार्थना की गयी है।^{१आ}

(३२) मर एम मानियर विलियम्स के काप में संगृहीत शूद्रविषयक अनादत्त पदों में गूड इतिहास लक्षित होता है—शूद्रप्रिय (प्याज), शूद्रभिक्षित (शूद्र से प्राप्त भिक्षा) शूद्रयात्रक, शूद्रप्राचक्षित, शूद्रशामन, शूद्रमस्कार और शूद्राभू। उन्होने शूद्रा में सम्बन्धित अनादत्त १९ पुस्तकों का भी नाम दिया है। इन के अध्ययन में भी शूद्रा की स्थिति पर प्रकाश मिलने की सम्भावना है — १ शूद्रकमलाकर २ शूद्रकुलदीपक ३ शूद्रकृत्य ४ शूद्रविचारण ५ शूद्रविचारणतत्त्व ६ शूद्रविचारतत्त्व ७ शूद्रजपविधान ८ शूद्रतत्त्व ९ शूद्रवाधिनी १० शूद्रपञ्चमस्कारविधि ११ शूद्रपद्धति १२ शूद्रविवेक १३ शूद्रस्मृति १४ शूद्रचिन्तामणि १५ शूद्रशिरोमणि १६ शूद्राह्निक १७ शूद्राह्निकाधार तत्त्व १८ शूद्रोत्पत्ति १९ शूद्राद्यान।^१ इन में से कुछ तो आपातत ही नितान्त अर्वाचीन प्रतीत होती हैं। शूद्रप्रेष्य—शूद्र के सेवक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से भी शूद्रा के सर्वोपरि भाव का परिचय मिलता है।

१ डा अम्बेदकर, हूवर दी शूद्राज, पृ० १२१। १अ इस प्रकार अर्थ-ग्रहण की सैली को विद्वाना न जनेक बार ग्रहण किया है। वैदिक रीडर में ऋ १।१५।३ पर मै० की टिप्पणियाँ देखें। वेभाप० ४ भी देखें। १आ य० १।८।४८। २ विको० पृ० १०८५। ३ वही।

(२३) मनु ने गद्गराज म निवास का निषेध किया है।^१ गूद्र राज्ज गद्गा की दलिततावस्था में वत्पनातीत ह। वह तभा सम्भव है जव वे शक्तिशाली सुमगठित हा और क्षत्रिया का श्रणा म आयें। ब्राह्मणा का उन स द्वय उन के ब्राह्मणा क समान ज्ञानवान् आर सम्मानित हान स हा सकता है। आधुनिक युग म भी कहा कहा एसी परिस्थिति देखी जाता है। यथा डा० मगड दब गार्सी के बनारस मस्सृत कालिज का प्रिंसिपल बनाए जान पर कतिपय ब्राह्मणा न उन के विरुद्ध जान्दालन किया था। दक्षिण म भा ब्राह्मणा और अब्राह्मणा का मध्य बहुधा सुनन में जाता रहा ह। परतन्त्रता क काल म कतिपय अनदार ब्राह्मण अब्राह्मणा का मस्सृत पद्दान म मकाच करन थ। हरिजनता गद्गा का बद पद्दान के लिए ता मन्वत आज ना कम ब्राह्मण तयार हण। गद्गभूषिष्ठ राज्य क नाग का अवयम्भाविता के मूल म भा यहा भाव ग्णित हाता है। तभवत गद्गा की सन्निधि म अध्ययन के निषेध म निग्रह का भय और अपन ज्ञान का गद्गा में गुप्त रखन की भावना लभित हाती ह। मनुस्मृति के गूद्रा म दान न लन उन का न पद्दान और यन न करान जाग के विधान भा गद्गा के उक्थ क परिचायक ह।

(२४) कश्यपमहिता म कश्यप न राख वणा का आपुर्वेद पन्न का अधिकार दिया है—ब्राह्मण अधपरिगान पुण्य आर परापकार क लिए क्षत्रिय प्रजाभा की रक्षा के लिए बैश्यवर्ति क लिए आर गूद्र सेवा क लिए आपुर्वेद पन्। आपुर्वेद पन्न लन पर बैद्य का तीमरा जाति भिषक हा जाना है और वह त्रिज हा पाता है।^२ गद्गा की त्रिज सज्ञा तत्र ही साथक

१ मनु० ४।६१। २ मनु० ८।२२। ३ कहा ४।९९। ४ मस्ता रत्रिधि विमग ५० ८८। त्रिज क स्थान पर द्विज पाठ पीछ का हा माना जा सकता ह। यह किना एसे व्यक्ति द्वारा किया गया हागा ता गद्गा क त्रिजव का ममजन म अनमय रहा अववा उस यह स्थिति रचिवर भरी जी।

हा सकती है जब उन्हें द्विज माना जाए । द्विज म ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का हा ग्रहण होता है गूढ़ा का नहीं । उन को द्विज मानने पर उन को इन तीन वर्णों का मानना आवश्यक हो जायगा ।

(३५) आ गौरिग गूढ़ा को आर्येतर जानि मानने ह जो आर्यों के तीनों वर्णों के भाय परस्परिक विवाह आदि सम्बन्ध के द्वारा इनके अधिक आय हो गये ह कि उन में से कुछ जानिया तो वास्तव में ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हैं ।

(३६) नैतिगीय ब्राह्मण म ब्राह्मणा को दबा मे और गूढ़ा का जमुरा और अमल मे उत्पन्न बनाया है ।

(३७) ऋग्वेद के एक वर्णन म एक ही वर्ण म विभिन्न व्यवसायों के व्यक्तियों का वर्णन है —

कानरह नतो भिषगपञ्चप्रक्षिणी नना ।

नानाश्रियो वस्यवाञ्छ गा इव तस्थिमेद्राग्रन्दो परि भव ॥

कारु-स्तोत्रा-ब्राह्मण भिषक-उत्थय वैद्य-वस्य और उपलप्रक्षिणा-गर्भ (?) हो सकते हैं ।

(३८) गूढ़पद की व्युत्पत्तिया इस प्रकार ह —

(१) √ गू रक स—गूठ गानन भी० । गायन इति गूढ वर्णान्त ।^१ कत्ता ।

(२) √ गुच से—गोचयतीति गूढ । मेवको वा ।

१ डा अम्बदकरद्वारा हूवर दी गूढाञ्ज उपोद्धान ५० पर गौरिग हिंदू टाइम्स एण्ड वास्टम भाग १ मूमिका प० १११ म उद्धृत ।
२ वही प० २७ । तथा तै० १।२।६।७ और ३।२।३।९। ३ ऋ ९। ११२।३। ४ सकाप वर्ण इति पाठ । ५ दपाउ० ८।३४। ६ पपाउ० (दस०) २।१९ ।

(३) इसे स्वयति गच्छति वधन मे भी लिया जा सकता है । ऋग्वेद के महिमा गूढनस्य^१ और यजुर्वेद के गूवार (=क्षिप्रकारी) और गूढन (=क्षिप्रवृत्त)^२ में भी यही भाव है । यद्यपि महा शूद्र पद का वाई आभास नहीं मिलता तो भी अय और रूप में गूढ की शक्त से समानता के आधार पर गूढ को शूद्र का रूप माना जा सकता है ।

(३९) व्याकरण में गूढीपद गूढपत्नी का और गूढापद गूढजाति की स्त्री का द्योतक है । हो सकता है आचाया पद के समान यह पद उस काल में शूद्रगुणयुक्त पापक परापकारपरायण स्त्री को कहता हो ।

(४०) वृषल पद शूद्र का ही वाचक नहीं है घोडा और गजरा का भी द्योतक है और वषली पद केवल शूद्रा या गूढी का द्योतक नहीं प्रत्युत अविवाहित रजस्वला कया रजस्वला वास भतसत्तान उत्पन्न करन वाग स्त्री भी वृषली है । एमी कया और स्त्रिया सभी वर्गों में होती है गूढा में ही नहीं ।^३ मौर्यों को बौद्ध साहित्य में धनिय कहा है परन्तु पुराणा आदि हिन्दू साहित्य में वषल और गूढ ।^४ अ य पद उन के श्रष्टत्व के कारण उन्हें मिले हाग जिन का कालान्तर में आधुनिक अर्थों में समता जान गता ।

(४१) लोक में महतर (=महत-तर) और चूहटा (चतुधुरीण-चौधड-चौहड) पद भी इन के प्राचीन काल में उच्च स्तर के द्योतक है ।

(४२) ऋग्वेद में विशा में ऋषि को सबश्रष्ट माना है —

ब्रह्मा देवाना पदवी कवीनाम ऋषिर्विप्राणा महिषो मगाणाम ।

१ ऋ १।१६२।१७। २ य० २२।८ २५।४० । ३ अब० और अय कोष में इन पदा के अय देखें । ३ अ देखा डा० हमचन्द्र राय चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंगियराष्ट इण्डिया चतुर्थ मस्करण (१९३८), पृ० २०४-२९६ ।

श्येनो गृध्राणा स्वधितिर्वनाना माम पवित्रमत्येति रेभन् ॥^१
मानवमान विप्र है और ऋषि शूद्र ।

(४३) वसिष्ठ धर्मसूत्र के मत में ऋचाआ के ज्ञान से हीन व्यक्ति शूद्रा का स्वामी नहीं हो सकता है ।^२

५९—उपरोक्त विवेचन से ये परिणाम निकलने हैं —

(१) आरम्भ में आधुनिक रूप में वर्ण-व्यवस्था की कोई कल्पना नहीं थी ।

(२) वैदिक काल में गुण और कम का प्राधान्य था । जैसा गुण और कम जिस व्यक्ति में देखा वैसा ही उस का नाम हो जाता था ।

(३) समाज में परापकार ज्ञान धर्म तप गतिशीलता आदि गुणा को बहुत महत्व दिया गया था । इन गुणा से युक्त व्यक्ति को ऋषि और शूद्र कहते थे । ऋषि सब में श्रेष्ठ थे । अतः शूद्र सब में श्रेष्ठ थे । ऋषि सब वर्णों में निकलने थे । इस लिए उन का—गूद्रा का पृथक् वर्ण नहीं था ।

(४) इसी कारण शूद्रा का पृथक् यज्ञोपवीत संस्कार नहीं बताया गया है । जिस प्रकार त्रयी में चारों वेदों का अवकाश होना है उसी प्रकार द्विज, आर्य और तीनों वर्णों के कथन में शूद्र वर्ण का भी अन्तर्भाव हो जाता है ।

(५) कालांतर में ब्राह्मणों का और क्षत्रियों के शूद्रों का संघर्ष बढ़ा जिस में ब्राह्मण अपनी एकता और समाज में बौद्धिक कार्य के सम्पादन होने के कारण विजयी हुए और अन्य वर्णों के शूद्र पददर्शित हुए । जहाँ वही मिल सके वहाँ उन की शोचपरम्परा इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने वाली होगी ।

अथ

पारस्करगृह्यसूत्रे

उपनयनसूत्राणि

(द्वितीयपाण्डे ऋण्डमाः ३—७)



१-अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा ॥१॥

२-एकादशवर्षं राजन्यम् ॥२॥

३-द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥३॥

४-पयामङ्गलं वा मर्नेषाम् ॥४॥

पारस्करगृह्यसूत्र के उपनयन सम्बन्धी सूत्रों का

शाब्दिक हिन्दी अनुवाद

(पाण्डे २, ऋण्डमा ३—७)

१—ब्राह्मण उमर के ८ वर्ष और ऋण्ड (गानक) का आठ वर्ष के का अधिका (उस के) गम (भ गान के दिन में) आठव (वय) में (आचार्य के पास) लाने (अर्थात्—उस का अजायब त भस्कार कराने) ।

२—जिन उमर के ८ वर्ष और ऋण्ड (गानक) का आठ वर्ष के का (यज्ञाधिकार सम्पन्न कराने) ।

३—वैश्य उमर के १२ वर्ष और ऋण्ड (गानक) का बारह वर्ष के का (यज्ञाधिकार सम्पन्न कराने) ।

४—अथवा मर्ष का शुभ पगलालियों में (उपनयन कराने का अवसर है) ।

५-ब्राह्मणान् भोजयेत् ।

६-तं च पर्युत्तशिगममलंकृतमानयन्ति ॥५॥

७ परचादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति—
ब्रह्मचार्यसानीति च ॥६॥

८-अथैनं वासः परिधापयति—

९-येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।

तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय वलाय वर्चस इति ॥७॥

५—(उस अवसर पर गुरुकुलस्थ आचार्य आदि) ब्राह्मण (भुक्ति व लोग) को भोजन कराए ।

६—और (अथ) उस (ब्रह्मचारी) को शिर मुँडवा 'कर और आभूषण पहना कर (शब्दार्थ—मुखड़े हुए शिर वाले और सजे हुए को) (यज्ञवेदी पर) लाते हैं ।

७—अग्नि के पश्चिम में (आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के) बिठा कर (आचार्य उस से) कहलाता है—‘(मैं) ब्रह्मचर्य व्रत का प्राप्ति हुआ हूँ’ तथा ‘(मैं) ब्रह्मचारी हो जाऊँ ।’

८—अथ (आचार्य) उस (ब्रह्मचारी) को वस्त्र पहनवाता है—

९—(बृहस्पति.) वेदवाणी के अधिकृत विद्वान् आचार्य [पूर्व काल से] (इन्द्राय) परम तेजस्वी ब्रह्मवान् ब्रह्मचारियों को (येन) जिस प्रकार (अमृतम्) वेद और उस की अध्यात्म-विद्या के अध्ययन के लिए नियत (वासः) वस्त्र (पर्यदधात्) धारण कराते आए हैं (तेन) उसी प्रकार (आयुषे) प्राण-शक्ति (आयुत्वाय) [यज्ञमय] दीर्घ जीवन (वलाय) बल [और] (वर्चसे) ब्रह्मतेज [की प्राप्ति] के लिए (त्वा) तुम्हें [इस व्रत के लिए नियत वस्त्र] (परिदधामि) धारण कराता हूँ ।

१०-मेखलां वञ्चीते ।

११-इयं दुरुस्तं पञ्चिधमाना

वर्णं पवित्र पुनती म आगात् ।

प्राणापानाभ्यां बलमादधाना

स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति ॥८॥

१२-युग सुगामाः परिवीत आगात्

॥ उ श्रेयान् भरति जायमानः ।

तं धीरासः कवय उन्नयन्ति

स्थाप्यो मनसा देवयन्तः ॥

इति वा ॥६॥

१०—(अथ आचार्य क कहन पर ब्रह्मचारी इन मन्त्रों को पढ़ कर)
मेखला (= तगड़ी) बाँधता है ।—

११—[दुरुस्तम्] (मेरे) दुष्ट वचनों को [परिधाधमाना]
नष्ट करता हुई (श्रीर) [मे] मेरे [पञ्चिधम्] पावन
[वर्णम्] (ब्रह्मचर्यव्रत पालन रूपा) यश को [पुनती]
पवित्र करता हुई, [प्राणापानाभ्याम्] प्राण और अपान
(के नियमन) द्वारा [बलम्] बल [आदधाना] देतो
हुई [स्वसा] (शैथिल्य को) दूर भगवान् वाला (अथवा—
वहन के सहस्र) [देवी] चोतनशाल (= चमकती हुई)
[सुभगा] सुन्दर ऐश्वर्य या कर्मफल (= भाग्य) (देने)
वाला [इयम्] यह [मेखला] तगड़ी (आज से मुझे)
[आगात्] प्राप्त हो गई है ।

१२—[इति वा] अथवा इस (मन्त्र) को (पढ़े)—[सुवासा.]

१३ तूष्णीं वा ॥१०॥

१४-× अत्र यज्ञोपवीतपरिधानम्—

१५ [यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं

प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।

आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं

यज्ञोपवीतं यत्नमस्तु तेजः ॥

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनयामि ॥इति॥

सु दर व न ध र्ण कृष्ट हुष्ट [परिवीत] (विद्याप्राप्त का भावना से) भरा हुआ (या - प्राचाय से मिलत हुआ) [युवा] गया ब्रह्मचारी [अरणात्] (ब्रह्मचर्य मत के पालन के लिए गुरु के पास) आया । [उ] नि स दह [स] वह [जायमान] (आचार से तारा शरीर में तरल) उ र्ध्वन दाता हुआ [श्रयान्] श्रय (क पान या आभार) (शब्दाथ—भेष्ट) [भवति] होता है [धीरास] सम्भार शुद्धमान् [स्वाध्य] सु दर विद्याओं का आधान करने वाले [मनसा] मन से [देवयन्त] (ब्रह्मचारी का) यदाभवत्ता विद्वान् वनात की इच्छा करते हुए [वयय] विद्वान् आचार्य (उक्त का) [उन्नयन्ति] (सद्गुणयुक्त शिवा प्रदान आदि द्वारा) उन्नत करत है ।

१३—अथवा चुप चाप (= सोन हो कर बिना मन्त्र बाले हो) (मलला बोधे) ।

१४—यः यज्ञोपवीत पहना जाता है—

१५—[यत्] जा [पुरस्तात्] पहले [प्रजापते] यह क [सहजम्] साथ उत्पन्न हुआ [परमम्] परमात्मा (के शान

१६-अयाजिन प्रयच्छति ।

१७-मित्रस्य चक्षुर्दृष्टेः बलीयस्तेजो

यशस्वि स्यान् सर्मिद्धम् ।

अनाहनस्य उमन जरिष्णु पगीद

वाज्यजिन दधेऽहमिति ॥]

१८ दण्ड प्रयच्छति ॥११॥

क अ धनार हा) क प तय अथग परम [पात्रत्रय]
पावन [यज्ञोपवीतम्] (ब्राह्मचर्यतन्त्र) उव का नापक
(जनक) [अग्र्यम्] अग्र्युत्तम [आयुष्यम्] आयु
[प्रतिमुत्र] प्रदान कर (यह [शुभ्रम्] सफेद रङ्ग का
[यज्ञोपवीतम्] ज अ [बलम् तेज] बल और तेज
[अस्तु] दन वाला हा ॥ [यज्ञस्य] (तम) ज क
[यज्ञोपवीतम्] जनक [अस्ति] हा । (म) र त्रा]
दम र [यज्ञोपवीतम्] जनक [उपनयामि] पहनाता हू ॥

१६-अय (आच य ब्रह्मचार का) का मृग का चम दता है ।

१७-[मित्रस्य] मित्र (—दु ग स प्रवान वाल) की [चक्षु]
आख प सदृश, [धरिष्णुम्] धारक, [बलीय] दृढ [तेज]
तेजस्वा [यशस्वि] (और) यशस्वा [स्थविरम्] पुराना
[सर्मिद्धम्] चमकाला (—साफ सुथरा) [अनाहनस्यम्]
पवित्र (करन वाला), [जरिष्णु] गिरकाल म फटन वाला
(अथाह- का) [इदम्] इस [वानि] ज्ञान और शास्त्र
का प्रताक [अचिनम्] काने मृग को माल (स्त) [वसनम्]
वस्त्र का [अहम्] म (तुम्हें) [परिदधे] पहनाता हू ।

१८-(प्रथ आचाय ब्रह्मचार का) दण्ड दता है ।

१६-तं प्रतिगृह्णाति ।

२०-यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि भूम्याम् ।

तमहं पुनराददे आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥१२॥

१-दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात् ॥१३॥

२२-अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति -

१६—(ब्रह्मचारी) उस डण्डे को ग्रहण करता है ।

२०—[य] (यह) जो [मे] मेरे [परापतत्] सामान आया हुआ है, [भूम्याम् अधि] सब पदार्थों आदि के मध्य [वैहायस] निरन्तर गति करने वाला, [दण्ड] (अनुशासन करने वाला) डण्डा (है), [तम्] उस को [अहम्] मैं (ब्रह्मचारी) [आयुषे] (प्रगतिशाल) जीवन, [ब्रह्मणे] वेदाध्ययन (शीर) [ब्रह्मवर्चसे] ब्रह्मतेज (का प्राप्ति) के लिए [पुन] (अपन से) पहले क (ब्रह्मचारियों के) समान [आ ददे] धारण करता हूँ ।

२१—(दार्घ्य काल तक चलने वाले ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षा देने वाला बालक) लम्बे सोमसत्र में (दीक्षा) लेता है ऐसा (शास्त्र का) वचन होने के कारण कुछ (आचार्य सोमसत्र की) दाक्षा (म दण्डग्रहम्) के समान (यहाँ भी 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' इत्यादि मन्त्र से दण्डधारण मानते हैं) ॥

२२—प्रथम जल से (घरी हुई अपनी) अञ्जलि से (पानी छोड़ कर) उस (ब्रह्मचारी) की अञ्जलि को (जल में) भरता है ।

१—एतत्सूत्रे कात्यायनश्रौतसूत्रपठितो मन्त्रः—'उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्य' इति आरभ्य यज्ञयोदधः' अभिप्रत ।

२३-आपो हि षेति तिसृभिः ॥१४॥

२४-अथैनं सूर्यमुदोचयति—

२५ तच्चक्षुरिति ॥१५॥

२६-अथास्य दक्षिणां ममधिहृदयमालभते—

२७-मम ग्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।

मम वाचमेकमना जुपस्व बृहस्पतिष्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

इति ॥१६॥

२३—(आचार्य बालक की अङ्गुलि को) ‘आपो हि षा’ आदि तीन (मन्त्रों) से (भरता है) ।

२४—अथ उस (ब्रह्मचारी) का सूर्य का दर्शन कराता है ।

२५—(आचार्य की प्रेरणा पर ब्रह्मचारी) ‘तच्चक्षुः’ आदि (मन्त्र) को बोलता हुआ सूर्य को देखता है ।

२६—अथ (आचार्य) उस (बालक) के दाहिने कंधे और हृदय को छूता है ।

२७—[मम] अपने (= आचार्य के) [ग्रते] अनुशासन में [ते] तुम्हारे [हृदयम्] हृदय को [दधामि] व्यापृत करता हूँ ।

१—आपो हि षा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय वक्षसे ॥१॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य माजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥२॥

तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

२—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुभमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रव्रजाम शरदः शतमदीनां स्थाम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

२८ अयास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह—को
नामामीति ॥१७॥

२९-असाग्रह भोऽइति प्रत्याह ॥१८॥

३०-अथैनमाह—स्य ब्रह्मचायसीति ॥१९॥

३१-भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाह-
माचार्यस्तवासाजिति ॥२०॥

[ते] तुम्हारा [चित्तम्] ज्ञान [मम] मेरे [चित्तम्]
ज्ञान [अनु] क समान [अस्तु] हो । [मम] मेरा
[वाचम्] गणना का [एङ्मना] लक्षण मन से [जुपस्य]
तुना करना । [बृहस्पति] न्याधिपति परमात्मा [त्वा]
तुम्हें [मह्यम्] मेरे लिए (अथान्—मेरे से शब्दा प्राप्त
करने के लिए) [नियुनस्तु] नियुक्त करते रहें ।

२८—अब उस के से व हाथ का पकड़ कर (आचार्य) कहता है—
तुम्हारा क्या नाम है [श० तुम किस (सुगन्ध) नाम वाले हो] ।

२९—वह (गान्धर्व) उत्तर देता है—हे (आम्हन्) यह मैं—हूँ ।

३०—अब (आचार्य) उस से पूछता है—[कस्य] तुम (सुगन्धार्क)
किस के ब्रह्मचारी हो ।

३१—‘आत का’ यह कहे ज्ञान पर (आचार्य कहे कि) तुम [इन्द्र]
परमैश्वर्यशाली और शक्तिमान् परमेश्वर के ब्रह्मचारी हो ।
[अग्निः] अज्ञान और पाप आदि — अग्नि के समान जल
तन वाला परमेश्वर वा ब्रह्मज्ञान तुम्हारा आचार्य है । वह मैं
भा तुम्हारा आचार्य हूँ ।

३२-अथैनं भूतेभ्यः परिददाति-

३३-प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा मवित्र परिददा-

म्यद्भ्यस्त्वोपधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा

परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा

भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति ॥२१॥२।३॥

३२-अब उस (ब्रह्मचारी) का [भूतेभ्यः] समस्त उन्नत पदार्थों से (उन्नित उप्याग लेने में लिए) करता है (शब्दार्थ- देता है) ।

३३-[अरिष्ट्या] सु कृता के लिए (म) [त्वा] तुम्हें [प्रजापतये] प्राणियों के रक्षक प्रमात्मा को [परिददामि] समर्पित करता हूँ । [देवाय] ही तमान् [सवित्रे] मरुत जगत् के उत्पादक परमेश्वर को [त्वा] तुम्हें [परिददामि] समर्पित करता हूँ । (मैं तुम्हें) [अद्भ्यः] अना का (म) [ओपधीभ्यः] अ पधी को [परिददामि] देता हूँ । (म) [त्वा] तुम्हें [द्यावापृथिवीभ्याम्] तुलक और पृथिव लोक (अथवा प्राण और उदान) का [परिददामि] देता हूँ । (मैं तुम्हें) [विश्वेभ्यः देवेभ्यः] सम्पूर्ण तत्त्व पदार्थों का [परिददामि] सौंपता हूँ । [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] सम्पूर्ण [देवेभ्यः] (ब्रह्म, रुद्र, और आदित्य आदि) दिव्य पदार्थों (या विद्वानों) को [परिददामि] देता हूँ । (और) [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] समस्त [भूतेभ्यः] भूतों (प्राणियों, अप्स, नेत्र, वायु और आकाश रूप या प्राणामात्र) को [परिददामि] देता हूँ ।

३४ प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥१॥

३५-अन्यारब्ध आज्याहुतीहुँत्वा प्राशनान्तेऽथैनं *सं*शास्ति

३६-ब्रह्मचार्यसि ।

३७-अपोऽशान ।

३८-वर्म कुरु ।

३९-मा दिया सुपुण्या ।

४०-वाचं यच्छ ।

४१-समिधमाधेहि ।

४२-अपोऽशान ॥इति॥२॥

३४—आग्नि का प्रदक्षिणा कर व (शाचार्य रु बाई गार) बैठता है ।

३५—पुनः (यज्ञ के) आरम्भ होने पर घृत इ. (१४) आहुतिर्षा द कर, (वज्रशय के) ला लन पर अब उस (ब्रह्मचारी) को शिक्षा दता है—

३६—(अत्र) तम ब्रह्मचारा हो ।

३७—(अत्र हमों अथवा-सन्ध्योपासन और भोजन के आरम्भ में) पाना पिया करो (अर्थात्-आचमन किया करो) ।

३८—(सदा) काम करते रहना ।

३९—दिन में न सोना ।

४०—(पूछे जाने पर) उत्तर देना ।

४१—समिधाओं से यज्ञ किया करो (शब्दार्थ—समिधा को आग में रखना कर ।)

४२—(अब फिर यज्ञ आदि कर्षों की समाप्ति पर) किया करो ।

४३-अयाम्मै सावित्रीमन्वाहोरागतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोप-
चिष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥३॥

४४-दक्षिणतस्तिष्ठत आमोनाय वैके ॥४॥

४५-पच्छोऽर्द्धचेशः सर्वा च तृतीयेन सट्टानुवर्तयन् ॥५॥

४६-संवत्सरे ऋणमास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे
पडहे त्र्यहे वा ॥६॥

४७-सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण
इति श्रुतेः ॥७॥

४१—अब अग्नि के उत्तर की ओर, पश्चिम की ओर मुग्न वाले, बैठे हुए, (प्रणाम और भद्राभाव से शिष्टा प्राप्त करने के लिए) उपस्थित हुए, (गुरु को शान्त चित्त से) देगते हुए और (गुरु द्वारा शान्त चित्त) निश्चित किए गए इस (ब्रह्मचारी) को गायत्री का उपदेश करे ।

४४—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि (अग्नि के) दक्षिण की ओर लगे हुए या बैठे हुए को (गायत्री का उपदेश करे) ।

४५—(पहले) एक-एक पाद को, (फिर) आधा-आधा ऋचा को और तीसरी बार सम्पूर्ण मन्त्र को (ब्रह्मचारी के) साथ-साथ पढ़ता हुआ (आचार्य उपदेश करे) ।

४६—(इस गायत्री पाठ को) एक वर्ष में (या) छै मास में, (या) चौबीस दिन में (या) बारह दिन में, (या) छै दिन में अथवा तीन दिन में (पूरा कराए) ।

४७—निःसन्देह ब्राह्मण अग्निपुत्र होता है—इस श्रुति के कारण ब्राह्मण बनने के इच्छुक और योग्य (ब्रह्मचारी) को तो गायत्री पुरन्त ही सिखा सकता है ।

४८-त्रिष्टुभ् * राजन्यस्य ॥८॥

४९-जगती वैश्यस्य ॥९॥

५०-मर्वेपा वा गायत्रीम् ॥१०॥३।४॥

५१-अथ समिदाधानम् ॥१॥

५२-पाणिनाऽग्निं परिसमूहति—

५३-अग्ने सुश्रवः सुश्रवस मा कुरु ।

यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येव माँत् सुश्रवा
सौश्रवसं कुरु ।

यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं
मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति ॥२॥

४८—क्षत्रिय को त्रिष्टुभ् (छन्द वाली) (सावित्री श्रुचा (सिलाए) ।

४९—वैश्य को जगता (छन्द वाली सावित्री श्रुचा सिलाए) ।

५०—अथवा सब को गायत्री (छन्द वाली श्रुचा सिलाए) ।

५१—(अब ब्रह्मचारी) यहाँ (अग्नि) में समिधाओं का प्रक्षेप (करे) ।

५२—(ब्रह्मचारी) हाथ से आग को (दबड़ा कर के) तेज करे ।

५३—[सुश्रवः] हे शोभन यश वाले [अग्ने] परमात्मन्, [मा]
मुझे [सुश्रवसम्] शुभ्र यश वाला [कुरु] बना दो ।
[सुश्रव] हे उत्तम कर्ति वाले [अग्ने] परमेश्वर [यथा]
जिस प्रकार [त्वम्] आप [सुश्रवा] परम अवश्रुत हैं,
[सुश्रव.] हे यशस्वी [माम्] मुझे [सौश्रवसम्] उत्तम यश
वाला [कुरु] कर दे । [अग्ने] हे परमेश्वर [यथा] जिस
प्रकार [त्वम्] आप [देवानाम्] (सूर्यादि भौतिक) दिव्य
पदार्थों के [यज्ञस्य] (कर्मों में प्राप्त) यज्ञभाव के [निधिपाः]

५४-प्रदक्षिणमग्निं पयुर्च्योन्निष्ठन्तममिधमादधाति ।

५५-अग्नये समिधमाहार्पं बृहते जातवेदसे ।

यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यम एवमहमायुषा मेधया
वचसा प्रजया पशुभिर्व्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो
ममाचार्यो मेधाव्यहममान्यनिगाङ्गण्यशस्वी तेजस्वी
ब्रह्मवर्चस्पन्नादो भूयामस्त्वाहेति ॥३॥

रक्षक (= धारक) [असि] में, [एवम्] उसी प्रकार
[अहम्] मैं (भी) [मनुष्याणाम्] मनुष्यों में
[वेदस्य] वेद के [निधिष.] कोष का रक्षक [भूयःसम्]
बन जाऊँ ।

५४—प्रदक्षिणा की हुई अग्नि का (जल से) छिटक कर खड़े हुए
(हो) (अग्नि) में समिधा डालता है ।

५५—(मैं ने) [बृहते] महान् [जातवेदसे] (समस्त) उत्पन्न
(पदार्थ आदि) को हात [अग्नये] अग्नि को [समिधम्]
समिधा [अहार्पम्] दी है । [अग्ने] हे आग [यथा]
जैसे [त्वम्] तुम [समिधा] समिधा में [समिध्यसे]
प्रदक्षिणा होती है [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं [आयुषा]
आयु [मेधया] धारण करती बुद्धि (वर्चसा) तेज [प्रजया]
विश्व ज्योति (या अन्न), [पशुभिः] शान्ति और कल्याण
(और) [ब्रह्मवर्चसेन] वेदाध्ययन के सम्पत्ति से [समिन्धे]
प्रदक्षिणा हो जाऊँ । [मम] मेरे [आचार्यः] आचार्य
[जीवपुत्रः] दीर्घजीवा पुत्रों वाले (हों यथार्थ—परम गति-
शील, बुद्धिमान् और यशस्वी हैं) । [अहम्] मैं [मेधावी]
बुद्धिमान् [असानि] हो जाऊँ, [अनिराकरिष्णुः] (गुरु

५६-एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥४॥

५७-एषा ते इति वा समुच्चयो वा ॥५॥

५८-पूर्ववत् परिसमूहनपर्युक्षणे ॥६॥

५९-वाणी प्रतप्य मुख विमृष्टे—

६०-तनूपा अग्नेऽमि तन्वं मे पाह्यायुर्दं अग्नेऽस्यायुर्मो देहि,
वर्चोऽ१ अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।

अग्ने यन्म तन्या ऊनं तन्म आपृण ॥७॥

ये उपदश को) न भूलने (या-डुकराने) वाला, [यशस्वी]
कौत्सिमान् (= प्रसिद्ध) [तेजम्बी] तेजम्बी [ब्रह्मवर्चसी]
वेद ज्ञान के तेन से युक्त, [अग्राद] (और) समस्त भोग्य
पदार्थों का भोग करने वाला [भूयासम्] रहूँ । [इति]
(मेरे) यह [स्वाहा] (वाणी) सिद्ध हो ।

५६—इसी प्रकार (उस मन्त्र को पढ़ कर) दूसरी और तीसरी
(समिधा) डालो ।

५७—अथवा 'एषा ते'—(मन्त्र से समिधा डालो ।) अथवा ('अग्नये
समिधम्' और 'एषा ते'—इन दोनों मन्त्रों को) मिला कर
(समिधा डालो) ।

५८—पहले के समान ही (अग्नि को) एकत्र कर के प्रदीप्त करने और
जल छिड़कने को (ब्रियाएँ करे) ॥६॥

५९—दोनों हाथ तपा कर (उन से) मुख को मलता है ।

ॐ एषा ते अग्ने समितया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व । वर्धिषीमहि
च वयमा च प्याषिषामहि ॥ अग्ने वाजजिह्वाजत्वा ससृवाँ स
वाजन्ति सम्मार्जिम ॥—

६१-मेधां मे दधः सविता आदधातु, मेधां मे दधौ सरस्वती
आदधातु, मेधामश्विनौ देवाग्धात्ता पुष्करस्तज्जाविति॥८५॥

६०--(अग्ने) हे (प्राण और रतस् क प्रताक) अग्ने, (तनूपाः
असि) (तुम) शरीर क रक्षक हो (मे) मेरे [तनूवम्]
शरीर को [पाहि] रक्ष करो । [अग्ने] / अग्ने [आयुर्दा
असि] तुम जीवन के देन वाले हो, [मे] मुझे [आयुः]
(यशमय गतिशाल) जीवन [देहि] प्रदान करो । [अग्ने]
हे अग्नि, [वर्चोदा असि] तुम नज न देने वाले हो [मे]
मुझे [वर्च] तेज [देहि] दो । [अग्ने] हे अग्ने [मे]
मेरे [तनूवा] शरीर में [यत्] जा रक्ष [ऊनम्] कमी हो
[तत्] उसे [मे] मेरे (शरीर) में [अपृण] पूरा
कर दो ॥७॥

६१--[देव सविता] दिव्य गुण युक्त सर्वोत्पद परमेश्वर [मे]
मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] दें । [दिव्य] अलौकिक
स्वरूप वाले [सरस्वती] ज्ञान-रूप परमेश्वर [मे] मुझे
[मेधाम्] मेधा [आदधातु] प्रदान करें । [पुष्करस्तनौ]
वाक् और प्रतिष्ठा रूपी कमल की माला पहनने वाले [देवौ]
दिव्य गुणों वाले [अश्विनौ] अध्यापक और उपदेशक
विद्वान् (अथवा, प्राण और अपान) [मे] मुझे [मेधाम्]
मेधा [आधत्ताम्] दें ।

१-गुजरातप्रससस्वरणे कश्चिद्व्यासमाप्तञ्जितकोऽपि —

४ इति अनापि प्रदर्शितः ।

६२-(अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां
वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति ।

६३-व्यायुषाणि ऋगेति भस्मनः ललाटे ग्रीवायां दक्षिणे^० मं
हृदि च-व्यायुषामि त प्रतिमन्त्रम्) ॥४॥५ ॥

६४-अथ भिक्षाचयचरणम् ॥१॥

६५-भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षात ॥२॥

६६-भवन्मध्यां^० त्राजन्यः ॥३॥

६७-भगदन्त्यां वैश्यः ॥४॥

६२—[अङ्गा ना छू कर (मन-मन म उच्चारण करते हुए) भावना करता है (कि)—मेरे (शरीर के) अङ्ग, वाणी, प्राण, दर्शन श्री भवण शक्तियाँ यश और बल बढ़ते रहें ।

६३—‘व्यायुषम्’—इन^० (तीन मन्त्रों म से) प्रत्येक से राख से मस्तक, गद्दन, दाढ़िन कंधे और हृदय पर व्यायुष (-त्रिपुण्ड्रक नाम का तिलक) बनाएँ ॥४॥५॥

६४—अथ भिक्षा माँगन की वृत्ति की जाती है ।

६५—ब्राह्मण गुणों का इच्छुक (वाक्य के) आरम्भ में ‘भवत्’ का उच्चारण कर के भिक्षा माँगे ।

६६—क्षत्रिय गुणों का इच्छुक ‘भवत्’ का बीच में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे) ।

६७—वैश्य गुणों का इच्छुक ‘भवत्’ का अन्त में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे ।)

१—व्यायुष जमदग्नेः कश्यपस्य व्यायुषम् ।

‘यद् देवेभ्य व्यायुष तन्नो अस्तु व्यायुषम् ॥ य० ३।६२॥

६८-तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥५॥

६९-यद् द्वादशापरिमिता वा ॥६॥

७०-मातरं प्रयमामेके ॥७॥

७१-आचार्याय मैवं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं
तिष्ठेदित्येके ॥८॥

७२-अहिं सन्तरण्यात् समिधमादृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय
वाचं विसृजते ॥९॥

७३-अधःशाय्यद्वारालवणाशी स्यात् ॥१०॥

७४-दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुभ्रं वा भिक्षावर्षा ॥११॥

६८—तीन (भिक्षा देने में) इ-कार करने वाली नहीं होती ।

६९—छै, बारह अथवा अस्त्रय (इन्कार न करने वाली होती है) ।

७०—कुछ (आचार्य कहते हैं कि) पहले माता मे (भिक्षा मांगे) ।

७१—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि भिक्षा से प्राप्त सामग्री को
आचार्य के अर्पण कर के (अथवा बता कर) शेष दिन में सयत
बाणी वाला रहे ।

७२—अहिसक रहते हुए (अथवा बिना स्वयं काटे स्वतः गिरी हुई)
समिधाएँ ला कर उस (सस्कार के समय प्रज्वलित की गई)
अग्नि में पदों के समान डाल कर (मन्त्र आदि) बाणी को
बोले (श०—छोटे) ।

७३—नीचे सोने वाला, खारा और नमक न खाने वाला हो ।

७४—दण्डा रखना, अग्नि की (दहन द्वारा) सेवा, गुरु को सेवा
और भिक्षावृत्ति (करे) ।

१—गुजरातीसंस्करणे—समिध आदृत्य—दत्ति पाठः ।

७५-मधुमाँसमज्जनोपर्यासिनस्त्रीगमनानृतादक्षदानानि
वर्जयेत् ॥१२॥

७६-अष्टचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥१३॥

७७-द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥१४॥

७८-यावद्ग्रहणं वा ॥१५॥

७९-वासाँसि शाण्डौमाविकानि ॥१६॥

८०-ऐण्येमज्जिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥१७॥

८१-रौरवं राजन्यस्य ॥१८॥

८२-आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥१९॥

७५—शराव, मास, (गोते लगा-चगा कर अतिशय) स्नात
(अथवा—मालिश), ऊँच आसन पर बैठना, त्रिमो द्वे
ससर्ग, कूठ बोलना और न दी हुई वस्तु को लेना छोड़ दे ।

७६—अष्टतालीस वर्ष तक वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य का सेवन करे ।

७७—अथवा प्रत्येक वेद के लिए बारह-बारह वर्ष (ब्रह्मचारी रहे) ।

७८—अथवा पूरी प्रकार (वेद) पढ़ लेने तक (ब्रह्मचारी रहे) ।

७९—(ब्रह्मचारियों के) वस्त्र सन, रेशम और भेड़ की ऊन के
(होते हैं) ।

८०—ब्राह्मण का ऊपर का वस्त्र एण (= फाला गारह सीधा) नामक
हरिण का काला चर्म (हो) ।

८१—उत्तरीय का (उत्तरीय) रुद्र नामक हरिण (की खाल हो) ।

८२—वैश्य का (उत्तरीय) बकरे या गाय का (चर्म हो) ।

८३-सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥२०॥

८४-मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥२१॥

८५-धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥२२॥

८६-मौर्गी वैश्यस्य ॥२३॥

८७-मुञ्जाभागे कुशारमन्तस्बल्यजानाम् ॥२४॥

८८-पलाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥२५॥

८९-वैल्यो राजन्यस्य ॥२६॥

९०-श्रौदुम्बरो वैश्यस्य ॥२७॥

९१-सर्वे वा सर्वेषाम् ॥२८॥

८३—अथवा, न मिलने पर प्रमुख होने के कारण सब का ही (उत्तरीय) गाय (के चर्म) का हो ।

८४—ब्राह्मण की तगड़ा मूँज की हो ।

८५—क्षत्रिय की (तगड़ी) धनुष नामक घास (या धनुष की डोरी) की (हो) ।

८६—वैश्य की (तगड़ी) मूर्वा घास की (हो) ।

८७—मूँज न मिलने पर डाम, अश्मन्तक (या) बल्य नामक घास की बनी हुई (हो) ।

८८—ब्राह्मण का डण्डा टाक का हो ।

८९—क्षत्रिय का (डण्डा) बेल का हो ।

९०—वैश्य का (डण्डा) गूलर का हो ।

९१—अथवा सब के ही (डण्डे) सब ही (लकड़ियाँ) हो (सकती हैं) ।

६२-(वेशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसंमितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्य ।)

६३-आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥२६॥

६४ शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठेत्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥३०॥

६५-स एव वर्तमानोऽमुत्रापि वसत्यमुप्राप्य वसतीति तस्य स्नातकस्य कीर्तिमिवेति ॥३१॥

६६-प्रथः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥३२॥

६२—(ब्राह्मण का दण्डा वालो तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक लम्बा और वैश्य का कान तक लम्बा हो) ।

६३—आचार्य से बुलाया जाने पर उठ कर बुने ।

६४—यदि (आचार्य) लेटे हुए को (बुलाएँ तो) बैठ कर, यदि बैठे हुए का (बुलाएँ तो) खड़ा हो कर, यदि खड़े हुए को (बुलाएँ) तो पास आ कर और यदि चलते हुए को (बुलाएँ) तो दौड़ कर (बुने) ।

६५—वह (ब्रह्मचारी) इस प्रकार रहता हुआ आज नहीं स्वर्ग में रहता है, आज नहीं स्वर्ग में रहता है, इस प्रकार उस स्नातक का यश फैल जाता है ।

६६—तीन प्रकार के स्नातक होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ।

६७-समाप्य वेदमममाप्य व्रतं यः समावर्तते स
विद्यास्नातकः ॥३३॥

६८-समाप्य व्रतमममाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः ॥३४॥

६९-उभयं * समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति ॥३५॥

१००-आषोडशाद् * ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥३६॥

१०१-आ द्वाविं * शाब्द राजन्यस्य ॥३७॥

१०२-आ पद्मविं * शाब्द वैश्यस्य ॥३८॥

१०३-अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥३९॥

६७—जो वेद को (पूरा पढ़ कर) और (ब्रह्मचर्य) व्रत को पूरा
समाप्त किए बिना (आचार्य कुल से संधार में) लौट आता है
वह विद्यास्नातक (कहलाता) है ।

६८—जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर के और वेद को पूरा न (पढ़)
कर (संधार में) लौट आता है वह व्रतस्नातक (हाता) है ।

६९—जो (वेद और ब्रह्मचर्यव्रत) दोनों को पूरा कर के (आचार्य
कुल से पितृकुल में) लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक
(कहलाता) है ।

१००—सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण का (उपनयन) काल है (शब्दार्थ—
बीता हुआ नहीं है) ।

१०१—द्वित्रिय का (उपनयन काल) २२ वें वर्ष तक है ।

१०२—वैश्य का (उपनयन काल) २४ वर्ष तक है ।

१०३—इस (ऊपर के सूत्रों में वर्णित अवधि) के ऊपर (यथ)
गामत्रीमन्त्र के उपदेश से व्युत्पद्यते होते हैं ।

१—ब्राह्मणस्य नातीतः ।

१०४ नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहारेयुः ४८॥

१०५-कालातिव्रमे नियतम् ॥४९॥

१०६-त्रिपुरुषं पतितमात्रिप्रोक्षणात्मपत्ये सस्वारो
नाध्यापनं च ॥४९॥

१०७-तेषां संस्कारेषु ब्राह्मणस्तोमेनेष्टा काममधीयीन्
व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥४९॥५१६॥

१०८-अथोपनीतो ब्राह्मणस्त्रिशिखः शिखी जटिलो मुण्डो
वाऽक्षारालवणाशी स्यात् ॥५१॥

१०४—(विद्वान्) न इन का उपनयन संस्कार कराएँ न (इन्हे)
पढ़ाएँ, न इन से यज्ञ कराएँ, न इन से व्यवहार करें ।

१०५—(ऊपर निर्धारित) काल क बीच जान पर निय कर्मों को न
करने वाले व्याक्त न (साथ किए जान वाले व्यवहार क)
उमान (इन से व्यवहार करें) ।

१०६—तीन पीढ़ियों (पिता, पुत्र और पौत्र) तक गायत्री क उपदेश
से वञ्चित हुए पुरुषों के पुत्र का (न) संस्कार (दाता है)
और न अध्यापन ।

१०७—उन (तीन पुरुषों में से) (जो) उपनयन संस्कार के
इच्छुक हों वे ब्राह्मणस्तोम से यज्ञ कर के व्यवहार के योग्य
बन जाते हैं—इस विधान के आधार पर इच्छानुसार पढ़ सकते हैं ।

१०८—उपनयन संस्कार किया हुआ ब्राह्मण बालक तान चौटियों
(या) एक चौड़ी या जटाओं वाला या मुंडे (हुए सिर)
वाला स्वारो और नमकीन न खाने वाला रहे ।

१०६-सावित्रं पङ्कजं त्रिरात्रं सद्यःकालं वा चरेत् ॥२॥

११०-तदेव व्रतम् उदीच्य दण्डमपो निधाय मेखलां
यज्ञोपवीतं चाप्स्वन्तरिति प्रत्यृचं नमो वरुणायेति

१०६—सविता के (व्रत का वह) छै रात (या) स न रात या उसी समय (= उपनयन के समय) पालन करें ।

११०—उसी सविता के व्रत (२ पालन) का देण कर दण्डे को (और) 'अप्स्वन्तर' (और 'देवीरापो'—उन दो मन्त्रों में से) एक-एक मन्त्र में (क्रमशः) मग्नना (= तगड़ी) और

यज्ञोपवीत को जल में रख कर (और) 'नमो वरुणाय'

११—अप्स्वन्तर मन्त्रा । वज्रयन्त्रशमरदाचार्यैर्वै प्रक्त —
अप्स्वन्तरमृतमप्सु मेपमपामत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः ।
देवीरापो यो व ऊर्मि प्रवृत्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनाय वाजं
सत् ॥ य० ६।६ पर ॥ मन्त्रकाराय चतस्रः श्रुचो
अभिप्रेताः प्रतायन्ते था एव सन्ति—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु मेपमपामत प्रशस्तय ।
देवा भवत वाजिनः ॥१॥

अप्सु मे सोमा अब्रवीदन्तर्विश्वानि मेपजा ।
अग्निं च विश्वशमुवमापश्च विश्वमेपजाः ॥२॥

आपः पृणीत मेपज वरुण सन्ने मम ।
ज्याक् च सूर्य दशे ॥३॥

इदनाप प्र वहत यत्किं च दुरित मयि ।
यद् वाहमभिदुद्रो ह्यमद् वा शेष उतानृतम् ॥४॥ श्रु० १।२३।१६-२२॥

२—तै० ७।४।१६।२। मन्त्र का इतना भाग ही अभिप्रेत है ।

त्रिमधुर दद्यात् ततोऽस्याग्नेयं प्रथमं वेदव्रतमा-
दिशेत् ॥३॥

१११-ब्राह्मणव्रतमिषां पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि
भवन्ति ॥४॥

११२-आग्नेयं, शुक्रियमौपनिषदं, शौलभं गोदानमिति
पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि चरित्वा स्नात्वौपव्रतं
चरेत् ॥५॥

११३-त्रिष्ववगुण्ठनं, शुक्रियादिषु शुक्रियं, शुक्रमिः
श्रावयेत् ॥६॥

११४ औपनिषदमौपनिषद्भिः शौलभं, शौलभिन्योभिः ॥७॥

(मन्त्र भाग) से तीन बार बीठा (=दही, शहद और
चोनी) दे कर फिर पहले (अग्नि सम्प्रदा (=आग्नेय)
वेद के व्रत का उपदेश करें ।

१११—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के एक वर्ष की अवधि वाले पाँच
वेदव्रत होते हैं ।

११२—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान—एक
साल की अवधि में समाप्त होन वाले इन पाँच वेद व्रतों का
पालन करे और स्नान कर के 'उपव्रत' का पालन करे ।

११३—(शुक्रिय आदि) तीन व्रतों में परदा (=अवगुण्ठन)
होता है जो इस प्रकार है—शुक्रिय व्रत को शुक्रों से मुनवाए ।

११४—औपनिषद व्रत को औपनिषदों से और शौलभ व्रत को
शौलभानियों से (मुनवाए) ।

१—त्रिमधुरमिति मुद्रित पाठः ।

११५-अथवाऽविद्यमान आ ब्रह्मन्, उदीरताम्, आ नो भद्रा,
आशु शिशान, इमां नु कम् इति च वेदशिरसाऽव-
गुण्ठयेत् ॥८॥

११५—अथवा उपस्थित हो कर “आ ब्रह्मन्”, “उदीरताम्”,
“आ नो भद्रा”, “आशु शिशान”, और “इमां नु कम्” इन
मन्त्रों रूपी वेद के उत्तमार्ग (= शिर) से परदा करे ।

१—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य शू-
द्रपण्योऽतिव्याधी महारथो जायता दोग्धा धेनुर्वादानड्वानाशु
सप्ति. पुश्विघर्योपा जिष्णु रथेष्ठा. सभेयो युवास्त्य यजमानस्य
धीरो जायता निकामे निकामे नः पर्जन्यो वपतु फलवत्यो न
ओपघयः पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम् ॥ य० २२ २२ ॥

२—उदीरतामवर उत्परास्त उ-मध्यमा पितर सोम्यासः । अस्तु य
ईयुरवका अतश्चास्ते नोऽवन्तु पितरा इवेयु ॥ य० २६।४६॥

३—आ नो भद्रा ऋतवो यन्तु विश्वतोऽद-घासो अपरीतास्त
उद्भिदः । देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो
दिने दिने ॥ य० २५।१४ ॥

४—आशु शिशानो वृषमो न भीमो घनाघन क्षोभगश्चर्यणीनाम् ।
मन्त्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शत- सेना अजयत्
साकमिन्द्रः ॥ य० १७।३३ ॥

५—इमां नु क भुवना सीपघामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः । आदित्यैरिन्द्रः
सगणो मरुद्भिरस्मभ्य भेषजा करत् । यज्ञ च नस्तन्वं च प्रजा
चादित्यैरिन्द्र. सह सीपघाति ॥ य० २५।४६ ॥

११६-अवगुण्ठनीं त्रिवर्लिं पञ्चवर्लिं वा नाभिदेशात् प्रच्छाद्य
वाग्यताञ्जयेऽधः शयीत ॥६॥

११७-ग्रामे गोष्ठे दवायतने वा ॥१०॥

११८-व्युष्टायामवगुण्ठनीमरण्ये विसृजेत् ॥११॥

११९-अदृशमस्य, उदु त्य, चित्र देवानामित्युदितेऽर्के
जपति ॥१२॥

११६—तीन बलियों या पाँच बालियों वाले परदे को नाभि प्रदेश तक
ढक कर और वाग्यो को संयम में रख कर वन में नीचे (भूमि
पर ही) लेटे (या सोए)।

११७—अथवा गाँव में या समाधान या देवमन्दिर में (सोए)।

११८—उपाकाल हान पर परदे को खगल में छोड़ दे।

११९—सूर्य के उदय होने पर 'अदृशमस्य', 'उदु त्य', और 'चित्र
देवानाम्' इन मन्त्रों का जप करे (शुद्ध करता है)।

१—अदृशमस्य केतवो वि रश्मवो जनां अनु । भ्राजन्तो अमनो
यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैव ते यानि
सूर्याय त्वा भ्राजाय । सूर्याय भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठ
देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽह मनुजेषु भूयसम् ॥ य० ८।४० ॥

२—उदु त्य जातवेदस देव वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय
सूयम् ॥ य० ३३।३१ ॥

३—चित्र देवानामुदगादनीक चक्षुमित्रस्य वरुणस्याग्नः । आशा
द्यावापृथिवी अन्तारक्ष् सूर्य आत्मा जगत्स्तरुणपश्च स्वादा ॥

१२०-वर्षेति द्यौः शान्तिरिति शान्तिं करोति ॥१३॥

१२१-शान्तिभाजनं गुरुवे दद्यात् ॥१४॥

१२२-एवमेवाथ गुण्ठनो च ॥१५॥

१२३-गोदाने गोमिथुनम् ॥१६॥

१२४-तस्माद् गोदानमिति तस्माद् गोदानमिति ॥१७॥७॥

इति पारस्करगृह्यसूत्र उपनयनसूत्राणि ।

१२०—(बुल्लोक के) बरसने पर 'द्यौः शान्तिः' (मन्त्र का उच्चारण)
कर के शान्ति (का कामना) करता है ।

१२१—शान्तिपात्र को गुरु को दे देवे ।

१२२—इसी प्रकार परदे को (गुरु को दे दे) ।

१२३—गोदान (व्रत) में गौश्रो का जोड़ा (गुरु को देवे) ।

१२४—(गो दो जाती है) इसी लिए इस व्रत को गोदान कहते हैं,
इसी लिए यह गोदान है ।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों का डा० सुधीर

कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डो०, शास्त्री,

प्रभाकर द्वारा रचित शाब्दिक

हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ ।

१—द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तः पृथिव्या शान्तिरापः शान्तिरोप-
धयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्वसु शान्तिः
सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरोषि ॥
व० ३६/१७॥

वेदलावण्ये

पारस्करीयोपनयनसूत्रेषु

टिप्पण्यः

पदानुक्रमणिका च ।

पारस्करीथोपनयनसूत्र

परिशिष्ट १

सुकाशिनो लिप्पणिथां

उपनयनसंस्कार—आचार्यस्य आचार्याया वा उप समीपे बालकस्य बालिकाया वा नयनमुपनयनम् । आचार्य/आचार्या के पास लड़के/लड़की को विद्याप्रहरण के लिए पहुँचाना उपनयनसंस्कार कहलाता है । इस में गृह्यसूत्रों में वर्णित विधि के अनुसार बालक/बालिका को आचार्य/आचार्या के पास लाना, अग्नि के पास दिठाना, गायत्री का उच्चारण कराना और अन्य विहित कर्म किए जाते हैं ।

(II) उपनेता—उपनयन कराने का अधिकार पिता आदि को है—

“पिता पितामहो भ्राता श्वशुरो गोत्रजाग्रजाः ।
उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः ॥”

पिता, दादा, चाचा, सम्बन्धी, गोत्रोत्पन्न बड़े भाई कमरा. उपनयन करा सकते हैं । गदाधर के मत में यह विधि ब्राह्मण बालक के लिए है, शेष का उपनयन पुरोहित ही करा सकता है । भाव यह है कि जो भी बालक के अध्यापन के लिए नियुक्त हो वही उपनयन कराए, जो न पढ़ावे वह उपनयन न कराए, चाहे वह कुलपुरोहित ही क्यों न हो । जिस बालक के पिता आदि में से कोई सम्बन्धी वेद का अध्यापक हो, वह बालक चाहे जिस वर्ण की योग्यता का इच्छुक हो उस सम्बन्धी से उपनयन करवा सकता है क्योंकि उपनयन वेदाध्ययन के निमित्त होता है । यदि पिता आदि

वेदाध्यापक नहीं हैं, अथवा उपनयनोपरान्त वे बालक को वेद न पढ़ाए तो वे उपनयन कराने के अधिकारी नहीं हैं ।

उपनयन का काल

(i) अष्टवर्षमिति—अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असौ, तम् । जिस के जन्म को आठ वर्ष गीत चुके हैं । गर्भाष्टमे—गर्भ. गर्भसहचरितो वर्ष अष्टमो येना तानि गर्भाष्टमानि तेषु अतीतेषु । बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग हुआ है । हरिहराचार्य के मत में इस का भाव नवमे या आठवें वर्ष में है । इसी प्रकार वे और गदाधर क्षत्रिय का उपनयन जन्म से १२ वें वर्ष में और वैश्य का १३ वें वर्ष में मानते हैं ।

विभिन्न वर्णों के उपनयन में आयु की भिन्नता का कारण

(ii) उपनयन की आयु का विधान प्रायः सर्वत्र यही है । इस का आधार बालक की योग्यता और अध्ययन के लिए आपेक्षिक प्रौढ़ता है । ब्राह्मण आदि ७ लक्षण इस प्रकार हैं* । ब्राह्मण का लक्षण यह है—

“अध्यापनमभ्ययन यजन याजन तथा ।

दान प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥”

मनु० १/८८

“शमो दमस्तप शौच क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मरूपं स्वभावजम् ॥” गी० १८/४२

(iii) इन लक्षणों के अनुसार ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक बालक को सरलहृदय, सुप्त से निरपेक्ष और दान लेने के सत्कार वाला बनाना आवश्यक है । उसे बहुत कुछुलटना भी पड़ता है । कर्मकाण्ड सीखना और करना पड़ता है । एतेषां की प्रवृत्ति भी उस को धारण करनी पड़ती है ।

*यह विषय सवि पृ० २२८-२३१ में सविस्तार हिन्दी में दिया गया है । वहाँ देखा जा सकता है ।

अतः उस के अध्ययन का काल ग्रन्थों से अधिक और सुसुमारारस्था में प्रारम्भ होना आवश्यक है। आठ वर्ष के बालक में परिपक्वता कुछ अल्प होती है। अतः उस के इस प्रकार के सस्कार डाले जा सकते हैं।

(iv) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवि० पृ० २२८ पर मनु० १०/१०६ के प्रमाण से ब्राह्मण के लिए दान लेना निकृष्ट माना है। परन्तु मनु का यह श्लोक ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों — याजन और अध्यापन को भी निकृष्ट बताता है। वैसे भी यह वर्णन शूद्रों से दान लेने से सम्बन्धित है। अतः यह श्लोक उस काल में मनुस्मृति में डाला गया जब समाज में शूद्रों का सम्मान आज के समान घट गया। अतः इस से उपरोक्त स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

(v) क्षत्रिय के लक्षण ये हैं—

“प्रजाना रक्ष्य दानमिज्याध्ययनमेव च।

निप्रवेष्ट्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥” मनु० १/८६

“शौर्यं तेजो धृतिर्दान्य युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीधरस्वभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥” गी० १८/४३

(vi) ग्यारह वर्ष की आयु में बालक का शारीरिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। इस समय तक उस की क्षत्रियोचित प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है। वह शारीरिक व्यायाम और शस्त्रविद्या आदि सीखने योग्य हो जाता है। ऐसे बालक की ब्रह्मविद्या के प्रति बुद्धि कुछ देर में विकसित होती है। अतः उस के लिए इस आयु का निर्धारण किया गया होगा।

(vii) वैश्य के लक्षण ये हैं—

“पशूना रक्ष्य दानमिज्याध्ययनमेव च।

वणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥” मनु० १/६०

(viii) इस शिक्षा के लिए अधिक प्रौढ़ और व्यवहारकुशल बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसे बालकों का बुद्धि वेदादि की ओर भी कम प्रवृत्ति रखती है। अतः इन के लिए १२ वर्ष का आयु में यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।

ब्राह्मण, राजन्य, वैश्यम्—जन्म से सब बालक समान होते हैं। उन का प्रवृत्तियों का विकास शनैः शनैः होता है। प्रत्येक बालक अपने माता पिता के गुणों वाला नहीं होता। वैसे भी प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था गुण कर्म और स्वभाव के अनुचार होती थी। गुणादि सहज भी होते हैं और अभ्यासमात्र भी। अतः यज्ञारम्भ के समय साचक की प्रवृत्ति और कामना के आधार पर उन की श्रेणी नियत की जाती थी। इसी आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया है।

४ यथामङ्गलमिति—मङ्गलमनुसृत्येति यथामङ्गलम्। वैसे बालक के रित्तम हो। अभिप्राय यह है कि उपरान्त उपनयन की आयु का विधान नितान्त नियमित नहीं है। उस में आवश्यकतानुसार उलट फेर किया जा सकता है।

(ii) इस सूत्र में प्राचीनकाल के इतिहास का अवशेष मिलता है। उस समय सब बालकों की आठ वर्ष या उस से पूर्व ही शिक्षा प्रारम्भ हो जाती होगी क्योंकि प्राचीन भारत जैसे उन्नत देश में कुछ बालकों का ११ और १२ वर्ष तक गुहकुल में पढ़ने न जाने देना बुद्धिगम्य नहीं। हा सकता है बालकों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरान्त उन को विशिष्ट विद्यालयों में भेजने के लिए आयु के ये स्तर निर्णित किए गए हों और कालान्तर में संस्कृति और वदज्ञान के हास होने पर इन स्तरों को उपनयन से सम्मेलन कर दिया गया हो। आज की परिस्थिति में आयु के ये स्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

(iii) कर्क आदि आचार्यों ने यहाँ पर मङ्गल का अर्थ दूसरे आचार्यों के शास्त्रों के विधान किया है, जिन में ब्राह्मणादि का उपनयन क्रमशः ५ वें, ६ ठे और ६ वें वर्ष में बताया गया है। तु० क० मनु० २/३७

‘ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पचमे ।

राज्ञो बलायिनः पष्ठे वैश्यस्यार्थायिनोऽष्टमे ॥’

आपस्तम्ब के विरुद्ध भी विचारणीय है—“अथ काम्यानि । सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्काम नवमे तेजस्काम दशमे अन्नाद्यकाममेकादशे इन्द्रियकाम द्वादशे पशुकाममुपनयेत् ।”

(iii) श्री शुरुदेव के विचार में ‘यथामगलम्’ के दो व्याख्यान हैं—

१. आठ, ग्यारह और बारह वर्ष—इन में से जिस वर्ष को जिस आयु में मुविधा हो उसी आयु में । २. पारस्कर और अन्य आचार्यों के आयु-विधानों में से प्रत्येक वर्ष अपने अपने वर्ष को बैकल्पिक आयुओं में से छाटी हुई किसी एक आयु में । इस प्रकार ब्राह्मण ५वें या ८वें में, क्षत्रिय छठे और ग्यारहवें में और वैश्य ८वें और १२वें वर्ष में उपनयन करा सकते हैं ।

(iv) कुछ आचार्यों ने इस आयुमान के साथ ऋतु का भी विधान किया है—ब्राह्मण का वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का वर्षा (= शरद्) में उपनयन किया जाए । अन्य आचार्यों ने इस का और भी विस्तार किया है और पक्ष, नक्षत्र, राशि आदि का भी विधान माना है । निषिद्ध कालों की कल्पना भी की गई है । देखो गदाधर का भाष्य ।

शूद्रों के उपनयन के विधान के अभाव का कारण

(v) यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शूद्रों का उपनयन क्यों नहीं बताया गया है । इस पर ये विचार उपलब्ध होते हैं—

१. पौराणिक सम्प्रदाय का विचार है कि शूद्रों की उत्पत्ति पैर से होने के कारण वे निकृष्ट हैं । अतः उन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं है ।

२. आर्यसमाज और उस के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का विचार है कि जो व्यक्ति मूर्ख हो, पढ़ने में असमर्थ हो वह शूद्र होता है । ऐसे व्यक्ति के उपनयन का प्रश्न ही नहीं उठता ।

३ स० च० के लेखक मानते हैं कि स्मृतिकारों के मत में शूद्र का कर्म अन्य वर्गों की सेवा करना है। इस के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। मान यह है कि राष्ट्र के समस्त गलत्यों को द्वाहण आदि तीन श्रेणियों में विभक्त करने के पश्चात् जो शेष रहें वे शूद्र होंगे।

४. डा० अग्नेदकर* का मत है कि पहले शूद्र वर्ण नहीं था। आधुनिक शूद्र पहले क्षत्रिय थे। ब्राह्मणों से संपर्क में वे हारे और समाज में पद-दलित और उपनयन आदि से वञ्चित किए गए।

५. परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं मालूम पड़ती। जैसा कुछ विस्तार से इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है वैदिक काल में समाज में अनेक दृष्टियों से विभाजित किए गए थे। उनमें एक विभाग शूद्र और आर्य था। वेद में इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र इसी क्रमसे आने और य० २६।२ के ब्रह्मराज्य के क्रम से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शूद्र आर्यों से श्रेष्ठ होते थे। वे उसी जाति के थे जिस के आर्य। आर्यों के तीन विभाग किए गए— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होते थे वे शूद्र कहलाए जाते रहे होंगे। कालान्तर में ब्राह्मण आदि ने समान उन का भी एक पृथक् वर्ग बन कर चतुर्थ वर्ण के रूप में आर्यसमाज में परिगणित हुआ। साथ ही उन कलमना की विषय परिस्थितियों में वे अपने मध्यकालीन और आधुनिक रूप को प्राप्त हुए।

(vi) अतः प्राचीनतम काल में शूद्रों के पृथक् वर्ण न होने के कारण उन के लिए यहीोर्थात् भस्कार का विधान नहीं किया गया है। उन के पृथक् वर्ण बनने के समय से ही अथवा उस के शीघ्र बाद ही वे समाज में पददलित हो गये होंगे। अतः उस अवस्था में विपत्ती ब्राह्मण उन को उपनयन का अधिकार देने के लिए कैसे तैयार होते। जो शूद्र ब्राह्मणों के आचार के अनुकूल होते थे उन का उपनयन होता था। आर्यस्तम्भ के लेख—“शूद्रा-

‘शामदुष्कर्मणामुपनयनम्’ का भी यही अभिप्राय है। होते होते सब शूद्रों को उपनयन से वञ्चित कर दिया गया।

ब्रह्मभोज

५ **ब्राह्मणानिति**—पूर्वाक्त ब्राह्मण के लक्षणों से स्पष्ट है कि उन के पास आजीरिका का कोई साधन नहीं था। समाज को उन के निर्याह का प्रबन्ध करना आवश्यक था। अतः सर शिष्ट अरसरों पर उन के लिए भोजन और दानादि की व्यवस्था की गई। इस से यह समझा जा सकता है कि वैश्य के कर्म और वृत्ति—वाणिज्य, कृषि, वेतनग्रहण आदि करने वाले ब्राह्मणों के लिए भोजन और दान वैदिक संस्कृति को अभिप्रेत नहीं है। हिंदा अनुवाद इसी दृष्टि से रिया गया है।

(ii) श्री ऋक्षाचार्य के मत में वही ‘भ्रातृ न खाने वाले ब्राह्मण’ अभिप्रेत हैं। परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में भ्रातृ का विधान नहीं है। समादकों में परिशिष्ट रूप में भ्रातृ की विधि अन्य आचार्यों के अनुसार दी है। याद उस में दिये गये भ्रातृ में खिलाने योग्य ब्राह्मणों के गुणों पर दृष्टि डालें तो कोई ऐसा ब्राह्मण शायद ही बचे जा भ्रातृभोजी न हो सके। अतः गुण रहने पर भी जो भ्रातृ न खाए—यही भाव हा सकता है। जयराम इन भ्रातृ व्यतिरिक्त ब्राह्मणों के साथ ही उपनेतव्य बालक को भी भोजन कराना मानते हैं।

(iii) इन भोज्य ब्राह्मणों की संख्या तान बताई गई है।

६. **तच्च**—गदाधराचार्य के विचार में ‘च’ के प्रयोग से ‘भोजनकर्म’ का भाव इस सूत्र में पहले सूत्र से आ जाता है।

ब्रह्मचारी का वेप

६. **पर्युप्त**—परि + वप् + क्त । परि सर्वतः उस मुण्डित शिरो यस्य स पर्युप्ताशिराः, तम् । मुडा हुआ, बाल मटाया हुआ । प्राचीनकाल में सिर मुडवाना शौच और मागलिक कर्म समझा जाता था। अतः भी विशेष उत्सवों पर

लोग बाल छुटाते हैं। अलङ्कृतम्—अस्म/क+क्त। आभूषणों से युक्त। कर्ज - कर्ज माला आदि से अलङ्कृत। रमणीयता के बिना मन किसी विषय में नहीं जमता है। अतः बालक के मन पर सस्कार का प्रभाव डालने के लिए उसे अलङ्कृत किया जाता था। परन्तु ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी धातुनिर्मित आभूषण नहीं पहन सकता था। वेशादि का सस्कार भी निषिद्ध था। अतः यहाँ पर अलङ्कृत स्नान और धौत वस्त्र धारण करने का द्योतक प्रतीत होता है। यही भाव—अवे० ११।७।२६ के—स स्नातो यन्मुः पिग्गलः पृथिव्या बहु रोचते—में है। ऋषि दयानन्द ने सवि० पृ० ८० पर 'प्रातः काल बालक का स्नान करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना ... मिष्टान्न आदि का भोजन करा के' लिख कर यही भाव लिया है। पारस्कर ने भोजन का विधान नहीं किया है। परन्तु कर्काचार्य ने अपने भाष्य में 'शिरसश्च परिवसन भोजनात् पूर्वमेव' कह कर दस० का समर्थन किया है। डा० राजरत्नी पाण्डेय ने लिखा है कि सामान्यतः मुरडन और उपनयन सस्कार साथ साथ होते थे। यहाँ पर पर्युत्तशिरसम् में इस तथ्य का संकेत भी माना जा सकता है। आनयन्ति—आचार्य द्वारा पहले से नियत व्यक्ति अथवा, पितृकुल के व्यक्ति आचार्य के पास लाते हैं। आजकल भी विद्यालय में प्रवेश कराने के लिए और उपनयन के समय पितृ आदि अभिभावक उपस्थित होते हैं।

ब्रह्मचारी को पश्चिम में बिठाने का रहस्य

७ परवाद्गनेः—प्रत्येक शुभ कर्म और सस्कार के प्रारम्भ में प्रार्थना के आठ मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्ति-प्रकरण का पाठ, आचमन, अगस्पर्श, अग्न्याधान और समिधादान के साथ हवन या यज्ञ किया जाता था। इस सूत्र का कार्य सवि० में पृ० २६ तक लिखी हवन की विधि के सदृश हवन समाप्त हो जाने पर प्रारम्भ होता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पश्चिम दिशा का राजा वरुण है,^१ देवता सोम^२। वरुण नियम और व्रत का प्रतीक है^३। सोम^४ शान्ति मन-

सयम और इन्द्रियसयम—शम, दम) का द्योतरु है। यह दिशा सर्ग^{१५} (= देवों = विद्वाना^{१६}) की है। इस दिशा में मानव वायु के समान पवित्र करने वाला हो कर गतिशील होता है^{१७}। ज्ञान विज्ञान का ज्ञाता सविता प्रतीची दिशा का जानता है^{१८}। स्वराज्य की प्राप्ति के लिए परमैश्वर्यशाली और बलवान् राजा (= इन्द्र) का अभिप्रेत पश्चिम दिशा में किया जाता था^{१९}। अथर्वनों (= आर्हिसक विद्वानों) और आगिरसों (= प्राण विद्याविशारदों) की दिशा भी पश्चिम है^{२०}। इसी दिशा में मह (= तेज) स्थित है^{२१}। इधर बैठ कर यज्ञ करने वाला तेजस्वी और यशस्वी होता है^{२२}। इसी लिए ब्रह्मचारों को भी अग्नि के पश्चिम में बिठाने का निधान है।

(iii) इस से यह ध्वनि भी निरुलती है कि तेजस्वियों के पीछे रहने से तेज की वृद्धि होती है।

ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्यव्रत = वेदाध्ययन के नियमों का पालन यथा वीर्यरक्षा, गुरुसेवा, वेदाध्यापन का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और परि प्रश्न आदि। तु० क०—ब्रह्म वेदस्तत्त्वचरणम् (गदाधरभाष्य)।

(ii) ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। प्रकरणोपयोगी अर्थ ये हैं^{२३}— वाक्, सत्य, ऋत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, गायत्री, प्रणव (= ॐ का उच्चारण), ऋक्, मन्त्र, वेद, प्रजापति, बृहस्पति, चन्द्रमा, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण

१. जैउ०. ३।२।१२; अवे० ३।२।७।३. २. तै० ३।१।५।२।
 ३. वरुण सम्राट् सम्राट्पतिः। तै० २।५।७।३। ४. वरुण और सोम के वैदिक वर्णन देखें। वरुण—√वृ से और सोम √सु से है। ५. श० ३।१।१।७। ६. तै० २।२।६।२। ७. श० ६।३।१।१६। ८. तै० २।३।६।६,
 ऐ० १।७। ९. श० ३।२।३।१८। १०. ऐ० ८।१।४। ११. तै० ३।१।२।६।१।
 १२. गो० १।५।१।५। १३. तु० क० ऐ० ८।१।४। १४. देखो वैको० में ब्रह्मपद।

आदि । वाणी, मन, हृदय आदि पर वश, सत्य और श्रुत का पालन, गायत्री आदि का अध्ययन और मनन, प्रणव का सेवन, प्रजापति और बृहस्पति का ज्ञान और उस के गुणों को धारण करना, चन्द्र आदि के गुणों को धारण करते हुए उन का यथोचित उपयोग करना, अग्नि, यज्ञ और प्राण विद्याओं का अध्ययन और यज्ञमय मनना आदि ब्रह्मचर्यव्रत के अन्तर्गत आते हैं । ब्रह्मचर्य के तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और विशिष्ट कर्म सम्पन्न होते हैं—(अवे० ११।७।१८।१९ आदि) । ब्रह्मचर्य की महिमा अवे० ११।७ में विस्तार से वर्णित की गई है । इस का सविस्तार अग्नेयी व्याख्यान भूमान द सरस्वती रचित वैदिकी लोकव्यवस्था तथा कुछ मात्रों का सक्षिप्त भाव सवि० पृ० ६८, ६९ पर देखा जा सकता है । ५० सात-लेकर का अर्थ भी सुन्दर है । वैको० पृ० ३७० ३७२ में ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में सकलित ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य भी देखें ।

आगाम्—आ+√इ लुट् उत्तमपु० एक व० । असानि—√अस् (होना), लोट् उत्तमपु० एक व० । हो जाऊँ, उन जाऊँ । भाव यह है कि आचार्य बालक से कहे—‘ओ३म्, ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहि ।’ इस के उत्तर पर बालक कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचर्यमागाम्’ । अत्र आचार्य कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहि । और बालक कहे—‘ओ३म् ब्रह्मचार्य-सानि ।’ इस समय बालक यज्ञवेदी पर परिचम की ओर आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर क बैठे ।

वस्त्रपरिधान का महत्त्व

८ वास०—वासस् से द्वितीया एक व० (नपु०) । भाष्यकारों ने कारे—विना धुले (=अदृत) वस्त्रों का विधान माना है । तु० क० नित्यमनु पदतया सुमना मुगन्धि स्यात् । चरकतद्धिता । जयराम ने ‘अदृत’ का लक्षण यह दिया है—

“इपद्भौत नव श्वेत सदृश यन्न धारितम् ।

अदृत तद् विजानीयात् सर्वकर्मसु पात्रम्” इति ॥

परिधापयति—परि+√धा+णिच्+लट् प्रथम पु० एक व० । सचं० के मत में वस्त्र पहनाना बालक के मन में आचार्य के प्रति प्रीति उत्पन्न कर देता है^१। वस्तुतः वस्त्र मानव के रूप हैं^२। उन में वह सुशोभित होता है^३। वे ओषधिस्वरूप हैं^४। साथ ही वस्त्र मनुष्य के स्वरूप और स्वभाव आदि के द्योतक होते हैं। अतः आचार्य विद्यार्थी को उस के पाठ्यक्रम के लिए नियत वस्त्रों को देता है। ये ही वस्त्र उसे अपने ब्रह्मचर्यकाल में पहनने हैं। ये वस्त्र ब्राह्मण के शण के, क्षत्रिय के क्षौम के और वैश्य के अग्नि के होने चाहिए। इन का वर्णन आगे सूत्रकार स्वयं करेंगे (देखो सू० ७६)।

९ इन्द्राय—इन्द्र पद√इन्द्र धातु से बनता है। समस्त वीरकर्म इन्द्र से सम्बन्धित हैं^५। वह परमैश्वर्यशाली भी होता है^६। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्र का अर्थ उस क्रिया और प्रकरण के अनुसार करना आवश्यक है जिस में वह प्रयुक्त हो^७। अतः हिन्दी अनुवाद प्रकरणानुसार है।

(ii) पुराणों में इन्द्र नाम का देवताओं का राजा है। उस का मुख बृहस्पति है। ढींकाकारों ने इसी अर्थ को अपनाया है। यह विधि वैदिक काल^८ से चली आती है। यह कथा आर्यानात्मिक और पौराणिक है, वास्तविक नहीं। अपि च—इस विधि का मूल अवे० ११।७।४—७ हैं। इन में ७वें मन्त्र में ब्रह्मचारीमात्र को 'इन्द्र' कहा है—'ब्रह्मचारी जनयन् ब्राह्मणो लोके प्रजापतिं

१. सचं० पु० ४१२। २ श० १३।४।१।१५। ३ श० १।१।२।१६ ४ श० १।३।१।१४। ५. नि० ७।१० ६ तु० क० मघवापद। इस का वैदिक वर्णन भी देखें। ७ देखो वेभाष० ११।३—४। तथा कात्यायन श्रौत सूत्र २।३।१३ और उस पर कर्कमाष्य। ८ यद्यपि अवे० ११।६।२४ में पुराण को वेदादि के साथ उल्लिख्य से उत्पन्न माना है, तथापि अवे० ११।१०।७—

येत आसीद्भूमि पूर्वा यामदातय इन्द्रिदु ।

यो वै तौ विद्यानामया स मन्येत पुराणवित् ॥

के अनुसार वही पुराण वेद के सृष्टिविषयक मूल का द्योतक है।

परमेश्विन विगानम् । गर्भो मूत्रा अमृतम् योनाविद्रो ह मूत्रानुरास्ततर्द ॥^१
अत इन्द्र का भाष्यकारों का अर्थ माननीय नहीं । इसी आधार पर उन का
चूस्सात-पद का अर्थ भी अमान्य है ।

(11) ब्राह्मण ग्रंथों में बृहस्पति को वाणी का स्वामी^१, ब्रह्मपति^२,
ब्रह्मणस्यात^३ कहा गया है । ऋग्वेद^४ में आगिरसों को ऋत (= वेद) का
शसक, दिवस्पुत्र, अमुर के चार रिप और यज्ञ का शता कहा गया है ।
बृहस्पति आगिरसों में है । अन. हिन्दी अनुवाद ।

पर्यदधात्—परि + √धा + लङ् प्रथम पु० एक व० । पहनाते में
अर्थात् पन्नात आए हैं । वैसे भी वैदिक भाषा में भूतकाल की क्रियाएँ सब
कालों का व्यक्त करती हैं । अमृतम्—न मृतम् (√म्रि + लृ) अमृत, मरण
रहित, अपरिवर्तित, अत नियत, निश्चित निर्धारित । ब्राह्मणग्रन्थों में प्रात
इस पद के कतिपय अर्थ इस प्रकार हैं—मृत्यु का वारक,^५ सर्व आयु^६, मोक्ष^७,
आप^८, हिरण्य^९, आदित्य^{१०}, अग्नि^{११} और प्रजापति^{१२} । इन अर्थों की दृष्टि
में ही हिन्दी अनुवाद किया गया है । सच०—दृढ़, नया । भाष्यकार अहत,
कोरा । त्या—त्वाम् । आयुषे आयुत्वाय—आयुपद एकान्त भी और
उकारान्त भी । दोनों पद समानाधिक हैं, परन्तु यहाँ दोनों का एक साथ
प्रयोग बताता है कि दोनों से पृथक् पृथक् भाव अभीष्ट हैं । अथवा आयुप्—
आयु क अभीष्ट भाव को महत्त्व प्रदान करने के लिए भी यह पुनराक्त मानी
जा सकती है ।

(11) ब्राह्मणग्रन्थों में आयु क अर्थ वरुण, अग्नि, सवत्सर, यज्ञ, अन्न,
प्राण आदि दिए हैं^{१३} । वरुण नियमों और व्रतों का द्योतक है^{१४}, अग्नि

१ श० १४।४।१।२। २ तै० २।५।७।४। ३ तै० ३।१।१।४।२

४ ऋ० १०।६।७।२ ५ श० १०।२।६।१। ६ श० ६।५।१।१० ७ गो०

२।१।१३ ८ तै० १।७।६।३ ९ तै० १।७।६।३ १० श० १०।२।६।१।६

११ श० १०।२।६।१।७ १२ श० ६।३।१।१।७ । १३ देखो वैको० में आयुः

पद । १४ ऋ० १।२।५।१।०।

अमरीच, दाहन्त्व आदि का, सप्तसर काल का, यज्ञ निवामहण, तपश्चरण आदि शुभ क्रमों का, अन्न और प्राण शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति आदि के । अतः यज्ञ ये सभी भाग अभिप्रेत हैं । आयुत्वाय—आयोर्मायः आयुत्वम्, तस्मै । वलाय—शारीरिक शक्ति । वर्चसे—ब्रह्मतेज । जयराम इन्द्रियशक्ति, ऐश्वर्य ।

येनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ

(III) समस्त मन्त्र का सं० च० का अर्थ इस प्रकार है—
हे बालक (देव) जिस विधि से (वृहस्पति) गुरु आचार्य ने (इन्द्राय) अपने शिष्य के लिए (अमृत वास) जो जला, पटा, कम चलने वाला न हो ऐसे वस्त्र का (पर्यवधात्) धारण कराया है (तेन) उस विधि से ही (त्वा) तुझे (परिवधामि) मैं सुन्दर वस्त्र पहनाता हूँ (आयुषे) स्वास्थ्य के लिए और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (वलाय) देह में शक्ति आने के लिए (वर्चसे) इन्द्रियों के तेज के लिए वा ऐश्वर्य के लिए ।

(IV) श्री शुकदेव लिखते हैं कि वस्त्र पहन कर ब्रह्मचारी भी आचमन करे । पारस्कर का ऐसा विधान नहीं है ।

१०. मेखलाम्—तगड़ी । जिस प्रकार आजकल धोती को धारण करने के लिए तगड़ी और पतलून आदि का धारण के लिए पेटी पहनी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में मृगचर्म और वल्कलों को धारण करने के लिए मेखला पहनी जाती थी । ब्राह्मण आदि के लिए भिन्न भिन्न मेखलाएँ बताई गई हैं । इन का वर्णन आगे आयेगा । मेखला—सीवते प्रक्षिप्यते कायमध्यभागे । ✓भी+सल् । बध्नीते—✓बन्ध्+लट् आत्मनेपद, प्रथम पु० । धातुपाठ में यह धातु परस्मैपदी है । यहाँ मेखला ब्रह्मचारी को बांधी जानी है । यदि, जैसा माध्यकारों ने माना है, यह मेखलाबन्धन

१. इन पदों की व्युत्पत्ति और ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों के आधार पर व्याख्या ।

आचार्य द्वारा किया गया माना जाये तो दो समस्याएं उपस्थित होती हैं—बन्नीते का फल कर्तृगामी नहीं है, प्रत्युत बालकगामी है। अतः यहाँ परस्मैपद होना चाहिये या^१। दूसरे 'दुष्कृतम्' मन्त्र में 'मे' के स्थान पर 'ते' आना चाहिए था। भाष्यकार गदाधर लिखते हैं कि मेखलाबन्धन आचार्य करते हैं, मन्त्रपाठ यद्यपि पदप्रयोगों से ब्रह्मचारी द्वारा प्रतीत होता है तथापि पदार्थ (= किया) प्रधान है, और मन्त्रपाठ गौण—प्रधानभूतश्च पदार्थ, गुणभूतश्च मन्त्र। उन्होंने ने यह कारिका भी दी है—

“बन्नीयात् त्रिगुणा श्रद्धयामिव दुष्कृतमुचरन् ।
आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न रटोरात्मनेपदात् ॥”

परन्तु 'रटोरा' के आत्मनेपद से भाष्यकारों के निष्कर्ष के ठीक विपरीत भाव निकलना चाहिए—मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी करता है, प्रेरणा आचार्य देता है। ऐसी अवस्था में मन्त्र का किया से गौण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। सूत्रकारों को त्रिया और उस में त्रिनिशुक्त मन्त्रों के अर्थ में एकता नितान्त बान्धनीय है। देखो वेमाप० ११।१—४।

११ वर्णम्—उ० ३।१० में इसे √वृ से नित् न प्रत्यय लगा कर रनाया है। दस० की टीका में इस का अर्थ 'वृश्' भी दिया है। यही अर्थ वहाँ ग्रहण किया है। स० च० ने 'वर्णभाव' अर्थ ग्रहण किया है। इस का आशय है—निन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुणों की प्राप्ति की कामना से र्म दीक्षित हुआ हूँ। मेखला उस गुणग्रहणकामना को परित्र करती है। विश्वनाथानाचार्य ने इस का भाव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्ण अर्थ किया है। मेखला इन तीनों वर्णों को पवित्र करती है। क्योंकि कि तीनों वर्ण ब्रतधारण में मेखलाधारण करते हैं। परन्तु यह अर्थ मन्त्रकार को अमौष्ट रद्द प्रतीत

१. देखो पा० १।३।७२, ७८, सिक्री० २१५८—६। पाणिनीय

धातुपाठ में यह धातु परस्मैपद है।

नहीं होता क्यों कि उस की दृष्टि में प्रजाओं के वेद में वर्णित एक—विश, दो दैवी—मानुष, या, आर्य—दस्यु, या, शूद्र—आर्य आदि विभाग भी थे। उन विभागों की दृष्टि में वे ब्राह्मणादि तरु ही आर्य को सीमित न कर सके होंगे। प्राणापानाभ्यां बलमादधाना—शरीर में यद्यपि दस वायुओं की स्थिति मानी गई है, तो भी प्राण=श्वास से अन्दर जाने वाली और अपान शरीर से बाहर निकलने वाली वायुएँ ही प्रमुख हैं। इन के ज्ञान में सम्पूर्ण प्राणविद्या निहित है। ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें अश्विनौ^१, अश्वर्यु^२, घावापृथिवी^३ आदि कहा गया है। इन दोनों के बलिष्ठ होने पर शरीर भी बलिष्ठ हो जाता है और उस के साथ बुद्धि भी। प्राण और अपान को बश में करने के हेतु ही प्राणायाम किया जाता है। आदधाना—अ+√धा +शानच्, स्त्री० प्र० एक व० स्वसा—विश्वनाथ—बहन। जयराम स्वसुवत् हितकारी। मच० ने दस पद में तुल्योपमा मानकर 'बहन के तुल्य' अर्थ किया है। उ० २।१६ में इस की व्युत्पत्ति—मुष्टु अस्यति दी गई है। अर्थात्—जो शैथिल्य, आलस्य आदि को अच्छी प्रकार दूर करती है यह 'स्वसा' है। निघ० २।५।१३ में इसे अगुलि का पर्याय माना है। अगुलि कर्म करती हैं, वे गतिशील हैं। इसी प्रकार के पद स्वसराणि को निघ० १।६।५ में अहर्नाम, २।४।१० में गृहनाम और ४।२।२२ में पदनाम बताया गया है। पदनामों में सकलित पद गति, प्राप्ति और शान अर्थों के श्रोतक हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ओफ यास्क। अतः वैदिक ऋषियों को 'स्वसा' का गति अर्थ अमोघ है। देवी—जयगम—दीप्तिदात्री (=प्रकाश देने वाली)। विश्वनाथ—दानादि गुणयुक्त। सुभगा—जयराम—सौभाग्य देने वाली। ऐश्वर्य प्रदान करने वाली, कल्याणकारिणी। भाग्य पूर्वजन्म के कर्मों का फल मात्र है। अतः अनुवाद में कर्मफल देने वाली अर्थ किया गया है। मेखला जड़ वस्तु है, उस में फल देने की शक्ति नहीं।

१. श० १२।६।१।१४, २ गो० १।२।१० ३ श० ४।२।१।२२।

यहा पर प्राण के साथ उदान का पाठ है।

परन्तु वह तम नी और प्रवृत्तिविशेष की सूचक है जो पूर्वजन्म के सत्कारों से प्रभावित हैं। अतः ऐसा वर्णन किया गया है।

१० युवा सुधासाः—श्रु० ३।८।४ दस० ने अपने भाष्य में तथा मत्पार्थ प्रकाश प्र० ५३ में इसे समायोजित युवक के पक्ष में लगाया है। हरदत्त ने ब्रह्मचारी के पक्ष में ही लिया है। वस्तुतः यह मन्त्र अनेक प्रकरणों में सगत हो सकता है और तदनुसार व्याख्यान में भेद किया जा सकता है। मूल पद्य के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। इति वा—यह मन्त्र पारस्कर के मत में मौखिकान्धन में वैकल्पिक है। युवा—इस का सामान्य अर्थ 'यौवनावस्था को प्राप्त, जनान' होता है। हरदत्त ने इस की व्युत्पत्ति—√मु मिश्रणे। मिश्रणमनुष्ठानम्। अनुष्ठता किं गम्। सामर्थ्याद् ब्रह्मचारिधर्माणा समिदाधानभिज्ञानार्गादीनाम्। की है। अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत के कर्मों का करने वाला। जयराम के मत में गुणों का इकट्ठा करनेवाला (यौतीति दृष्टा)। अतः नया ब्रह्मचारी जो व्रत का पालन, गुणों और विद्या का ग्रहण करता है। मन्त्र० दृढ शरीर वाला। सुधासा—मु शोभनानि वासासि यस्य सः। जयराम के मत में 'अद्वैत=कोरा' बख्त हो शोभन होता है। हरदत्त के मत में शुद्ध-भाक् बख्त। परिवीतः—परि + वि + √इ + क्त। चारों ओर से विशेष रूप से पिरा हुआ, व्याप्त। हरदत्त—कृष्णाग्नि आदि से परिवेष्टित। जयराम—माला और ग्रामूरण आदि से सजा हुआ। परन्तु अभी उस ने मेरुला और कृष्णाग्नि धारण नहीं की है। उस की वेशभूषा पूरी नहीं हुई है। अतः यहाँ पर 'विद्याप्राप्ति की भावना से भरा हुआ' अर्थ ही प्रकरणोचित प्रतीत होता है। आगात्—आ + √इ लुङ् प्रथम पु० एक व०। जयराम—मेरुला धारण करने के लिए आचार्य के पास आया है। हरदत्त—ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ है। श्रेयान्—हरदत्त विद्या से भेष्ट। जयराम—शुद्ध। सच०—लोगों का कल्याण करने वाला। कठोप० १।२।२ में श्रेय और प्रेय को पृथक् पृथक् माना है। धीर पुरुष श्रेय की कामना करते हैं। अभी ब्रह्मचारी न विद्या से भेष्ट हो पाया है न कल्याणकर्ता। यद्यपि ये

भविष्य के प्रति कामना मानी जा सकती हैं तथापि कठोप० की परिभाषा में 'श्रेय के ज्ञान का अभिप्राय' अर्थ प्रकरसोचित प्रतीत होता है। जायमानः— $\sqrt{\text{जन्}} + \text{शानच्}$ । दस०—प्रसिद्ध हो कर। हरदत्त—ब्रह्मचारी के रूप में उत्पन्न हुआ, क्योंकि हि स्मृति का वचन है—'तेषा मातुरग्रेऽधिजनन द्वितीयं मौञ्जीवन्धनम्।' अथर्ववेद के मत में उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। उपनयन प्रारम्भ होते ही यह गर्भ या जन्म प्रारम्भ हो जाता है। इसी को वेदमन्त्र ने शानच् प्रत्यय से व्यक्त है।—

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृत्सुते गर्भमन्तः।

त रात्रीस्तिस्र उदरे धिर्मतित जात ब्रह्मभिसयन्ति देवाः ॥" अवे० ११।७।३
इसी से उपनीत व्यक्ति को द्विज या द्विजन्मा कहते हैं। ५वें मन्त्र में ब्रह्मचारी को तप से भी उठता हुआ कहा है—

"पूर्वो जातो ब्रह्मणो धर्मं वसानस्तपसोरतिष्ठत् ॥"

ये दोनों ही भाव प्रकरण में अभिप्रेत हैं। अत हिन्दी अनुवाद में ग्रहण किए गए हैं। धीरासः—वेद में पुल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन में देवा और देवास दो रूप होते हैं। धी+र (मत्तुप् के अर्थ में)। प्रज्ञावान्, बुद्धिमान्। जयराम—स्थिरप्रज्ञा (स्थिरप्रज्ञाः ?)। विश्वनाथ—परिष्ठिता। षचं०—बुद्धिपूर्वक कार्यरुर्चा। कालिदास—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीराः। श्रु० ४।३१।२ में धीर का लक्षण विद्याग्रहण, बुद्धि आदि के लिए पुष्टि धारण करनेवाला किया है—धीरास पुष्टिमवहन् मनसै (दस०—मन्तव्यायै विद्यायै— $\sqrt{\text{मन्}}$ विचारना से)। श्रु० ४।३६।७ में कवि और विपश्चितों को धीर कहा है—'धीरासो हि ध्या कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि'। अत धीरों को वेदज्ञान की गरिमा से ही पहचाना जाता है। कवय—कौति शब्दयत्पुपदिशति स कवि। मेधावी विद्वान्। कान्त-दर्शनो वा। (उ० ४।१३६ में दस० का भाष्य)। $\sqrt{\text{कु}} + \text{इ}$ । तत्त्वदर्शी

विद्वान् । वेदभाष्य में दस०—अनूचाना विद्वान् । ब्राह्मण ग्रन्थों में कवि को वेदोपदेशक, ऋषि, बहुभुत विद्वान् और आदित्य (ब्रह्मचारी) कहा है । ऋ० १।१६।६ में कवियों का जानने वाला, विशिष्ट ज्ञानवान् (=चिकित्सुष) कहा है । ऋ० ६।३६।१ में कवि के गुण मद्र, दिय वहि (=धारक), विप्रमम और मधुवचन दिए गए हैं—‘मद्रस्य कवेर्दिव्यस्य बह्विप्रममनो वचनस्य मध्व ॥’ स्वाध्य—दस० (वेदभाष्य)—अच्छी प्रकार विद्या का आधान करने वाले (सु+आ+√धा से) । सप्र०—अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (सु+आ+√ल्यै से) । जयराम—शोभन चित्त की शक्ति वाले । हरदत्त—कल्याणचित्त । ऋ० १।७२।८ में ऋत के शाताओं को स्वाध्य कहा है । ऋ० १।१५।१ में वाणियों में परा विद्या के जानने के इच्छुक और अभ्यापन यज्ञ में कर्मों द्वारा ब्रह्मचारी के मन या प्राणों में ज्ञान उत्पन्न करने वाले ‘स्वाध्य’ कहे गये हैं—‘मिष न शिष्या गोषु गम्यव स्वाध्यो विदये अप्सु जीजनन् । अत दिदी अनुवाद । मनसा—दस०—विज्ञान या अन्तःकरण से । जयराम—मनोवृत्ति से । मिथनाय—मनोव्यापारों से । देवयन्त—देव ब्रह्मचारिण इच्छन्त इति । देव से नामधातु । लौकिक संस्कृत में नामधातु आत्मच्छा में प्रयुक्त होते हैं । यद में परेच्छा में भी प्रयोग पाया जाता है । तु० क०—छदसि परेच्छायामिति वक्तव्यम् । पा० १।१।८ पर वार्तिक । जयराम—वेदाध्य शपन करते हुए । दस० सप्र०—विद्यावृद्धि की कामना युक्त । वेभा०—कामना करते हुए । हरदत्त—देवताओं के लिए यज्ञ करने के इच्छुक अथात् भौत और स्मार्त कर्मों में लगे हुए मन वाले । सच०—देवभाव की कामना करने वाले विद्वान् ।

युवा सुवासा का विनियोग

(॥) दस० ने सवि० में इस मन्त्र के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारी को आचार्य द्वारा दो कौपान दो अंगोष्ठे, एक उत्तरीय और एक कटियत्र दिये जाने का विधान माना है । परन्तु पास्कर का मत ऐसा नहीं है । वे इस मन्त्र को बवल मेखलामघन में विकल्प रूप से उपस्थित करते हैं ।

(iii) श्री शुकदेव लिखते हैं कि इन दोनों मन्त्रों को ब्रह्मचारी पढ़े । यह ठीक नहीं । अर्थ के अनुसार इयं दुरुक्त आदि को बालक और युवा सुवासः को आचार्य पढ़े ।

१३. तूष्णीं वा—उपरोक्त दोनों मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण किया जा सकता है । अथवा मेललाबन्धन बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किए ही किया जा सकता है ।

१४. अत्रेति—यह सूत्र गुजराती प्रेस और प० शुकदेव के संस्करणों में नहीं है । इस के आगे के 'यज्ञोपवीतम्' आदि मन्त्र से 'दधेऽहमिति' (१५-१७) तक कोष्ठकों में उपलब्ध होता है । जयराम लिखते हैं कि पारस्कर ने इन दोनों कर्मों—यज्ञोपवीत धारण और अग्निप्रदान का विधान नहीं किया है । अतः परम्परा से प्रचलित होने से आचार के अधिरोध के कारण इन दोनों कर्मों को अन्य शाखाओं के मन्त्रों से सम्पन्न करते हैं । तु० क०—

“यन्नास्मात् स्वशाखाया परोक्तमविरोधि च ।

विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयः अग्निहोत्रादि कर्मवत् ॥” कात्याय० श्लोक ३०

यज्ञोपवीतम्—जयराम—यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतं रचितम् । यज्ञ या वैदिक कर्मों के लिए निमित्त । (√यज् + नङ् । उप + वि + √ह + क्त) । अतः यज्ञ के लिए दीक्षा का द्योतक चिह्न । वैदिक संस्कृत में यज्ञ का महत्त्व यज्ञ भारी है । यह मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है । इसी लिए ऋग्वेद के यज्ञसूक्त में कहा है—‘यो यज्ञो विश्वतस्तन्नुभिस्ततः । (ऋ० १।१३।०।१) यह ही स्वर्ग है और मानव द्वारा सम्पन्न होता है । (मन्त्र २) । ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अनेकविधि अर्थ और व्याख्यान दिए गए हैं । यथा—ग्राण, अन्वर (—हिंसा-रहित), नमः, भगः, ऋत की योनि, महिमा, महान् देव, बृहन् विपश्चित् । अर्यमा, वसु, स्वः, मुख. श्रेष्ठतम कर्म, विद्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, देवों की आत्मा, अन्न, देवरय, अग्नि, वाक्, वायु, सवत्सर, सविता, यजमान,

आत्मा, पुरुष, पशु भुवन की नाभि, अनुसू, आपसू, रेतः, विराट्, आहुति आदि । दस० ने अपने भाष्यों में इसी प्रकार के 'अनुसू' अर्थ इस पद के किए हैं । सत्त्व में जिस उत्तम कर्म में देवपूजा (—विद्वानों की सेवा, मत्सर, उन से ज्ञानप्राप्ति आदि), सगतिहरण (—दो पदार्थों, भावों, स्थितियों आदि का नाशभरण) और दान २ मात्र पाए जाएं वही यह है । इस दृष्टि से अध्ययन, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन आदि यशकर्म होते हैं । ये ही यहा प्रथित हैं । अग्नि में आहुति डालना रूप यह उपरोक्त प्रकार के यश का क्रियात्मक ध्यान दिलाने वाली प्रतीक है जो सदैव मानव को परोपकार के लिए अपने जीवन का आहुत करने का सन्देश देती है । यजुर्वेद का अध्याय १८ भी देखें । ऐसे यश में दीक्षित हुए बिना राष्ट्र का समुचित बहन सम्भव नहीं । अतः प्रत्येक बालक को उस में उपनत किया जाता था । इस युग में दस० और आर्यसमाज ने पुनः इस प्रणाली को प्रवृत्त किया है ।

१५. परमम्—पर ब्रह्मा मोक्षते शप्यते तेन वास्वपदेशाधिकारित्वात् (जयरामः)—जिस से परम आत्मा का परिचय मिलता है । भाव यह है कि यथावशांत धारण करने पर बालक ब्रह्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी हो जाता है । निश्चिनाय—असाधारण, अत्यधिक । पवित्रम्—शोधक, पावन । क्या कि यह मनुष्य को सत्कर्मों में प्रेरित करता है । अथवा, पवित्र कर्मों का प्रतीक होने से गौरवृत्ति से इस का पावनत्व है । प्रजापतेः—जयराम—ब्रह्मण । ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति को यश भी कहा है । प्रकरण में यही अर्थ हर से अधिक गम्भीर ज्ञान पड़ता है । सहजम्—सह जायते, तम् । जयराम—स्वभावशुद्ध । इस अर्थ में प्रजापति में ह्युत्प्रेषमा मानने पर अर्थ में विशेष सौंदर्य आ जाता है । प्रजापति का अर्थ 'यश' करने पर 'सहज' का स्वाभाविक अर्थ 'साथ उत्पन्न' किया जा सक्ता । पुरस्तात्—जयराम—पश्चेत् से ही उत्पन्न । निश्चिनाय—ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से उत्पन्न । आयुष्यम्—आयुषे हितम् आयुष्यम् । आयु । अम्यम्—अग्ने मयम् । प्रसुप्त । प्रविमुञ्च—प्रति + मुञ्च्, सोना, पहनना । उत्तम पुरुष के स्थान

पर मध्यम पु० का प्रयोग हुआ है। शुभ्रम्—निर्मल करने वाला। बल—धर्मसामर्थ्यप्रद।

यज्ञोपवीत परमं मन्त्र का अर्थ

(11) इस मन्त्र का सन्कात्वादिका का अर्थ कुछ भिन्न है, परन्तु मिलता जुलता है। यह इस प्रकार है—

‘हि बालक (यज्ञोपवीतम्) “यज्ञाय यज्ञकर्मणे—वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतम्—उपरिवीतम्—परिहितम्” वेदोक्त कर्म में अधिकारी बनने के लिये जो कन्धे के ऊपर रक्खा जाय इस “ब्रह्मसूत्र” को और जो (परमम्) परः आत्मा, मीयते—शायते अनेन, परमात्मा के ज्ञानप्राप्ति का सूचक है (पविनम्) शुद्धि के ज्ञान की सूचना करने वाला (यन्, प्रज्ञापते, सहजम्) जो ईश्वर से स्वभावसिद्ध उपदिष्ट है। (पुरस्तात्) पूर्व काल से चला आता है (आयुष्यम्) आयु के लिए हितकारी (अग्र्यम्) मुख्य है, ऐसे इस “ब्रह्मसूत्र” को मैं श्रान (प्रतिमुञ्च) बाधता हूँ (युक्पण्यत्ययस्त्वान्वस) (शुभ्र यज्ञोपवीतम्) यह निर्मलता का बोधक यज्ञोपवीत (बलम्) बल देने वाला और (तेजः) तेज देने वाला ईश्वर करे कि (अस्तु) होवे। हे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतम्, अस्मि) तू यज्ञोपवीत है (त्वा) तुम्हें (यज्ञस्य) यज्ञकार्य के लिए ही (ग्रहण करता हूँ) और मैं स्वयं आज (यज्ञोपवीतेन) यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) बाधता हूँ।” पृ० ३६५।

श्री शुक्रदेव ने यहाँ भी दो आचमनों का विधान किया है।

१६ अथाजिनम्—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यह विधि पारस्कर द्वारा प्रोक्त नहीं है। अजिनम्—अजति गच्छति क्षिपति वा स्तु। उ० २।४८ दस० की टीका। ‘चीता, शेर और हाथी आदि का और विशेष कर काले बिरन का रोंप दाग चमड़ा।’ (सशकौको०)।

(11) अजिनदान के समय पढ़े जाने के लिए तुरन्त आगे दिये मन्त्र के उत्तरार्द्ध—‘वसनम्.....अजिन दधेहम्’ से स्पष्ट है कि यह अजिन वस्त्र

रूप में प्रयोग करने के लिए दी जा रही है, पारस्कर वासुपरिवान पहले ही सूत्र ८-६ में करा चुके हैं। अतः यह अजिनदान पूर्वोक्त प्रयोजन से व्यर्थ है। विश्वनाथ के मत में यह अजिन यज्ञोपवीत के पश्चात् (अर्थात्—ऊपर) धारण की जाती है।

१७. मित्रस्येति—मिते दुःखात् त्रायते असौ मित्रः। वेद में देवतावाचक मित्रपद पुल्लिङ्ग है। उ० ४।१६४ में इस की व्युत्पत्ति 'मिनोति मान्य करोति' दी गई है। मुहूर्त्त-वाचक मित्रपद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ—'सब का मित्र, सत्य का जनयिता और स्वामी, ब्रह्म, क्षत्रपति, अग्नि, प्राण, लोकरक्षक, वायु, सगव, दिन, जलहीन ओषधियाँ, अपने आप गिरी वृक्षों की शलाघं, पयः, अर्धमास, (= कृष्ण और शुक्ल पक्ष) आदि दिए हैं'।

(ii) यजुर्वेद २४।३६ में 'एसी का सम्बन्ध सपों से बनाया है। सर्प के अर्थ देव^२ और लोक^३ हैं'। मित्र लोकों का रक्षक है। दूसरी ओर य० ३४।८ में 'एनी को मित्रसम्बन्धी बताया है। अतः अजिन को मित्र की चक्षु के समान वर्णित किया गया है। चक्षुः—इस का लुप्तोत्पत्ति भी किया जा सकता है और अजिन का समानाधिकरण विशेषण भी। धरणम्—धारयतीति 'धरणम्'। √ धृ + ठन्त्। धारण करने वाला॥ वस्त्र शरीर की गर्मों-सर्दों से रक्षा करने के कारण 'धरण' कहलाता है। तेजः—तेजस्वि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथवा इसे अतिशयोक्ति मान कर 'वसनम्' का विशेषण भी माना जा सकता है। स्थविरम्—तिष्ठतीति स्थविरम्। √ स्था + किरच्। ठहरने वाला, दृढ़, मका। समिद्धम्—सम् + √ इन्ध् + क्त। प्रदीप्त। अनाहनस्यम्—आ + √ हन् = आहनम्, तन् आत्मन इच्छतीति आहनस्यम्। न आहनस्यम् अनाहनस्यम्। ओ म० मो० मिलियन् ने इस के अर्थ मित्र, शुद्ध, शिष्ट दिए हैं। अजिन ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के व्रत

का स्मरण दिलाने के कारण पवित्र मानी गई है । जरिष्णु— $\sqrt{\text{जृ}} + \text{इष्णुच्}$ । जीर्ण होने के स्वभाव वाला । अर्थात् चिरकाल स्थायी । परि दधे—वैदिक भाषा में प्रधान वाक्यों में उपसर्ग और क्रिया का प्रयोग स्वतन्त्र पदों के रूप में होता है । अतः यहाँ दोनों एक दूसरे से पृथक् भी हैं और बीच में दो पद भी आए हुए हैं । वाजि— $\sqrt{\text{वज}} (\text{जाना}) + \text{घञ्} = \text{वाज}$ । वाज+इनि=वाजिन् । नपु० द्वितीया एक व० । वाज के अर्थ^१ अन्न, वीर्य, ओषधियाँ, पशु, स्वर्ग लोक, ज्ञान, प्राप्ति आदि होते हैं । अतः वाणि—ज्ञान और शक्ति सम्पन्न । उस से ज्ञान और शक्ति की प्रतीक ।

१८. दण्डं प्रयच्छति—दण्डदान का विधान पारस्कर ने अन्य आचार्यों के समान किया है । दण्ड—यद् $\sqrt{\text{दम्}} + \text{ड} = \text{दाम्यन्त्युप-शाम्यन्त्यनेन स दण्डः}$ । उ० १।११४। शान्त करने वाला । इत्ते $\sqrt{\text{दण्ड}} + \text{घञ्}$ से भी बनाया जा सकता है । यह न्याय और अनुशासन का प्रतीक है । महाभारत में दण्डनीति का सुघिष्ठिर और अर्जुन के सचाद के रूप में एक सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत किया गया है । धर्म, तप, व्रत, आदि सब का रक्षा दण्ड से होती है । सामान्य दृष्टि से भी आरक्ष्य जीवन में ब्रह्मचारी को रक्षा के लिए हर समय अपने पास दण्ड रखना आवश्यक था ।

(ii) दण्ड देते समय आचार्य कुछ नहीं बोलता है ।

(iii) दण्ड की लकड़ी और मान के विषय में आगे सू० ८६—९० में पारस्कराचार्य ने श्रम विवरण प्रस्तुत किया है ।

२० वैहायसः—विशेषण श्रमति गच्छति, हाययति गमयतीति वा इति विहायः । (देखो अकोशु० १।२।२; और २।५।२२) तस्य अयमिति वैहायस । वि+ $\sqrt{\text{ह्य}} + \text{अमुन्}$ । उस से अण् प्रत्यय । विशेष रूप से गति शील । दण्ड स्वयं तो गतिशील नहीं है, परन्तु प्रयोक्ता द्वारा गतिमान् कर दिया जाता है । इस में दण्ड के सब पर प्रभुत्वशाली होने का भाव लक्षित

१. देखो वैको० में वाजपद ।

हो रहा है। अधि—सप्तमी और माघान्य का चोतक है। प्रकरण में यह पद दण्ड की सप्त पदांशों में श्रेष्ठता और शक्तिमत्ता का चोतक है। भूम्याम्—भवति इति भूमि। अक्रोमु० २।१।२। होने वाले, विद्यमान, सत्ताधारी पदार्थ, स्थिति भाव आदि। पुनः—भाष्यकार जयराम लिखते हैं—‘पुनः ग्रहणात् सोमदीक्षाया या दण्डा प्राज्ञ तमप्याददे इत्याशयनम्’ अर्थात्—जो दण्डा सोमदीक्षा में ग्रहण किया जाता है उस को भी ग्रहण करता है यह भावना ‘पुनः’ शब्द के प्रयोग से प्राप्त होती है। परन्तु अगले सूत्र ‘दीक्षावदेकः’ से यह मुख्यतः है कि पारस्कराचार्य यहां पर ग्रहण किये जाने वाले दण्डों के सोमदीक्षा के दण्डों से सम्बन्ध को प्रशस्त नहीं मानते हैं। अतः यहां पर ‘येनेन्द्राय बृहस्यति’ आदि मन्त्र के समान पूर्व काल के ब्रह्मचारियों की परिपाटी की ओर संकेत मानना उचित प्रतीत होता है। ब्रह्मवर्षसाय—जयराम ने इस का अर्थ ‘याज्ञनाभ्यापनोत्कर्षतेजसे’ किया है।

२१ दीक्षावदिति—कुछ आचार्यों का विचार है कि जिस प्रकार सोमयान में दीक्षा लेने वाला दण्डों को चुपचाप ग्रहण कर के कात्यायनभूत प्लवठित—“उच्छ्रयस्व वनस्पते ऊर्ध्वं मा पाह्यस्व आस्य यत्स्योद अच” (य० ४।१०, का० य० ४।१३) इस मन्त्र को पढ़ कर ऊपर उठाता है, उसी प्रकार यहां भी चुपचाप, बिना ‘यो मे दण्ड आदि मन्त्र को पढ़े दण्डा ग्रहण करे और ‘उच्छ्रयस्व वनस्पते’ आदि मन्त्र से ऊंचा उठाए’।

(११) इन आचार्यों की युक्ति यह है कि श्रुति का कहना है कि ‘दीर्घसत्र

१. शुक्रदेव वर्मा की टीका में आ३म् सुसत्या कुरीत्कृधि। य० अ० ४

म० १०। इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा कर ‘ओ३म् उच्छ्रयस्व वनस्पते’

“इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा पर दण्ड के मूल को खड़ा कर उसे दाहिने हाथ में ग्रहण करे।” —यह विधान दिया है। तु० क०—भूमौ चोल्लितलति

सुसत्या इति सुलसम्मितमौदुम्बर दण्डं प्रयच्छति उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति। त

दक्षिणेनापधत्ते ॥ का० औ० ७।६४-६७।

वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ।' अर्थात् जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करता है वह दीर्घसत्र में दीक्षित होता है। भाष्यकारों का कहना है कि यहा सोमयाग और ब्रह्मचर्यव्रत दोनों में दण्डधारण किए जाने के कारण ही ब्रह्मचर्यव्रत का दीर्घसत्र से साम्य बताया गया है। अगर ऐसा ही है तो सोमयाग की दीक्षा के समान दण्ड धारण न करना चाहिए, बल्कि 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिए। भर्तृहरि, कर्क और जयराम के मत में यहा पर दीर्घसत्र का कथन इस लिए किया है कि ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि भी बहुत लम्बी होती है। गदाधर लिखते हैं कि दीक्षा के समान दण्डग्रहण के पक्ष में वामुदेव, फारिकाकार और हरिहर हैं।

(iii) कात्यायन श्रौतसूत्र के 'उच्छ्रयस्व' आदि मन्त्र का अर्थ यह है—[वनस्पते] हे दण्ड, [ऊर्ध्वः] (मेरे उठाने पर तुम) ऊँचे [उच्छ्रयस्व] उठो। [मा] मुझे (आचार्य, राजा आदि के दण्ड का स्मरण करा के) [अंहसः] पापों से (और दुष्टों पर प्रहार कर के) विपत्तियों से [पाहि] बचाओ। [आ] सब ओर से [अस्य] इस [यज्ञस्य] यज्ञ (के समान मुझे) [उद्वचः] तेजस्वी बना दो।

(iv) वनस्पते—ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ^१ अग्नि, प्राण, पयोभाजन दिए हैं। अवे० ८।७।१६ में इसे ओषधियों का राजा कहा है। वन^२ √ वन् से बनता है, जिस के अर्थ 'प्रतिष्ठा करना, पूजन करना, सहायता करना, काम में लगना, खोज करना, मागना, जीतना, बश में करना, अनुग्रह करना आदि हैं। पति √ पा रक्षा करना से निष्पन्न होता है। अतः वनस्पते का प्रयोग यहा सामिप्राय है। कमनीय, सहायक, सम्मानित करने वाला, विजयी आदि भाव यहा अभीष्ट हैं। वेदमन्त्रों में 'वनस्पति' के वर्णन भी ध्यान देने योग्य हैं।

१. देखो वैको० में वनस्पति-शब्द। २. तु० क० वानरपद—वनस्पत्येदं वान, तद्राति इति वानरः—कमनीय गुणों का धारक। अकोसु० २।५।३ भी देखें।

जल से अञ्जलि भरना और उस का रहस्य

२२. अथास्येति—जलों से अपनी अञ्जलि भर कर उस के जल को ब्रह्मचारी की अञ्जलि में छोड़ता है। ब्राह्मणों में 'आप.' के अर्थ 'सब कामनाओं के प्रायक, उस पुरुष से उत्पन्न, प्राण, अमृत, शान्ति, ओषधीना रसः, सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धा, मेघ्य, अन्न, रक्षोघ्नी, वज्र, वीर्य, अर्क, द्यौ, यज्ञ, रेतस्, पशवः, सब देवाः, देवाना प्रिय धाम, शूद्रों का भक्त, योगा' दिए हैं। इस अञ्जलिपूर्ण क्रिया में इन अर्थों के अनुरूप भाव अनिष्ट हैं। इस क्रिया द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को शुद्ध और सत्य भाव से ब्रह्मचारी को धदान्वित सत्य का अभिलाषी आदि समझ कर सम्पूर्ण ज्ञान दे कर उसे सब कामनाओं का प्राप्त करने में समर्थ, अनृत, शान्ति, सप्राण, रसयुक्त (तु० क० अवे० ५।१६।१—११) सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धागन्, मेघ्य अन्नगन्, रक्षोघ्ना, वज्रवत्, वीर्यगन् आदि बनाने को प्रतिष्ठा करता है। वह ब्रह्मचारी का अपना समस्त ज्ञान आदि उसी प्रकार सन्निहित करेगा जिस प्रकार जल एक अञ्जलि से दूसरी में चला जाता है। इस क्रिया में 'पुनरात् शिष्यान् वा पठानयेत्' का भाव भी लक्षित होना प्रतीत होता है।

(II) सच० का विचार है कि यहा पर आचार्य यह मानना प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी की अञ्जलि कभी मिद्वान्न से खाली न रहे और आचार्य मिद्वान्न में प्राप्त अन्न को सहर्ष ब्रह्मचारियों को देगा। यह भाव भी अच्छा है परन्तु सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं है।

२३. आपो हि धेति—इन तीन मन्त्रों के अर्थ ये हैं—

आपो हि धा (५० ११।५०)—[हि] निश्चय से [आपः] जल [मयोभुवः] सुखकर [स्थ] हैं। [ता] के [न] हमें [ऊर्जे] अन्न (और) [महे] महान् [रण्याय] आनन्ददायक [चक्षुसे] ज्ञान के लिए [दधातन] धारण करें ॥१॥

(II) मान यह है कि जल शान्ति, सत्य, पावनता, अन्न यज्ञ और ज्ञान आदि के प्रतीक हैं। उन से हम अन्न, ज्ञान और सुख प्राप्त करने में गतिशील होने की प्रेरणा लेते रहें।

यो वः शिवयमः (य० ११।५१) का अर्थ

(11) [वः] (दे जलो) आप का [यः] जो [शिवतमः] परम कल्याणकारी [रस] रस (=सार) है, [इह] यहा [न] हम को [तस्य] उस (रस) का [उशती] कामना करता हुई (अर्थात्—प्रेमप्रवी) [मातर] माताओं के समान [भाजयत] भागी बनाओ ॥२॥

तस्मा अरं गमाम (य० ११।५२) का अर्थ—

(12) [यस्य] जिस (अज्ञान, पाप और अभाव आदि) के [क्षयाय] नाश करने के लिए (आप हमें) [जिन्वथ] गतिशील करते हैं [तस्मै] उस (अज्ञान आदि के नाश) के लिए (हम) [वः] आप को [अरम् गमाम] पूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं। [च] और [आपः] जल [नः] हम का [जनयथ] (ज्ञान आदि से सम्पन्न) कर दें ॥३॥

(१३) महे—महते । महान्, भारी पुष्कल । रसाय—रमणीय, आनन्ददायक । चक्षसे—√चक्ष् + अमुन् । देखने के लिए, अतः ज्ञान के लिए । रसः—वस्तु का सार ही रस कहलाता है । भाजयत—√भज् + शिञ् + लोट् मध्यम पुरुष बहु व० । भागी बनाओ, प्राप्त कराओ, अतिशारी बनाओ । उशतीः—√उश् + शन् + डीप् + ली० प्रथमा बहु व० । वैदिक रूप । चाहती हुई, अतः सिग्ध । क्षयाय—निवास और नाश दोनों अर्थों में इस की योजना की जा सकती है । दस० और सच० ने निवास अर्थ लिया है । स० ने नाश । जिन्वथ—लौकिक भाषा में यह वृत्त्यर्थ में आता है । निघ० २।१४।८६ में यह गतिकर्मा है और निघ० ४।१।१०२ में पदनाम है । अतः इस के गति, ज्ञान और प्राप्ति—अर्थ होते हैं । निघ० भी देखे । जनयथ—सायण आदि ने इस का अर्थ प्रजा से समृद्ध करना

१. देखो हमारा लेख—दयानन्द एण्ड दी निपण्टु और यादव, तथा वेमाप० ३०।२-४६ ।

लिया है। परन्तु यह प्रकरण में उतना उपयुक्त नहीं है नितना हिन्दी अनुवाद का अर्थ।

२४ सूर्यमुदीक्षयति—सूर्य का दर्शन कराता है। सूर्य को चराचर को ग्रामा माना है—‘सूर्य ग्रामा जयतस्तत्स्थपम्^१ ।’ वह दोनों का विचित्र अनोक है, और मित्र, वरुण और अग्नि का चक्षु है। —‘चित्र देवानामुदगादनीरु चक्षुमित्रस्य वरुणस्यामे^२ ।’ ब्राह्मणग्रन्थों में सूर्य के अर्थ आदित्य, वृहत्, इन्द्र, पृथा, सविता, धाता, ब्रह्मणस्पति, पिता, भर्ता, गोपा, नृपत्, यम, परीरजा, बाजपेय आदि दिए हैं। सूर्य का दर्शन इस प्रकार के गुणों के प्रदण करने की भावना धारण करने तथा चिरायु की कामना के लिए कराया जाता है।

तद्यत्तुर्वैधित्त (य० ३६।२४) का अर्थ

२५. तद्यत्तुरिति—इस मन्त्र का अर्थ यह है—[वैधित्तम्] विद्वानों को (आरोग्य प्रदान आदि और अनुमति देने के कारण) दितकर [तत्] यह (मित्र, वरुण और अग्नि अथवा लोक^३ की) [शुक्रम्] स्वच्छ, तेजस्वी, शुभ्र [चक्षु] (देखने का साधन होने से) आर (के सदृश) [पुरस्तात्] पूर्व दिशा में [उच्चरत्] उदित है। (उस की सहायता से अथवा उस को हम) [शतम्] सौ [शरद] वर्षों तक [पर्यंम] देखते रहें [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [जोवेम] जीवित रहें, [शतम्] सौ [शरद] वर्षों तक [शृणुयाम] सुनते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [प्रव्रवाम] बोलते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [अटीनाम] स्वतन्त्र और समृद्धिसम्पन्न [स्याम] रहें [च] और [शतात्] सौ [शरदः] वर्षों से भी [भूयः] अधिक (देखते, जीते, सुनते, बोलते और अदीन रहें)।

१ ऋ० १।११।१ २ वही। ३. ब्राह्मणों में मित्र आदि को ‘लोक’ भी बताया गया है। देखो श० ६।५।४।१४, ता १।४।२।४, श० १२।६।२।१२ और श० १५।६।१।१४।

(ii) सूर्य ब्रह्म की शक्ति से संचालित होने के कारण उस का प्रतीक है। सूर्य-यद स्वयं ब्रह्म का भी चोतक है। अतः दस० ने पञ्चमहायज्ञविधि में दस का अर्थ ब्रह्मपरक किया है। सा०, उवट और महीधर ने सूर्यपरक लगाया है। उवट ने देवहितम् का अर्थ 'देवताओं द्वारा स्थापित' किया है। इस प्रकरण में इसे सूर्यपरक लगाना ही उचित है। हाँ, उस के साथ-ही-साथ ब्रह्मपरक अर्थ की योजना भी आवश्यक है। तब ही इस क्रिया का पूर्ण अभिप्राय सिद्ध होता है। अतः दस० का अर्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है—

(iii) “जो ब्रह्म सच का द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता और सच जगत् का करने वाला है उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, सुनें, उसी ब्रह्म का उद्देश करें, और उस की कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें, जायें, सुनें, सुनायें और स्वतन्त्र रहें अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्धमन और आनन्द सहित हमारी आत्मा सदा रहे।”

७७. समप्रतेमन्त्र का संवि० में दस० का अर्थ यह है—“हे शिष्य बालक तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूँ। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुन कर उस के अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति, परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य! आप के हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र हो के सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रखे।” पृ० ८५

(ii) ज्ञते—ज्ञत का अर्थ नियम, शासन आदि भी होता है। वही यहाँ अभिप्रेत है। दस० ने य० ४।११, और १६।३६ में यही अर्थ लिया है ते हृदयं दधाभि—जब तक बालकों का आचार्य के नियमों के प्रति आदर

भाव न हो, तब तक वे उन का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। चित्तम्—✓चित् जानना से। इस का अर्थ 'मन, हृदय' भी किया जाता है। परन्तु यह भाव प्रथम पाद में आ चुका है। इस समस्त सत्कार में ज्ञान ही प्रधान विषय है। अतः यहां पर 'ज्ञान' अर्थ ही लिया गया है। नियुनक्तु—भाष्य यह है कि शिक्षाकाल में तुम निरन्तर मुझ से शिक्षा ग्रहण करते रहो, उस में प्रमाद और व्यवधान न हो।

२८. आयास्य—पा० मे०। सामान्यतः 'अथ' का प्रारम्भ में प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह पाठ ठीक नहीं है। इसे आ और अथ की सन्धि भी माना जा सकता है। इस पदच्छेद में 'आ' की अर्थ में कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इसे 'गृहीत्वा' के साथ ही लगाया जा सकता है। सू० ३० में भी यही स्थिति है। वहां पर 'आ' की 'आइ' से सम्बद्ध करना होगा। हस्तं गृहीत्वा—इस से आचार्य की ब्रह्मचारी के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है। को नामासि—क नामा अस्ति। नाम अस्य अस्तीति नामा। कौन नामवाले हो—किस नाम के हो—क्या नाम है। नाम का मानव के मस्तिष्क पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाम पूछने से परिचय बढ़ता है और उस नाम के अर्थ का भाव अंकित होता है। 'क' सुख का भी द्योतक है और प्रजापति का भी। योनां ही अर्थों को संकेतित करने के लिए इस प्रकार की रचना की गई है—तुम सुखमय प्रजापति के सदृश जिस नाम वाले हो।

२९. अस्तावहम् भो३—इस के अन्त में ब्रह्मचारी अपने नाम का उच्चारण करे।

३१. इन्द्रः—जयराम इसे ✓इदि परमेश्वरों से व्युत्पन्न कर इस का अर्थ 'प्रजापति' करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अर्थ 'सूर्य, आदित्य, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, राजन्य, क्षत्र, अश्विन, स्तनयितु ब्रह्म, प्रजापति, वीर्य, वृषा, रेत, उद्गाता, अहोमुख, अथ आदि दिए हैं। यह ऋग्वेद के धर्म में प्रमुख देवता है। इसे विभिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया

गया है। ऋ० १।१३६।६ में इन्द्र 'अग्नि का विशेषण है। पुनरुक्त ऋगशा में इस का तादात्म्य अग्नि, इन्द्र, सोम और विष्णु से पाया जाता है। देखो वेभाष० ४।१४६-१५०, परिशिष्ट ७।७-१०, १३। अतः यहाँ 'इन्द्र का प्रनापति अर्थ समीचीन जान पड़ता है। वैए० में इन्द्रपद भी देखे। अग्नि — भाष्यकारों को अग्नि का अर्थ करने में समस्या रही प्रतीत होती है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने ने इस का कोई अर्थ नहीं दिया। जब इन्द्र का अर्थ प्रनापति कर दिया गया और बालक को उम का ब्रह्मचारी स्तथा गया तब 'अग्नि' को प्रथम आचार्य कहने से स्वप्न कर दिया गया कि यहाँ अग्नि और इन्द्र का अर्थ एक ही है—प्रजापति। इन्द्र ऐश्वर्य आदि का द्योतक है, अग्नि अप्रणीत्य, अज्ञाननिरोधक, पापनाशक आदि का। इस पद क ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ रुद्र, अरु, पशव शिर, देवों की आत्मा, आत्मा, वायाना पति, प्रजाओं का प्रजनयिता, पृथिवी, समुद्र, वाक् तेज, रक्षोहा, तप, मन, प्राण, ब्रह्म, देवाना गोपा, ऋत, भर्ग, यम, विराट् आदि दिये हैं। दस० ने इस के भौतिक और आध्यात्मिक—दो पक्ष माने हैं। दूसरे पक्ष में इस का अर्थ 'परमात्मा' किया है। इसे ऋग्वेद में 'एक सत्' भी कहा है (ऋ० १।१६४।४६)। ब्राह्मणों में ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है। ऋक्, सान और यजु को वाक् कहा गया है। अग्नि वाक् भी है। अतः यह वेदज्ञान का भी द्योतक है। वैसे भी निष० ५।१।१ में इसे पदनामों में पढ़ कर इस का 'ज्ञान'—अर्थ यास्कमुनि ने प्रतिपादित किया है। आचार्य —“जो सागापाग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया को जानने द्वारा छलरूपट रहित, अतिप्रेम से विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेश सत्र का हितैशी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे।” दस० सवि० पृ० ८० (पाटि०)। ऋभामू० में लिखते हैं—“आचार्य उस को कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनयो को छुड़ा के अयो का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।” पृ० ३०४।

भाष्यकार हरिहरने आचार्य का यम के अनुसार यह लक्षण दिया है—

‘सत्यवाक् धृतिमान् दक्ष सर्वभूतदयालु ।
 आस्तिको वदनिरत शुचिराचार्य उच्यते ॥
 वेदाध्ययनसपन्नो धृतिमान् विजितेन्द्रियः ।
 न याजयेद् वृत्तिहीन वृणुयाच्च न तं गुरुम् ॥”

मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण यह है—

‘उपनीय तु यः शिष्यं वदमध्यायेद् द्वित्र ।
 सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ २।१४०।

परन्तु शूद्रक और कालिदास के समय तक इस के ये अर्थ बदल चुके थे और किसी भी विषय में पारंगत व्यक्ति को आचार्य कहा जाने लगा था। यहाँ पर आचार्य का प्राचीन अर्थ ही अभिप्रेत है।

३२ भूतेभ्यः—√भू होना+क्त, ४ थी बहु०। सत्ताधारियों के लिए। जो कुछ भी उत्पन्न हो चुका है—चाहे भूत काल में हो चाहे वर्तमान काल में वह सब ‘भूत’ कहलाता है। अतः पृथिवी आदि लोक और उन में निवसमान समस्त पदार्थ भूत कहलाते हैं। प्रजापति, प्रजा, वायु आदि तत्त्व सब कुछ भूत हैं। इस में आधुनिक काल में प्रचलित भूतप्रेत की भावना नहीं है। इस प्रकार की भावना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती शक्त नहीं है। भूत व्यक्तियों की भूत सत्ता तो है, परन्तु वे मनुष्य को दुःख देने वाले के रूप में नहीं है। जैसा गदाधर ने लिखा है यहाँ ‘भूतेभ्यः’ का रिस्तार प्रजापति आदि आगमी मन्त्र (पृष्ठ० ३३) में वर्णित पदार्थ आदि हैं। परिददाति—परि+√दा का अर्थ सम्पत् रूप से देना है। पदार्थों के लिए देने का भाव पदार्थों का उपयोग करना है।

३३ प्रजापतये—प्रजाना पति। प्रजाओं का पालक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाचस्पति, संवत्सर, यश, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु प्रणेतृ, मृत, बधु, हिरण्यगर्भ,

ब्रह्मा, सोम, चन्द्रमा, दक्ष, मनु, ऋषिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम आदि दिए हैं। इन अर्थों में से सभी उपयुक्त अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। अन्य अर्थों के लिये देखो धेको०। **देवाय**—देव शब्द √दिन् से बनता है जिस के अर्थ क्रीड़ा, विजिगीषा, व्याहार, धृति, स्तुति, मोक्ष, मद, स्वप्न, कान्ति और गति हैं। जिस जिस पदार्थ, माय और स्थिति में इन में से एक या अनेक अर्थ मगत होते हों वह यह पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। विस्तार के लिये देखो वेभाग० ६।३१-४२ तथा हमारा लेख—महर्षि दयानन्द सरस्वती और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सरलित)। **सवित्रे**—सन्धार्य—उत्पादक। √मु + वृच्। ब्राह्मणग्रन्थों में सविता के अर्थ प्रसविता देवाना प्रसरिता, आदित्य, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, धरुण, विनुत्, स्तनयितु, धायु, चन्द्रमा, यज्ञ, अभ्र, वेदा, अह, पुरुष, पशु, प्राण, मन, यद्वत्, राष्ट्रपति, द्विग्वपाणि आदि दिए हैं। **वावा पृथिवीभ्याम्**—गुणोंक और पृथिवीगुणोंक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के प्राण और उदान, देवताओं के हरिर्धान अर्थ भी मिलते हैं। **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**—जैसा 'देव' पद के ऊपर के व्याख्यान से स्पष्ट होगा इस पद का अर्थ ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थ होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ 'समस्त विद्वान्, सूर्य को फिरछें, प्राण्य, ऋतुय, ओन, दिशाएँ, विट्, प्रजा, पशु, अक्ष, गो आदि मिलते हैं तथा वहा इन्हें अनन्त कहा है। **अरिष्ट्यै**—न रिष्टि अरिष्टि, तस्यै। √रिप् हिंसायाम् से। रिष्टि—हिंसाप्राप्त स्थिति, दुःख, अमगल। अरिष्टि—सुख, कल्याण।

३४. **प्रदक्षिणम्**—प्रगत दक्षिणम् इति। दक्षिण की ओर की हुई (अग्नि)। इसे परीत्य का क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है। भाव यह है कि प्रदक्षिणा कर के अग्निकुण्ड के पश्चिम में और आचार्य के उत्तरपूर्व की ओर मुख कर के बैठे। आचार्य दक्षिण की ओर बैठता है। **अग्निम्**—यज्ञ कुण्ड में जलती हुई अग्नि। पवित्र वस्तुओं को दाहिनी ओर रखते हुए उन के चारों ओर घूमना (=परिक्रमा करना) कल्याणकर समझा जाता है। **परीत्य**—परि + √ई + त्यप्।

३५. अन्वारुव—अनु+आ+√रम्+क। माध्यकारो ने इसे प्रथमा एक व० मान कर 'ब्रह्मा से आरम्भ कराए गए कर्म वाला आचार्य' (जपराम) अथवा ब्रह्मचारी द्वारा आरम्भ कराए गए कर्म वाला (आचार्य) (विश्वनाथ), ब्रह्मा से छुए हुए धृन (ओ आहुतियों) (शुकदेव) 'अर्थ' किए गए हैं। अब तक अन्य क्रियाएं चालू थीं। यज्ञ बन्द था। आहुति देने के लिए यज्ञकर्म प्रारम्भ होना आवश्यक था। अतः इस पद को सप्तमी एक व० मान कर 'यज्ञ' का अव्याहार करने पर अर्थ प्रकरणोचित हो जाता है। आज्याहुतीः—दस० ने २२ आहुतियों का विधान किया है। विश्वनाथ का निरुण—'आधारात्तान्यभागौ महाज्याहुतयः सर्वप्रायश्चित्त प्रायश्चित्त स्निग्धकृच्छ्रा' है। प्राशनान्ते—माध्यकारो ने सस्त्रप्राशन का वर्णन किया है। महीधर ने सस्त्र का अर्थ 'विहीन आग्न' किया है। दस० ने होम में छोड़े हुए धृत आदि पदार्थ समझा है (य० २।१८)। अत यज्ञरोप। संशान्ति—ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश करते हैं। दस० ने तवि० पृ० ६२-६३ में इन सूरों के साथ कुछ अन्य सूत्र भी दिए हैं।

३७ अशान—√अश् से लोट् मध्यम पु० एक व०। लाओ, अर्थात् पीओ।

(११) श्री शुकदेव ने छान्दोग्य ब्रा० उ० प्र० ५ ख० २ म० २—'सा होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति। हानुमन्स्मादा एतदशिष्यन्त पुरस्ताद्वोपरिष्ठाद्वाग्निः परिधीतलम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति।' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आरम्भ और अन्त में भोजन को आचमन कर के घन्त्रवत् वेष्टित कर देना चाहिए क्यों कि उस के प्रश्न पर इन्द्रियों ने प्राण सं कहा था कि जल ही उस के वस्त्र होंगे।

३८ कर्म—ब्रह्मचर्यव्रत और ज्ञानोत्तार्जन के लिए उपयुक्त कर्म।

तत्त्व०—दुष्ट कर्म छोड़ धर्म किया कर।

३९. दिवा—दिन में सोने से आयु का हास, आलस्य की वृद्धि, पठन में व्ययधान आदि अनेकों दोष पाए जाते हैं।

४१. समिधम्—भाव यह है कि प्रतिदिन यज्ञ किया करो और उस से अनुभूति लो ।

सावित्री का उपदेश

दस० आदि के मत में यहा से आगे वेदार्म्भ सस्कार है ।

४२. सावित्रीम्—सवितृ देवता है जिस का ऐसी श्रुति । सामान्यतः गुरु द्वारा शिष्य को सिखाए जाने वाले गावनी मन्त्र को ही सावित्री' कहते हैं । उपदेश के योग्य ब्रह्मचारी के गुण

उत्तरतोऽग्नेः—प्रारम्भ में बालक पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख बैठा था । अब वह उत्तर का ओर आ कर बैठा है । प्रत्यङ्मुखाय—अब उस का मुख पश्चिम को ओर है । उपविष्टाय—उप + √विश् + क्त । सामान्यतः खड़े हुए बालक को उपदेश ग्रहण करने में पर्याप्त अनुविधा होती है । फिर भी आगे सूक्त० ४४ में 'खड़े हुए को भी उपदेश देने का वर्णन है । उपसन्नाय—उप + √सद् + क्त + चतुर्थी एक व० । समीप आए हुए । शुक्रदेव—प्रसन्नचित्त । समीक्षिताय—सम् + √ईक्ष् + क्त + चतुर्थी एक व० पु० । परीक्षित, परखे हुए । समीक्षमाणाय—सम् + √ईक्ष् + शानच् + चतुर्थी एक व० पु० । अन्धी प्रकार देखते हुए । इस के दो भाव हो सकते हैं—१. शान्त चित्त हो कर शिवा प्राप्त करने के लिए गुह के मुख की ओर देखने वाले २. सुने हुए उपदेश या पाठ पर तर्क वितर्क द्वारा विचार करने वाले । हिन्दा अनुवाद में पहला अर्थ लिया गया है, परन्तु दूसरा अर्थ प्रकरण में अधिक संगत होता है । तु० क० "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।' वृआउ० । तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा ।"

(II) प्राचीन भारतीय संस्कृति में विद्यार्थी में श्रद्धा, शान्ति और ब्रह्मचर्य आदि गुणों का होना परम आवश्यक माना गया है—

१-निरावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं बुद्धय एवैर्षिः श्रद्धयन्तः ।

तेषामेवैषा ब्रह्मविद्या ब्रूते शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम् ॥ मुउ० ३।२।१०

तथा—तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक्, प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
मु० उ० १।२।१३ ।

२-नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुनायाशिष्याय वा पुन ।

वस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वे० उ० ६।२२-२३

३-अस्यैकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया बर्हिषतो यथा स्वाम् ।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

यमेव विद्या शुचिमग्रमत्र भवामिन् ब्रह्मचर्यापन्नम् ।

यस्ते न द्रुह्येत् कृतमचनान् तस्मै मा ब्रूया निधिपाथ ब्रह्मन् ॥ नि० २।४

श्री गुरुदेव ने यहा गुरु क देर छूने का विधान माना है । पारस्कर को यह विधि मान्य प्रतीत नहीं होती ।

४४ दक्षिणतः—अग्नि क दक्षिण में । यह कुछ आचारा का मत है ।

४५ पच्छाः—पद्+शस् । पाद पादमिति पच्छाः, पदशो वा ।

पहले एक एक पाद (ॐ भूर्भुव स्व । तत्सवितुर्वरेण्यम्) पढ़ाए ।

अर्द्धर्चशः—अर्च अर्धमिति अर्धर्चम् । अर्द्धर्चम् अर्द्धर्चमिति अर्द्धर्चशः ।

आधी आधी अर्चा (ॐ भूर्भुव स्व । तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि)

कर के । सर्वा च—तासरी बार में सम्पूर्ण मन्त्र (ॐ भूर्भुव स्व । तत्सवि-

तुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि । धिया यो न प्रचोदयात् ॥) को एक साथ

आचार्य के अनुरूप पर उच्चारण करे । यहा पर प्रणव (=ओ३म्) और

ध्यातृत्वियों (मू, भुव स्व) क साथ मन्त्र पढ़ा जाना अभीष्ट है । अनुवर्तयन्

अनु+वृत्+खिच्+शतृ+पु० प्रथमा एक व० ।

सावित्री के उपदेश का कालपरिमाण—

४६ पाण्मास्ये—पडेव मासाः पाण्मास्यम्, तस्मिन् । पाण्मास्ये

पाठ में वृद्ध्यभाव को छान्दस मानना पड़ेगा ।

(ii) हरिहर माप्यकार के विचार में काल की यह अवधि क्षत्रिय और वैश्य बालकों के लिए है। जो गुरुशुभुषा आदि गुणों में जितना कम होगा उतना ही समय अधिक लगेगा। परन्तु यहाँ पर गुरु की ज्ञानगरिमा और शिष्य की योग्यता और ग्रहणशक्ति ही इस कालविभाग का कारण प्रतीत होते हैं।

(iii) ५० शुरुदेव का विचार है कि इन कालों में बालक को ब्रह्मचर्य का उपदेश कर के गायत्री सिखाए। इस में वे बालक में योग्यता उत्पन्न कर के उपदेश देना चाहते हैं।

४७ सद्यः—ब्राह्मण बनने योग्य ब्रह्मचारी के गुण अधिक होने अनिवार्य हैं। अतः वह तीव्रबुद्धि और वेदज्ञान का पिपासु होने से गायत्री के शिष्टगुण को शीघ्र ग्रहण कर सकेगा। गायत्री का अध्यापन अर्थसहित ही अभीष्ट है। गायत्रीम्—ऋषि, देवता और छन्द तथा स्वरो के परिज्ञान के साथ गावनी। वैदिक वाङ्मय में गायत्री की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में गायत्री के अर्थ—प्राणों का रक्षक, पृथिवी, प्राण, अग्नि, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस्, तेज, ज्योति, धीर्य, शिर, मुख, प्राची दिक्, यज्ञ, पुरुष आदि दिये हैं। य० २८।२४-२४ में गायत्र एक दार्शनिक परिभाषा है। य० १०।११ में गायत्री को प्राची दिशा में रक्षक बताया है। य० १४।१० में यह 'पञ्चाविर्बय' का द्योतक है। श्रु० १०।१२०।४ में इस की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है। अतः जो वेद में वर्णित अग्नि के गुणों से सम्पन्न हो उसे गायत्री का ज्ञान तुरन्त ही सकता है। यह भाव 'अग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० २।७।१।१) में व्यक्त किया गया है। अग्नि का विशेष गुण ज्ञानशीलता है। यह गुण अग्नि के विशेषणों—कविरुतु, जातवेदम्, अगिरः, विश्ववेदस्, कवि, ऋषि, कण्वतम, विकित्वान्, चेकितान, चेतिष्ठ, प्रकेत, प्रचेता, प्रजानन् और बुद्धशक्ति आदि में परिलक्षित होता है।

गायत्री मन्त्र और उस का दस० का अर्थ

(ii) गायत्री मन्त्र यह है—ॐ भूर्भुव स्व०। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात्॥

(iii) इस का संविस्तार अर्थ दस० ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और पञ्चमहायज्ञविधि में दिया है। ऋ० ३६।२।१०, य० ३६।३ में भी इस का अर्थ मिलता है। यहाँ पर सरकारविधि का अर्थ ससक्त और मुगमतर होने से दिया जाता है।

(iv) (ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का निज नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब दुराओं से छुड़ाने हारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति कराने हारा है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विन्ध्य कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (भर्गः) सब ज्ञेशों का भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्ध स्वरूप है (तत्) उस को हम लोग (धोमहि) धारण करें (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रबोधयात्) प्रेरणा करे।

आधुनिक शैली पर गायत्री का अर्थ

(v) आधुनिक अर्थप्रयुक्ताली में एक पद का एक ही रुढिगत अर्थ ग्रहण किया जाता है। परन्तु वैदिक शैली इस से निवान्न भिन्न है। देखो हमारा ग्रन्थ 'वेदभाष्यपद्धति का दयानन्द सरस्वती की देन।' उपरोक्त अर्थ वैदिक शैली पर है। आधुनिक शैली पर अस्थिर महोदय का अनुवाद इस प्रकार है—'हमें सवितु देव की यह उत्तम महिमा प्राप्त हो जाए जिस से यह हमारी प्रार्थनाओं को प्रगति दे सके।'

(vi) ओ३म्—यह प्रणव भी कहलाता है। उपनिषदों और गीता में इसे ईश्वर त्रिपयक सगुण ज्ञान का सार कहा है। यह परमात्मा का उत्कृष्ट नाम माना जाता है। इसे √अव रक्षणमतिक्रान्तिप्रोवितृप्त्यवगमप्रवेश अवशस्वाम्ययाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यातिगनहितादानभागवृद्धिषु से व्युत्पन्न किया जाता है। इस का विशेष विस्तार अग्र० १ में समुल्लास में देखें। भूः—

भूरिति वै प्राण —य प्राणयति चराचर जगत् स स्वयम्भूरीश्वर । सत्र जगत् के जीवन का आधार, प्राणों से भी प्रिय ईश्वर । मुखः—भुजित्वपान —य सर्वं दुःखमपानयति सोऽपान । सब दुःखों से रहित, जीवों को दुःखों से छुड़ाने वाला । स्वः—स्वरिति व्यान—यो विप्रिध जगद् व्यानयति व्याप्राति स व्यानः । नानाविध जगत् में व्यापक । सवितुः—मुनोति उन्मादयति सर्वं जगत् । सु धातु प्रमत्त और ऐश्वर्य में आती है । यह पद सूर्य का भी वातन है । मध्यकालीन और आधुनिक विद्वान् इस का सूर्य ही अर्थ करते हैं । वरेण्यम्—वचुमहम् । स्वीकार्य, श्रेष्ठ । कोलत्रुक—पूजनीय । विलसन—कमनीय । वेदार्थरत्न—परमोत्कृष्ट । लैंगलोद्—उदार । भर्गः—√भ्रस्ज् +घञ् । भूतने वाला, शुद्ध करने वाला । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस न अर्थ पृथिवी, सृग्वेद, होता, अग्नि वसु, याम्, वमन्त, गायत्री, प्राची आदित्य, चन्द्रमा, धीर्य और त्रिजन् दिये हैं । इस मन्त्र में गो० १।१।३२ में भर्ग का अर्थ 'अन्न' दिया गया है । आधुनिकों के अर्थों में कोलत्रुक—प्रकाश, वेदार्थरत्न—नेत्र, सामरस्यमी—शक्ति, विप्रिध—महिमा, ल्यूङ्वाग—चमक, प्रसुप्त हैं । देवस्य—दीव्यति दीयते वा स देव । मुखदायक, कमनीय । यह √विष् काटाविजिगीषाव्यवहारवृत्तिस्तुतिमोदमदस्वप्नरान्तिगतिषु से व्युत्पन्न होता है । कोलत्रुक ने इस का अर्थ दिव्य, शासक वेदार्थरत्न ने जाज्यत्यमान विप्रिध ने देव और ल्यूङ्वाग ने देवगण किया है । इस पद के अर्थों के निवेचन के लिये देखो हमारा लेख—महर्षिदयानन्द और देवता शब्द का अर्थ (सृग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सपहत) । धियः—निघ० में इसे बुद्धि और कर्म का पर्यायवाची रखाया गया है । विद्वानों ने इन दोनों ही अर्थों को अपनाया है । वेदार्थरत्न ने भावनाएँ, भक्ति, लैंग्लेशो ने प्रार्थनाएँ अर्थ किये हैं ।

गायत्री मन्त्र का महत्त्व

(vii) इस मन्त्र में बुद्धि और कर्मों की शुद्धि और सत्य मार्ग पर गति के लिए प्रार्थना की गई है । शुद्ध बुद्धि और श्रेष्ठ कर्म ही मानव की

ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों—अभ्युदय और निश्चय के निष्पन्न करने वाले हैं। इसी कारण इस मन्त्र की विशेष महिमा है। इस मन्त्र के श्रद्धादि निश्चामित्र, सविता और गायत्री हैं। इन पदों के अर्थों के अनुसार अन्य त्रय भी इस मन्त्र के अभिप्रेत हैं। उन सब की कल्पना और विस्तार यहाँ सम्भव नहीं। उपरोक्त गायत्री के उपदेश की अवधियों के निर्धारण में इस मन्त्र के अनेकविध अर्थ भी कारण रहे हो सकते हैं।

(viii) श्रुतिः—भूयते इति श्रुतिः । √भु भवणे + चिन् । सामान्यतः इस का अर्थ परम्परा से सुन कर फरक किए जाने वाले ग्रन्थ किया जाता है। इन में प्रमुख रूप से वेद और सामान्य रूप से ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। यदि इस का अर्थ भूयते श्रुयते अनेनेति श्रुति किया जाए तो अर्थ अधिक सगत हो सकेगा और ब्राह्मणों पर भी ठीक-ठीक लागू हो सकेगा। यहाँ पर तैत्तिरीय ब्राह्मण की ओर निर्देश है।

त्रिष्टुभ् छन्द का सवितृ देवता का मन्त्र

४८. त्रिष्टुभं राजन्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र इस प्रकार है—

“देव सवितॄ प्रसुव यश प्रसुव यशपति भगाय । दिव्यो गन्धर्व केतूषू
केतव्यं पुनातु वाचस्पतिर्वाज न स्वदतु स्वाहा ॥” य० ६।१

(ii) य० ५।३६ भी ‘देव सवित’ से प्रारम्भ होता है, परन्तु उस का छन्द त्रिष्टुभ् न होने से वह अभिप्रेत नहीं है।

(iii) भर्तृयश इस के स्थान पर इस मन्त्र का विधान मानते हैं—

“ताँ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामह मृषे सुमति विश्वजन्याम् ।

यामस्य कखो अदुहत्प्रपीनाँ सहस्रपाप पयसा मही गाम् ॥” य० १७।७४

१. य० शुकदेव ने मानवग्रहस्तुत्र १।२।१ दिया है जिस में त्रैष्टुभ मन्त्र आदेवो याति (यातु ?—श्रु० ७।४५।१) माना है।

देव सवितः प्रसुव मन्त्र का अर्थ

(iv) देव सवितः—त्रयगम और उवट ने इस का श्रुति बृहस्पति देया है। महीधर और दयानन्द सरस्वती ने इन्द्राबृहस्पती। इम का देवता सविता और छन्द त्रिष्टुम् (दस०—स्वराडापीं त्रिष्टुम्) है। यह मन्त्र १० ११।७ और ३०।१ में भी पाया जाता है। वहा पर 'वाजम्' के स्थान पर 'वाचम्' का प्रयोग है। पुनरुक्त अशों से अर्थग्रहण की शैली पर यह वाजम् का अर्थ वाचम् हो जाता है। तै० १।३।२।५ ने 'वाग्वै वाजस्य प्रसव' कह कर इस अर्थ की पुष्टि की है। उपरोक्त पिछले दो मन्त्रों में स्वाहा का शठ भी नहीं है। प्रकृत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(v) हे (देव) [समस्त गुणों के] दाना प्रकाशस्वरूप (सवितः) सकल जगत् और ऐश्वर्य आदि के उत्पादक परमात्मन्, (यज्ञम्) (अध्ययन रूप मेरे) श्रेष्ठ कर्म को (प्रसुव) प्रगति दें। (यज्ञपतिम्) [अध्ययन यज्ञ के] प्रजमान [मुक्त ब्रह्मचारी] को (भगाय) [क्षत्रिशाचित] ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (प्र सुव) गतिशील करते रहें। (दिव्यः) प्रकाशमान [क्षत्रगुणों को देने वाला] (गन्धर्वः) जगत् का धारक [और रक्षक] (केतपूः) [मनुष्यों के चित्तों में वर्तमान] ज्ञान का परिशोधक परमेश्वर (केतम्) [हमारे] ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करें। (वाचस्पतिः) प्राणों के रक्षक प्रजापति (नः) हमारे (वाजम्) बल या वाणी को (स्वदतु) आनन्दकर बनाएं। (स्वाहा) [मेरी] वाणी शुभ हो।

(vi) गन्धर्वः—गा जगत् धरतीति। मेषदूत की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० १५३ की पाटि० ३ भी देखे। केतपूः—केत चित्तस्य ज्ञान पुनाति शोधयतीति। केतम्—√कित् (ज्ञाने)+घञ्। ज्ञान, बुद्धि। शतपथ ब्राह्मण में केतः अन्न का वाचक भी है। वाचस्पतिः—ब्राह्मणों में इस के अर्थ प्राण और प्रजापति भी दिए हैं। वाजम्—√वज गतौ से। इस के अर्थ 'अन्न, वीर्य, पशु, स्वर्गलोक और ओषधि' आदि पाए जाते हैं। वाजिन् आदि पदों में इस का बल-अर्थ सुस्पष्ट है। स्वदतु—√स्यद् से। स्वाद

ले, आनन्द ले और आनन्दयुक्त करे। अन्तर्हितस्थर्थं भातु है। स्वाहा—सु+आह से विपन्न होता है। उत्तम कथन। दस० ने अपने भाष्यों में इस के अनेकविध अर्थ दिए हैं।

(vi) भर्तृवञ्च द्वारा उद्धृत 'तां सवितुः' मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—(अहम्) मैं (ब्रह्मचारी) [चरेण्यस्य] श्रेष्ठ पूजनीय [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की [ताम्] उस (सुविदित) [विग्राम्] विभिन्न प्रकार (के फल देने) वाली [विश्वजन्त्याम्] स्रज का कल्याण करने वाली [सुमतिम्] शोभन बुद्धि को [आवृणो] धारण करता हूँ [ध्याम्] जिस को (पा कर) [कृत्व] विद्वान् (सुविज्जन) [अस्य] इस (सहिता—परमेश्वर की दी हुई) [पयसा] अन्न जल आदि से [प्रपीनाम्] प्रहृद हुई [सहस्रधाराम्] हजारों प्रकारों के (पदार्थों को) धारण करने वाली [महीम्] महान् विस्तृत [गाम्] भूमि को [अदुहत्] दोहते रहे हैं।

(vii) विश्वजन्त्याम्—विश्वेभ्य स्वर्गेभ्य जनेभ्य दिताम्। विश्व+जन+यत्। सुमतिम्—यथार्थ विषय वाली पदार्थों का यथार्थ ज्ञान कराने वाली बुद्धि। कृत्वः—निघ० में यह मेधाविनाभों में पड़ा गया है माधवमठ के भाष्य में इसे इसी अर्थ में लिया गया है। विरुद्ध में श्रुति विशेष का नाम भी माना है। इसी भाष्य में इस का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्ति से आरम्भ होता है। वेमाप० ३०।५—७ में दिखाया गया है कि यह सहिताओं आदि में 'मेधानी' अर्थ का श्रोतक है। यह गत्यर्थक या शब्दार्थक या निमीलनार्थक ✓कण् से अथवा ✓कृण्व् वष करना से बनता है। प्रपीनाम्—प्रकृष्टरूपेण पीना पुणम्। बड़ी हुई। सहस्रधाराम्—सहस्र-सरयानर्थान् धरति ताम्। अदुहत्—वेद में मृतकाल की क्रियाओं के अर्थ भी बहुधा लट् लकार में किए जाते हैं।

(ix) इसी प्रकार का मार—मगमस्या वर्च आदिव्यधि वृत्तादिव स्रजम्। महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् सितुष्यास्ताम्॥ एषा ते राजन् कन्या यधूर्नि धूपता यम। सा मातुर्न्यता यदेऽयो आतुरयो पितु। एषा ते बुलपा

राजन् तामु ते परि दद्यासि । ज्योक् पितृधासाता आ शीर्ष्वा शमोप्यात् ॥
अवे० १।१४।१—३ में पाया जाता है । विस्तार के लिए देखो हमारा लेख
—ए न्यू इन्टरप्रेटेशन ऑफ अवे० १।१४ ।

(x) ये दोनों मन्त्र क्षत्रिय बनने के इच्छुक और योग्य बालक के
लिए माने गये हैं । अतः ऐसे बालकों की भावनाओं के अनुरूप ही इन
मन्त्रों के अर्थ अभीष्ट हैं और ऊपर दिए भी गए हैं ।

जगती इन्द्र बाला सविता देवता का मन्त्र

४६. जगती वैश्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र अधोदत्त है—

“विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्जते कविः प्रासावीद् भद्र द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमर्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुपसो विराजति ॥”

श्रु० ५।८१।२; य० १२।३

(ii) मर्त्यश ने यह मन्त्र माना है—

“युञ्जते मन उत युञ्जते धियो निप्रा निप्रस्य बृहतो विपश्चित् ।
वि होत्रा दधे वयुनाग्निदेरु इन्मही देवस्य सवितुः परिष्ठति ॥”

य० ५।१४; श्रु० ५।८१।१

(iii) विश्वा रूपाणि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता
है—[कविः] क्रान्तदर्शन, क्रान्तप्रज्ञ और सर्वज्ञ (परमेश्वर) [विश्वा] सम्पूर्ण
[रूपाणि] पदार्थों के स्वरूप को [प्रति मुञ्जते] प्रकट करता है । (यह)
[द्विपदे] दो पैरों वाले प्राणियों (मनुष्य आदि) (और) [चतुष्पदे] चार पैरों
वाले (पशु आदि) के लिये [भद्रम्] कल्याण [प्रासावीद्] करता है ।
[वरेण्यः] पूजनीय [सविता] सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (सब प्राणियों के लिए)
[नाकम्] समस्त दुःखों से रहित (सुखों) को [वि अख्यत्] प्रकाशित किया
है । [उपस] उपाओं के समान (आलस्य और दारिद्र्य आदि की दाहक)
गतिशीलों के [प्रयाणम्] गमन के [अनु] पश्चात् [विराजति] (समृद्धि)
चमक जाती है ॥

(iv) नाकम्—क सुखम् । न निश्चये क सुखं यस्मिन् तत् श्रवम् । न अकं दुःखं निश्चये यस्मिन् तत् नाकम् । उपसः—दस० ने उ० ४।२३४ में इस की व्युत्पत्ति 'ओपनि दहतोति उप' उपा वा टी है । श्रुग्वेद में 'उपा' सतत गतिशील है । यह प्रति दिन अपने पूर्व भग पर आती है । यह मधोनी = धनयुक्त और धन देने वाली है । देवां श्रु० (३।६।१३-४ आदि) । प्रयाणम्—गमन, बोलना, चला जाना । भाव यह है कि व्यापार आदि कर्मों के करने से धन की वृद्धि होती है ।

(v) मर्त्ययज्ञ द्वारा प्रदत्त 'युञ्जते मन उत' आदि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

[होत्रा] यज्ञशील [विप्राः] (व्यापार में कुशल) बुद्धिमान् वैश्य [विप्रस्य] विशेष रूप से फल प्राप्त करने वाले [बृहत्तः] महान् [विपरिचत] (वाणिज्य रूपी) यज्ञ (के कर्म में) [मन] (अन्ते) मनो का [युञ्जते] युक्त करते हैं [उत] और [धियः] कर्मों का [युञ्जते] (उत्तम में) संश्लेष करते हैं । [इत्] निश्चय से (यह) [दिवस्य] दिव्य [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक और परमेश्वर के सृजक परमेश्वर की [मही] महान् [परिष्ठुतिः] महिमा (है) । [धयुनादित्] (व्यापारिक उत्तम) कर्मों का निशासु (एकः) कर्मशील (में) समिता की इस महिमा को) [विदधे] (पूर्ण रूप से) धारण कर सकू ।

(१।) विप्राः—निष० में यह मेधाविनामों में पड़ा गया है । श्रुग्वेद के अनुसार बुद्धि और कर्म से ही मनुष्य 'विप्र' बनता है—“उपहरे गिरीणा सगवे च नदीनम् । धिया विप्रो अजायत ॥” श्रु० ८।६।२८ । विप्रस्य—महीधर ने इस का विग्रह—निरोक्ष्य प्राप्ति पुर्यात् फलमिति विप्रस्तस्य । ✓ या पृती से । दस० ने भी इसी व्युत्पत्ति का अपनाया है । विपरिचतः—तु० व० श्रु० ३।५।३।१२—यज्ञो वै बृहन् निषाधिर । य० ५।१४ में महीधर-भाष्य भी देखें । यज्ञ का अर्थ अतिव्यापक होने से यहां पर प्रकरणाचित 'वाणिज्य रूपी यज्ञ कर्म' अर्थ दिया गया है । होत्राः—✓ इ दानादनयोः से । यह धातु 'यज्ञ करने' के अर्थ में सुविदित है । अतः यज्ञ करने वाले ।

दधे—√धा से लट उत्तम पु० एक व० आत्मनेपद । यहा भाव लोट् लकार मे अभीष्ट है । वयुनावित्—वयुन का अर्थ कर्म है । कर्मों को जानने वाला । अभी ब्रह्मचारी कर्मज्ञ नहीं हुआ है । वह व्यापारिक कर्मों को जानना चाहता है । अतः यहा इच्छार्थ अभीष्ट है । मही—महती । वैदिक रूप । परिष्टुतिः—परि + स्तुति । सब ओर से स्तुति । अतः यश, महिमा । एकः—एति गच्छताति एक । √इ + कन् । उ० ३।४३ । गतिशोल, कर्मठ । सब के लिये गायत्री का उपदेश

५० पृथक् पृथक् गुणों के अभिलाषियों के लिये पृथक् पृथक् मन्त्रों का निधान किया जा चुका है । सब मन्त्रों का देवता सविता और उन का विषय सद्बुद्धि की प्रार्थना है । भेद बवल छन्द का है । छन्दों के वाचक पदों के अर्थों^१ मे भी एक सीमा पर एकता का सन परिलक्षित होता है । इस प्रकार बयों में मूलतः कोई भेद नहीं रहता है । अतः सब को गायत्री मन्त्र का ही उपदेश किया जा सकता है । इस विकल्प मे मिलते ३ सूत्रों में वर्णित विधि से पूर्व प्रचलित प्रथा का अवशेष भी लक्षित हाता है ।

समिधाधान

५१. अत्र—यहा । कर्क और जयराम इस का अर्थ 'अग्नि मे' करते हैं । हरिहर के मत में यह 'सावित्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात् अब' का होता है और विश्वनाथ के मत में 'दोपहर की सन्ध्या के बाद में' का । समित्—समिध्यते दीप्याते अग्निरनया इति । सम् + √इध् चमकना से । प्रदीप्त करने वाली । भाव यह है कि जिस प्रकार समिधा अग्नि में पड़ कर उसे प्रदीप्त कर देती है उसी प्रकार गुरु के सावित्री और ज्ञान के उपदेश रूपी समिधा से तुम भी ससार मे चमक उठो । तु० क० (१) 'प्राणा वै

१. छन्दों के वाचक पद मन्त्रों के अर्थों के प्रकाशक होते हैं । अतः उन के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है । देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स और दी ऋग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलौसोफी ।

समिधः । प्राणा ह्येन समिधते । ऋ० ६।१।३।४४ (२) यदेन समयच्छत्
तत्समिध समित्त्वम् । तै० २।१।३।८ और (३) समिधो यजति वसन्तमेव
वसन्ते वा इद सर्वं समिध्यते । कौ० ३।४। ब्राह्मणों में समिध् के अर्थ अस्थि,
गर्म, वसन्त और प्राण मिलते हैं ।

(ii) इस समिधा के आधान के लिये न तो यहा पर पारस्कराचार्य ने
कोई मन्त्र प्रस्तुत किया है, न भाष्यकारों ने ही । आगे० सूत्र० ५४ में भी
समिधाधान का विधान और ५५ में उस समय गोलें जाने वाला मन्त्र है ।
अतः या तो समिधाधान का प्रवृत्त स्थल पर विधान करने वाला सूत्र पुनरुक्ति
होने और मन्त्रान्तरण क्रिया का विधायक होने से प्रक्षिप्त है, अथवा यहा पर
दस० के सवि० ने वर्णन के अनुसार 'अथ त इष्म आमा' समिधाग्नि
दुबल्यत, सुसमिद्धाय शौचिषे तथा 'तन्वा समिद्धिरद्विरो०' मन्त्रों से समिधाधान
अभाष्ट है । यह भी सम्मन है कि अब तक अग्नि का कुछ मन्त्र पढ़ जाना
स्वामाविक था । अतः इस स्थल पर सामान्यरूप से गिना मन्त्र पढ़े यशवदी
में अग्नि में समिधाष्ट डाल दी जाए । उपरांत तीनों मन्त्रों का यहा विनियोग
आचार्य पारस्कर द्वारा विहित नहीं है । अतः उन का अर्थ यहा नहीं
दिया गया है ।

अग्नि का परिसमूहन और उस का भाव

५२. पाणिना—भाष्यकारों का विचार है कि यहा पर 'पाणिना' में
एक वचन के प्रथम से एक हाथ से ही क्रिया का विधान अभाष्ट है, दानों
हाथों से नहीं । कई क्रियाओं में अग्नि का समुत्पन्न दोनों हाथों से किया जाता
है, परन्तु यहा नहीं ।

(ii) 'पाणि' शब्द 'पण्य स्तुतिव्यवहारे च' से बनता है । कुछ विद्वानों
का विचार है कि यह पद केवल स्तुत्ययक 'पण्य' वातु से सिद्ध होगा है ।
परन्तु यह स्थिति ठीक प्रतीत नहीं होती । दयानन्द सरस्वता जी ने अपने
वेदभाष्यों और उ० ४।१।३३ के भाष्य में इसे व्यवहारार्थक भी माना है ।
यास्क का भी यही मत है (देखा महर्षि दयानन्द और देवताशब्द का अर्थ

१३-१८) । अतः पाणिनाऽग्नि परिसमूहति' का आन्तरिक भाव यह हुआ—
 'अपने व्यवहार से ब्रह्मचारी वेदज्ञान, अध्यात्मज्ञान और यज्ञकर्म रूप अग्नि
 को एकत्रित कर प्रदीप्त करता रहे ।' परिसमूहति—परि + सम् + √ ऊह् +
 लट् प्रथम पु० एक व० । भाष्यकारों ने इस का अर्थ १. 'संघुत्तुण्—तेज
 करना, प्रचण्ड करना, जमाना' किया है । आपटे के संस्कृत अंग्रेजी कोष में
 २. 'चारों ओर जल से छिड़कना' विको० में '३. इकट्ठा करना, ४. जमा
 करना', सशस्त्रोक्तो० में '५. एकत्र करना, ६ यज्ञाग्नि में समिधा डालना,
 ७. यज्ञ में अग्नि के चारों ओर गिरे हुए तृण आदि को आग में डालना,
 ८. यज्ञाग्नि के चारों ओर जल से मार्जन करना' किये हैं । यहाँ पर सू० ५१
 की दृष्टि में अर्थ सख्या २, ६ और ८ समभव नहीं । तीव्र अग्नि को जल से
 छिड़कना उस के वेग को मन्द करने के लिये होता है । समिधाएँ डालते ही
 जलसेचन अनावश्यक है । वैसे भी इस का विधान आगे सू० ५४ में
 किया गया है । 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि से जलप्रसेचन का पूरा विधान
 न होने से वह भी अभिप्रेत नहीं है । अर्थ स० ७ में 'परिसमूहति' के साथ
 कर्म और 'अग्नि' में सप्तमी विभक्ति आनी चाहिए थी । अतः प्रकरण में शेष
 अर्थ ही अभीष्ट हैं । सच० ने 'इकट्ठा करना' अर्थ ब्रह्म किया है ।

५३. सुभ्रवः—शोभन भवो यस्य स । सम्बोधन एक व० । भव
 निघ० २।७।४ व में श्रव का और २।१०।२६ में धन का वाचक माना गया है ।
 विको० ने 'तीव्र गति और धारा' अर्थ भी दिए हैं । उत्तम धन, कीर्ति और
 कर्मों वाला । सौभ्रवसम्—सुभ्रवाश्वासौ सौभ्रवस तम् । सुभ्रवस् और
 सौभ्रवस—दोनों का एक ही अर्थ है । जयराम लिखते हैं कि "मेरे गुरु को
 सुभ्रवस् घनाश्रो । उन का शिष्य होने से मैं 'सौभ्रवस' हो ही जाऊंगा ।"
 यह भाव ठीक नहीं क्यों कि इस में गुरु को पहले से अमुभ्रवस् समझने की
 भावना अवगत होती है । निधिपाः, निधिपः—निधि कोष प्राप्ति रक्षतीति ।
 वेदस्य—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । ब्राह्मणों में 'ब्रह्म,
 सविता, ये लोक, धारु और त्रयोविद्या' को 'वेद' कहा है । 'यज्ञ, भूर्भुव. स्व,

सत्य' आदि को त्रयीविद्या नाम दिया गया है। इन सब की रक्षा की भावना गीष्म ऋतु से और ऋग्यजुषामाथर्ववेदों की प्रमुख ऋतु से अभिप्रेत है। मनुष्याणाम्—मनुष्यों में, अथवा मनुष्यों के लिए निर्मित (वेद का)। जयराम 'और मनुष्यों का भारक्षक' अर्थ लेते हैं। देवानाम्—जयराम—दीव्यन्ति प्रकाशयन्ति इति देवा अग्निं इन्द्रादयो वा। शरीर के अग्न अथवा इन्द्र आदि देवता। परन्तु प्रकरण में 'विद्वान् अथवा सूर्य आदि भौतिक पदार्थ' अर्थ ही लागू होते हैं। यज्ञस्य—जयराम—वेद, विष्णु।

(ii) अग्ने सुश्रवः०—इस मन्त्र के उत्तरार्ध का संस्कारचन्द्रिका का अर्थ यह है—“हे (अग्ने) भौतिक अग्ने! (देवानाम्) जल आदि देवताओं के बीच में (त्वम्) तू (यज्ञस्य) यज्ञ इवनादि किया और शिल्प विद्या आदि के (निधिषा) कोष का रक्षक (असि) है (एवम्, अहम्) ऐसे ही मैं (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के बीच में (वेदस्य) वेदविद्याज्ञान सम्बन्धी सब दिया के (निधिषा) कोष का स्वामी, ईश्वर करे कि (भूयासम्) होऊँ।”
५० ४३३।

अग्निपरिसमूहन में विनियुक्त मन्त्र

(iii) हरिद्वर आचार्य लिखते हैं कि मूल० ५२ के अग्निसन्धुक्षण में पांच मन्त्रों का प्रयोग होता है और कुछ आचार्यों के मत में तीन मन्त्रों का। वे तीन मन्त्र सूक्त० ५३ में (१) 'अग्ने...मा कुरु,' (२) 'यथा त्वमाने सुश्रवः ...सौश्रवसं कुरु' और (३) 'यथात्वमग्ने देवानाम् ... भूयासम्'। जो आचार्य पांच मन्त्र मानते हैं वे इस मन्त्र के भाग ऐसा करते प्रतीत होते हैं—१. अग्ने...कुरु। २. यथा...सुश्रवा असि। ३. एव... सौश्रवसं कुरु। ४. यथा त्वमग्ने...निधिषा असि। ५. एवमह...भूयासम्।

५४. प्रदक्षिणम्—अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए। पर्युक्ष्य—परि+√उक्ष्+त्सप्। सींच कर, छिड़क कर। इस से अग्नि का घेरा कुछ कम हो जाता है। यह किया शान्ति की प्रतीक है। महाचारी ज्ञान और शक्ति से

प्रदीप्त हो कर भी शान्तचित्त रहे । समिधम्—गदाधर आचार्य सूत्र० ५१ में भी तीन समिधाओं का प्रक्षेप मानते हैं ।

७५ आहार्यम्—आ + √हृ + लुट् प्रथम पु० एक व० । आहृ—
लाना, देना । जातवेदसे—मन्त्र०—ज्ञान देने वाला ईश्वर । गदाधर—
जातान् जातान् वेत्तीति जातवेदास्तस्मै । समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि को
जानने वाला । ब्राह्मणों में यह पद 'प्राण, वायु, समस्त उत्पन्न वस्तुएँ' का
वाचक माना गया है । अ० ३।२६।७ में अग्नि जन्म से ही 'जातवेदम्' है ।
वेद में यह 'अग्नि' के निरोपण के रूप में आया है । नि० ७।१६ में कहा
गया है कि उत्पन्न वस्तुओं को जानने वाला, जिस का उत्पन्न प्राणी जानते
हैं, समस्त पदार्थों में निश्चिन्त, जातचित्त जातधन, जातविन् या जातप्रज्ञान
होने से ही जातवेदा होता है । दस० ने इसे 'परमात्मा' का वाचक माना
है । अग्ने—यह सम्बोधन प्रयाग की शैली मात्र है । यद्वा प्रथमान्त रूप ही
अभीष्ट है, सम्बोधन नहीं । मेधया—मंधते तगच्छते सर्वमस्याम् । अक्रानु०
१।५।२ । √मेधृ सगमे + अ । यद्वा पर धातुपाठ में 'मिद मेद मेधाहिसनयो ।
मेधृ सगमे च । (मिधृ मेधु मेधाहिसयोरित्येके । मिधृ मेधु इत्यन्ये ।)' पाठ
है । यद्वा पर कोष्ठकों में प्रदत्त अश विकी० (बालमनोरमा) में नहीं हैं । इस
में 'मेधृ' पाठ अनावश्यक है, क्योंकि यह धातु पहले ही पढ़ी जा चुकी है ।
शेष में 'च' के प्रयोग से पहली धातुओं के अर्थ मेधा और हिसन भी नगते
होते हैं । अतः मेधृ के अर्थ मेधा, हिसन और सगम होते हैं । मेधा में
अज्ञान की दृष्टि और ज्ञान का सगम (=प्राप्ति, मेल) होता है । गदाधर—
अतीतादिधारणवती बुद्धि । प्रजया—धामान्यतः इस का अर्थ सन्तान
होता है । ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा का व्रत ले रहा है, सन्तानोत्पत्ति का नहीं ।
अतः यह अर्थ प्रकरण में असंगत है । ब्राह्मणग्रन्थों ने इस के अर्थ 'निश्चयोति,
इष', मूतानि, बर्हि, शस्त्रम्, उक्थानि' भी दिए हैं । अतः यद्वा पर विश्व
ज्योति, अन्न आदि अर्थ अमिश्रित हैं । पशुभिः—पशुओं—गाय, बैल, घोड़े
आदि से । यद्यपि गुरुकुल में इन तीनों पशुओं का परम उपयोग था और वे

यह पाले जाने से, परन्तु वे ब्रह्मचारी के अपने धन नहीं होते थे। अतः यह अर्थ भी प्रकरण में विशेष सगत नहीं।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में 'परावध' के अर्थ—'अग्नि, सविता, दैवी विश्व, गन्ध, धृतध्वज, इति, श्री, वर, शान्ति, रस, पुष्टि, पूर, प्रजापति की कल्याणी तन् प्राण, वाज, अन्न, धान, रह, आत्मा, वर, छन्दासि और वपु' आदि दिए गए हैं। इन में से दैवी विश्व (तु० क० दैवी सम्पत्—गीता १६।१-३), शान्ति, पुष्टि, वर आदि सामान्य रूप से और 'प्रजापति' की कल्याणी तन् विशेष रूप से सगत होते हैं। कठोपनिषद् १।२।१-२ में सात्त्विक सुखों को प्रेय और पारलौकिक या पारमार्थिक सुख को भेय कहा है। यही प्रजापति की कल्याणी तन् है। अतः पशुभि' का अर्थ कल्याण और शान्ति दिया जा सकता है। य०४०। ११, १४ के अनुसार दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति ही गालुगिक कल्याण प्रदान करती है। प्रकृत मन्त्र म आयु आदि से प्रेय और पशुभि से भेय की कामना की गई है।

(iii) जीवपुत्र —जीवन्त पुत्रा यस्य सः। दीर्घजीवी पुत्रो बाला। इस पद का महिताओं का प्रयास इसी अर्थ की आर सक्त करता है—तु० क० 'जीवपुत्रा पतिलोर मि रान प्रजा पश्यन्ती मुपनस्यमाना ॥ रि० २।११।३। त त्या डमती जीवन्ती जावपुत्रावुद् वासयात् पर्यग्निधानात् ॥ अवे १२।३।३५। यव जीवा जावपुत्रा अनागत ॥ श्रु० १०।३६।६। 'जीव' पद श्रु० १।६।८।२ में अग्नि का निरोपण है। जो 'जानता है, श्रु० १।११।३।१६ में 'श्रु' का निरोपण है। श्रु० ५।४४।१ में मेघानी विद्रात् का श्लोक प्रतीत होता है (देखो दयानन्दभाष्य)। अवे० १६।७०।१ में यह त्वरे, इन्द्र और देवताओं का निरोपण है। अवे० १४।२।४४ में यह निष्पाप यशस्वी युद्ध क लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः यह पद महिताओं में जीव, प्राणियों और जावत व अर्थ में आया है। अतः भाष्यकारों के उपरोक्त अर्थ १ साथ जावपुत्र का अर्थ—गतिशाल, बुद्धिमान् और वर के समुदायक (तु० क० स जाता यन जातेन वाति वशः समुन्नतिम्) का पुत्र अर्थात् परम

गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी' किया जा सकता है। इस की पुष्टि ब्रह्म-चारी की 'मेधावी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद और अनिराकरिष्णु' होने की प्रार्थना से होती है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के सदृश होना चाहता है। अनिराकरिष्णुः—जयराम—गुरु द्वारा बताये गये धर्म आदि को न भूलने वाला। सच० किसी का तिरस्कार न करने वाला। यह पद न निराकरिष्णु (निर + आ + √ कृ + इष्णुच्) से बनता है। निराकरण के अर्थ सशक्तिको० में '(१) शमन, (२) निवारण, (३) खण्डन, (४) देश निवासन, (५) तिरस्कार, (६) मुग्ध यज्ञोप कर्मों की अवहेलना' दिये गये हैं। इन में छठा और तीसरा अर्थ भी उपरोक्त अर्थों के साथ प्रकरण में उपयोगी हैं। ब्रह्मवर्चसी—सच०—ब्रह्मधर्मन्वी तेज वाला अर्थात् आत्मिक बल धारा। जयराम—याजनादितेजोयुक्त। प्रकरण में ब्रह्म का वेद अर्थ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। अतः 'वेदज्ञान के तेज से युक्त'। अन्नादः—अन्ननक्षीत्यन्नाद। समस्त भोग्य पदार्थ 'अन्न' होते हैं क्योंकि 'भोगना' 'पाने' के भाव का ही विस्तार है इसी लिए ब्राह्मणों में 'अन्न' के अर्थ 'शान्ति, पशु, भी प्राण, वाज, सप्त सरयू, दधि मधु घृत, समस्त भूतों की आत्मा और रेतः' आदि दिए गए हैं। 'अन्न' को ब्रह्म 'वैश्वदेव' भी कहा गया है। देखो वैको० पृ० ३०—३१। अतः यहाँ 'समस्त भोग्य पदार्थों का भाक्ता' अर्थ अभिप्रेत है। स्वाहा गदाधर—सुहुतमस्तु। यह मु + आ + आह से बना है—सब और से मुन्दर ऊपर। इस मन्त्र में कुछ प्रार्थनाएँ हैं। यहाँ पर उन प्रार्थनाओं की सफलता की कामना व्यक्त की गई है। वेदभाष्यों में स्वा० दयानन्द सरस्वती के अर्थ और वैदिक कोंप में स्वाहाकीर के अर्थ भी अवलोकनीय हैं। मेनकूत ४७ की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० ८१ पर पादटिप्पणी भी देखें।

५६. दूसरी और तीसरी समिधाओं को डालते समय मन्त्र स० ५५ को प्रत्येक बार पढ़ना होता है।

५७. एषा ते—समिधाधान में 'अग्नये समिधमाहावम्' के स्थानपर

'एषा ते' मन्त्र से समिधा दे। अथवा 'अग्ने समिधम्' और 'एषा ते' दोनों मन्त्रों को मिला कर पढ़े।

एषा ते मन्त्र और उस का अर्थ

(ii) 'एषा ते' मन्त्र यह है—

"एषा ते अग्ने समिध तया वर्धस्व चान्न प्यायस्व ।

वर्धिषीमहि च वयमा च प्यामिषीमहि ॥

अग्ने वाजजिद् वाजन्वा ससृजाम् स वाजजित सम्मार्जिम ॥ य० २।१४

(iii) इस का अर्थ यह है—

[अग्ने] हे अग्नि [एषा] यह [समिध] समिधा [ते] तुम्हारे लिए (है)। [तया] उस से [वर्धस्व] प्रदीप्त हो [च च] और [आप्यायस्व] (मुक्त ब्रह्मचारी को) बढ़ाओ। [च] और [वयम्] हम [वर्धिषीमहि] बृद्धि को प्राप्त करें [च] और [आ] सब ओर से [प्यामिषीमहि] (दूसरों को) बढ़ा सकें। [अग्ने] हे अग्नि [वाजजित्] जानसमय हुआ (मैं) [वाजम्] शक्तिपुत्र [ससृजाम्] गतिशील [वाजजितम्] अन्न आदि के उत्पादक [त्वा] तुम से [सम्मार्जिम] प्रदीप्त करता हू।

समिधाधान का भाव

(iv) भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि समिधा से प्रदीप्त होती है उसी प्रकार मैं ज्ञान से चमक कर लोक का कल्याण कर सकू। निविध पदार्थों के ज्ञान के लिए शक्ति, गति और उत्पादन के परम साधन अग्नि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर प्रयोग कर सकू।

(v) समिधाधान के दोनों मन्त्रों में अग्नि परमेश्वर की प्रतीक है। परमेश्वर ही ब्रह्मचारी को समस्त कामनाओं को पूरा कर सकता है। मौक्तिक अग्नि नहीं। प्यायस्व—√प्याय्+लोट् मध्यम पु० एक व०। रदाना। वर्धिषीमहि—√वृष्+दना+आशीर्लिङ् उत्तम पु० बहु व०। प्यासि

पीमहि—यह √‘प्यै’ से आशीर्लिङ् का रूप है। वाजजित्—वाज के अर्थ पहले दिए जा चुके हैं। जित् जीतने वाला। अतः समर्थ, सम्पन्न। अग्नि के पक्ष में—अन्न आदि के अभाव को जीतने वाचा=अन्न आदि से समृद्ध करने वाला, अतः अघ्न आदि का उत्पादक। सप्तवांसम्—√स जाना क्यप्+पुल्लिङ् द्वितीया एक व०। गतिशील। सम्मार्ज्मि—माफ करता हूँ, प्रक्षीत करता हूँ।

जलसेचन

५८ पूर्ववत्—पहले के समान, जैसा ऊपर सू० ५२ और ५४ में बताया है। इस परिसमूहन (=अग्नि को एकत्र कर प्रज्वलित करना) और पर्युक्ष्ण (अग्नि को जल से छिड़कना) के एक साथ वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यहा पर यज्ञवेदी के चारों ओर ‘अदितेऽनुमन्यस्व (पूर्व में)’ ‘अनुमतेऽनुमन्यस्व (पश्चिम में)’ ‘सरस्वत्यनुमन्यस्व (उत्तर में)’ और ‘देव सवितः प्रमुन यज्ञं प्रमुच यज्ञरति भगाय दिव्यां गन्धर्वः केतून् नेत न पुनातु वाच सतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ (चारों ओर)’ से जलप्रसेचन अभीष्ट हो, अग्नि पर जलसिंचन नहीं। मदाधर के लेख ‘पर्युक्ष्ण अग्ने सर्यतो जलासेका’ का भी यही भाव है। क्योंकि अग्नि को प्रदीप्त करते ही उसे शान्त करना कुछ कम समझ में आता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परिसमूहन और जलप्रसेचन के एक साथ करने से ‘बड़े हुए उन्नत पुरुष को उन्नति के साथ साथ शान्ति को धारण करना परम आवश्यक है’ यह भाव निकलता है। इस जलप्रसेचन का विधान स्वा० दयानन्द सरस्वती ने सस्कारविधि में किया है।

हाथ तपा कर अगों के स्पर्श का लक्ष्य

५९. प्रस्तप्य—प्र+√तप्+ल्यप्। विमृष्टे—वि+√मृश्+लट् प्रथम पु० एक व०। मलता है। इस कार्य को करने से यज्ञाग्नि से उठती हुई आहुतियों में डाले हुए द्रव्यों के परमाणुओं से समृद्ध और अनेक प्रकार के गुणों से युक्त वायुओं का विशेष संपर्क प्राप्त होता है और वह चित्त को

प्रभञ्ज और मुख को कान्तिमय कर देता है। यज्ञ में जो पदार्थ डाले जाते हैं वे सुगन्धयुक्त और पौष्टिक तो होते ही हैं साथ ही विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के उत्पादक भी होते हैं। विस्तार के लिये डा० सत्यप्रकाश की पुस्तक 'अग्निहोत्र' देखें। यहां पर लोह में हाथों पर आहुतियों के पश्चात् जल में डाली हुई घृत की घूदों को मलने की प्रथा देखने में आती है।

६०. तनूपाः—तनू पातीति तनूपाः। ऐ० २।४ के अनुसार प्राण 'तनूपात्' है क्योंकि वह शरीर की रक्षा करता है। श० १।५।४२ में 'रेतस्' (=पीयूष) को 'तनूपात्' कहा है। शरीर की स्थिति वीर्य से ही होती है। 'तनूपात्' 'अग्नि' का प्रसिद्ध नाम है। ऊपर अग्नि के अर्थों में 'प्राण' और 'रेतस्' भी मिलते हैं। अतः प्राण और रेतस् को प्रतीक अग्नि से शरीर को रक्षा की प्रार्थना की गई है। आयुर्दाः—आयुः वदातीति। दैवते प्राप्यते यत्तदायुः। जीवनं वा। (दसउ० २।११८) अथवा, एति प्राप्नोति सर्वानित्यायुर्जीवनकालः (दसउ० २।१२)। दोनों स्थलों पर दोनों ही व्याख्यान संभव हैं, केवल प्रत्यक्ष ऋग्वेद है। आयु पद गतिशील काल का श्रेष्ठ है। इसी लिए इस के अर्थों में 'मवत्सर', यज्ञ, लोक और अग्नि का भी ग्रहण किया गया है। अग्नि गतिप्रदान करती है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह समय (=सरस्वर) का विधान करती है—नु० क० 'ये द्वे काल विधत्'। अभिशानशाकुन्तल १।१। बर्चोदाः—अग्नि बर्चस्=तेज का कांक्ष है, यह मुजात है। तन्वाः—तनो। शरीर का अर्थात् शरीर में। ऊतम्—कमी। आपृण—आ+√पृण प्रसन्न करना, शान्त करना—सोड मध्यम पु० एक व०। (कमी को) शान्त कर दो, (कमी को पूरा कर के) प्रसन्न करो। अतः अनुवाद में 'पूरा करो' अर्थ दिया गया है। इसे √पृ पूरा करना से भी लिया जा सकता है।

(11) वेद में अग्नि को अंगिरा कहा है। श्रु० १०।६।२ में अग्निरस श्रुत के प्रशस्त, सरलता के धारक, सुपुत्र, अमुर के वीर, विद्वत्पदप्राप्त और यज्ञ के तेज का श्रेष्ठ मानने वाले, श्रु० २।५।१७ में घनदायक और

आयुर्वर्धक, ऋ० ६।६५।५ में गो (=वाणी=ज्ञान) के वशज और य० ३४।१७ में पदज और साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले कहे गए हैं। ऐसे व्यक्ति ही राष्ट्र को और समाज को प्राण और आयु देते हैं और उन की कमी दूर करते हैं। अतः यहां पर व्यञ्जनावृत्ति से ब्रह्मचारी और उपस्थित विद्वानों और सामान्य जनता को अपने अपने अनुरूप भावनाएं प्रकट करने का संकेत है।

६१. देवी—देवपद का स्त्रीलिंग रूप। ऊपर सू० ३३ में देवपद देखें। सरस्वती—सामान्यतः यह 'विद्या' की देवी मानी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ वाक्, जिह्वा, गौ, अमावास्या, योपा, पुष्टि आदि पाये जाते हैं। ऋग्वेद में सरस्वती को पावरु, ज्ञान सम्पन्न, सूतों की प्रेरक, बुद्धियों को चिताने वाली कहा है—

‘पात्रका न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीरती । यज्ञं वष्टु धियावसु ॥
चोदयित्री सुनृतानां चेतन्ती मुमतीनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती ॥
महो अर्यः सरस्वती प्रचेतयति केतुना । धिया विश्वाविराजति’ ॥”

अतः वैदिक सम्प्रदाय में यह विद्या, ज्ञान और यज्ञकर्म आदि की श्रोतृक है (ऋ० ६।६१, १०।१४।५ आदि भी देखें)। अश्विनौ—ये युगल देवता हैं। ऋग्वेद में ये इन्द्र, अग्नि और साम के पश्चात् आते हैं। इन सूक्तों में बहुत से चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इन के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। वस्तुतः कोई एक अर्थ या दृश्य आदि इन के समस्त ग्रन्थों की समति नहीं लगा सकता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अनेक अर्थ दिए गए हैं। शतपथब्राह्मण ४।१। ५।१६ में अग्नि और आदित्य से युक्त पृथिवी और बुलोक को पुष्करस्रजौ अश्विनौ कहा है। इस पद के अन्य अर्थों में ओज, नासिका, अभ्वयू, देव भिषज् भी आते हैं। श्रीमैकडोनल इन्हें प्रकाश के देवता मानते हैं और इस

पद की व्युत्पत्ति 'अश्न + इन् — खाड़े वाला देते हैं। यास्क (नि० १२।१) के कथनानुसार कुछ आचार्य इन्हें अहोरात्र कुछ सूर्यावक्रमसौ और कुछ पुण्य कर्म करने वाले दो रात्रि मानते हैं। प्रकरण में इन में से कोई अर्थ सगत नहीं होता है। आवाप्रधिगी आदि जड़ वस्तुएं चेतन ब्रह्मचारी को मेधा प्रदान करने में समर्थ प्रताप नहीं होतीं। अध्वर्यु के अर्थ मन^१ चक्षु^२ और प्राण, उदान^३ दिए गए हैं। मन और चक्षु शानेन्द्रिय हैं। वे विषयों का साक्षात्कार कर मानव के ज्ञान और उसने द्वारा मेधा को बढ़ाते हैं। भाव यह है कि मन और चक्षु से विषयों का ज्ञान यथार्थ हो और वह ब्रह्मचारी के स्वभाव पर गहरा प्रभाव डाल सके।

(iii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्विनौ के अनेकविध अर्थों में 'अध्यापक और उपदेशक' अर्थ भी दिया है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक सगत है। उपनयन के समय यदि बालक अध्यापक और उपदेशक से ज्ञान और स्मरणशक्ति बढ़ाने के उपायों—योग आदि के निरन्तर उपदेश की प्रार्थना करे तो उपयुक्त हो है। अश्विन् शब्द √अश् व्याप्तौ से बनता है और अध्यापक तथा उपदेशक का वाचक बन जाता है।

(iv) हठयोग के पट्कमल और कुण्डलिनी के सिद्धान्तों की दृष्टि में अश्विनौ को प्राण और अपान भी माना जा सकता है। दस० ने 'हम मे गंगे यमुने' आदि मन्त्रों में हठयोग का दर्शन किया है। देखो श्रुभाभू० पृ० ३७६। पुष्करस्रजौ—श० ७।४१।१३ के अनुसार अश्वि के रस को ऊपर कर के उत को पुरन्त रक्क बनाना पुष्कर^४ है। अपस् के अर्थ 'प्राण, अमृत, शान्ति, प्रतिष्ठा, भद्रा, यज्ञ, सर्व देवाः' आदि हैं। उधर पुष्करपर्णम् (पुष्कर का पत्र) के अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् भी हैं। अतः पुष्करस्रजौ का अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् से समग्र व्यक्ति हैं। सच० का 'कमल की मालाओं से सजे हुए' अर्थ बहुत शोभन नहीं है।

६०. अगान्यालम्ब्य जपति—यह अगस्त्य पारस्करीय नहीं है, परन्तु इन सूत्रों में यह अंश परिशिष्ट रूप में पढ़ाया किया गया है और इसी लिये कोष्ठकों में रखा गया है। पारस्करीय शाखा में यह कच से स्वीकृत हुआ यह जानना सभ्य नहीं जान पड़ता। अन्य सूत्रकारों ने इस का विधान माना है। दस० ने यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य दिया है। यथा ॐ 'वाक् च आप्यायताम्। ॐ प्राणश्च च आप्यायताम्। ॐ चक्षुश्च च आप्यायताम्। ॐ श्रोत्रं च च आप्यायताम्। ॐ यशो बलं च च आप्यायताम् ॥ जयराम ने भी 'तत्र वाक् च च आप्यायतामिति क्रिया विपरिणाम कुर्यात्' लिख कर दस० के समान प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य की योजना का विधान माना है।

(ii) आलम्ब्य—आ + √लभ् + ल्यप्। चारों ओर से प्राप्त कर के = स्पर्श कर के। इस धातु का अर्थ में कालान्तर में परिवर्तन हो गया और आ + √लभ् हिंसा अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। तु० क० सुरमित्तनया लम्भना रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। मेघ० १।४६। इस अर्थपरिवर्तन के कारण अग्न्य पशुओं का वध कर उन्हें यज्ञों में डालना प्रारम्भ हुआ। वैदिक विषयों और तत्सम्बन्धी स्थलों पर आ + √लभ् का पूर्वोक्त मूल अर्थ ही लगाना उचित प्रतीत होता है। जपति—तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन के इस सूत्र के अनुसार किसी विषय के भाव या अर्थ को मन में विचारना, धारण करना ही जप है। अतः मन ही मन (—उपाशु वा मौन रूप में) किसी विषय या मन्त्र आदि का पुनः पुनः उच्चारण करना जप नहीं है। यहाँ पर 'वाक् च च आप्यायताम्' आदि के जप में क्रिया के साथ 'वाक्' आदि की वृद्धि की भावना भी मन में धारण करनी अभीष्ट है।

तिलक लगाना

६१. त्र्यायुपमिति—भाष्यकारों के मत में 'प्रतिमन्त्रम्' का अर्थ 'त्र्यायुपम्' के चार पाद हैं। प्रत्येक पाद से एक एक क्रिया करे। 'त्र्यायुप जमदग्ने' से ललाट पर, 'कश्यपस्य त्र्यायुपम्' से ग्रीवा में, 'यदेवेयु त्र्यायुपम्'

से दाहिने कन्वे पर (अथवा दोनों गहुओं के मूल में-शुक्रदेन) और तानो अस्तु त्र्यायुषम्, से हृदय पर राख से त्रिपुण्ड्र तिलक लगाए। परन्तु यदि विधान कर्त्ता का यही अभिप्राय हाता तो वे प्रतिपादम्' पद का प्रयोग करते। अतः सम्भव है कि उन्हें यहाँ चार मन्त्र अभिप्रेत हों। निम्न को परम्परा अत्र विस्मृत हो गई है। इन में से दो कारण यजुर्वेद संहिता में प्राप्त 'यन धाता बृहस्पते रिन्द्रस्य त्र्यायुषेऽनपत्। तन ते वयमि ब्रह्मणा जीमातव नीमनाय ॥ दार्यायुन्वाय रत्नाय नर्वसे। मुप्रत्तास्त्राय चासा अयो जीम शरद शतम्' ॥ (१।७५-७६) और एक माध्यदिन यजुर्वेद संहिता का १।६१- 'शिवा नामासि म्वधिनस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिँसा। निवर्त्तयाम्यायुषेऽनाद्याय प्रत्ननाय रायस्रोत्राय मुप्रत्तास्त्राय मुवायय ॥' हो सकते हैं। कर्त्त आदि सभी माध्यकारों का विचार है कि अगालम्भन और त्र्यायुषतिनक करण पारम्पर आचार्य को अभिमत नहीं है और इसी लिए उन्होंने इस का विधान नहीं किया है। इस विधि में वे दोनों प्रमाण परम्परा से शिष्टों में प्रचलित होने से अन्य प्रयोगों से ले कर यहाँ सम्मिलित कर दिए गए हैं।

त्र्यायुष जमदग्ने. का अर्थ

(ii) इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

[जमदग्ने] परम गतिशाल जनों का [त्र्यायुषम्] त्रिया, बुद्धि, और धर्माचरण से प्राप्त बुद्धि, उल और पराक्रम का गुण [कश्यपस्य] ज्ञान्तदर्शी अन्त्याओं का [त्र्यायुषम्] श्रवण मनन और निदि यासन का गुण और [यत्] या [देवेषु] विद्वानों का [त्र्यायुषम्] चार आभामा, चार वणों और पराक्रम का गुण (है) [तत्] वह [त्र्यायुषम्] तान प्रकार का गुण [न] मुझे [अम्नु] प्राप्त हो जाए।

(iii) देवेषु—शतरथप्राप्त में विद्वानों का देन' कहा गया है। त्र्यायुषम्—आयु की व्युत्पत्ति ✓ ह धातु म दा ता तुमी है। जा प्राप्त हो रह आयु है। अतः यह गुण का वाचक है। देगा य० १।६० में दस०

का भाष्य । त्रिभिध गुण का व्याख्यान प्रत्येक स्थल पर 'देव' 'जमदग्नि' और 'कश्यप' के ग्रन्थों के अनुरूप करना होगा । विद्वान् आश्रमा और यणों के धर्मा का पालन कर के अपने को उन्नत कर राष्ट्र और मानव जाति का उपकार करते हैं—नु० क० यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ अवे० ५।१६।२ । जमदग्नेः—शतपथ ब्राह्मण में ससार के द्रष्टा और मनन करने वाले का जमदग्नि ऋषि कहा है । वहा इस का अर्थ प्रजापति भी किया गया है । यास्क ने इस का व्याख्यान 'प्रजमिताग्रयो वा प्रव्यसिताग्रयो वा' किया है । 'प्रजमित' के स्थान पर दस० ने 'प्रजवित (य० ३।६२ का भाष्य) और डा० पतहसिंह ने 'प्रयमित' (वेए० २६४) पढ़ा है । तीनों पद क्रमशः √जम् भक्षण करना, √जव् जाना (निघ० २।१४।१०५), √यम् उपरमे (वश में करना आदि) से बनते हैं । अतः दुर्गुणों का नाशक प्रगतिशील सयमी यशमय पुरुष । ऐसा व्यक्ति ही राष्ट्र का चक्षु होता है । इस लिए उस का गुण 'विद्या बुद्धि और धर्माचरण से विशिष्ट शुद्धि बल और पराक्रम होता है ।

(iv) कश्यपस्य—तैत्तिरीय आरण्यक में 'कश्यप पश्यको भवति' कह कर इसे √हश् से व्युत्पन्न किया है । देखने वाला, अतः क्रान्तदर्शी । प्रकरण ब्रह्मचर्यव्रतधारण का है । अतः यहा 'अध्यापक' का बोध ही अभिप्रेत है । कश्यप प्रजापति और आदित्य का भी नाम है । इस पद के प्रयोग से 'प्रजापति के सदृश, अखण्ड, सत्य ज्ञान वाला, क्रान्तदर्शी अध्यापक' भाव द्योतित किया गया है । वैए० २२८, दस० य० ३।६२ का भाष्य, ऋभामू० पृ० ३७१ । अरण मनन और निदिध्यासन से ही मनुष्य 'कश्यप' या क्रान्त द्रष्टा बन सकता है ।

येन धाता मन्त्र का अर्थ—

(ii) [धाता] ईश्वर ने [येन] जिस (वेदज्ञान) से [बृहस्पते] वेदज्ञान के पारगत [च] और [इन्द्रस्य] परमैश्वर्यशाली ब्रह्मचारियों को [आयुषे] गुणप्राप्ति के लिए [अवपत्] प्रवृत्त किया है (श०—बोया है)

[तेन] उस [ब्रह्मणा] वेदज्ञान से [ते] तुम्हारी [जीवनाय] आयु को [जीवातवे] गतिशील बनाने के लिए [वयामि] धारण करता हूँ।

(vi) यह काण्वमहिता का मन्त्र है और मा यन्दिन में उपलब्ध नहीं होता है। अवपत्—✓ वप् सेना से लङ् लकार प्रथम पु० एक व०। गाना, स्थापित करना, जमाना, धारण करना, धारण कराना। अतः हिन्दी अनुवाद। तु० क०—‘तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतं मृच सामानि जतिरे। छन्दासि जतिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।’ प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वर ने घेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में मानव के कल्याण के लिए दिया था। जीवातवे—जीने के लिए। यह ✓ जीव् से तुमर्थ में वैदिक रूप है। जीवनाय—जीवन के लिए। दोनों पदों के प्रयोग से अर्थ में पुनरुक्ति आ जाती है। अतः जीवातवे का गत्यर्थ में लिया गया है। प्राणधारण गति ही है। जीवन = जल = रस = अमृत—इन प्रकार जीवनाय का अर्थ ‘रस और अमृत की प्राप्ति के लिए’ भी किया जा सकता है।

(vii) दीर्घायुत्वाय मन्त्र का अर्थ

[अथो] और [असौ] यह (मैं) [दीर्घायुत्वाय] चिर काल व्यापी जीवन [धत्ताय] बल [वर्चसे] तेज [व] और [सुप्रजास्त्वाय] कल्याण कारणों विश्वव्याप्ति की प्राप्ति के लिए [शतम्] सैकड़ों [शरदः] वर्ष [जीव] जी सकूँ॥

(viii) सुप्रजास्त्वाय—प्रजा के अर्थ के लिए ऊपर सू० ५५ की टिप्पणियाँ देखें। शतम्—इसे उपलक्षण लेना उचित होगा। तु० क०—भूयश्च शरदः शतात्। व्यायुष जमदग्ने मन्त्र के भाष्य में दश० में तीन सौ और उस से भी अधिक दिन के जीवन की कल्पना की है। असौ, जीव—इन दोनों में पुरुष का व्यत्यय अभीष्ट है। प्रकरण के अनुसार इन को उत्तम पुरुष में लिया गया है।

(ix) शिवो नामासि मन्त्र का अर्थ

[ते] तुम्हारा [नाम] नाम [स्वधितिः] अपने ज्ञान से धारण (अथवा—

प्रसन्न) करने वाला [पिता] रक्षक (और) [शिवः] कल्याणकारी [असि] है । [नमः] (मिरा) अव्ययन-यज्ञ [ते] तुम्हारे लिए [अस्तु] हो । [मा] मुझे [मा हिंसीः] पीड़ित न करो (अर्थात्—दुःख न हो) । [आयुषे] गतिशील जीवन [अन्नादाय] ज्ञान और शान्ति आदि भोगों के उपभोग [प्रजननाय] (खोजों द्वारा) नई-नई सृष्टि [रायस्पोषाय] विद्या आदि धन की समृद्धि रूप महिमा [सुप्रजास्त्वाय] कल्याणकारिणी प्रश्वज्योति (और) [सुवीर्याय] कल्याणकारिणी दाहक शक्ति (की प्राप्ति) के लिए [निवर्तयामि] पूर्ण रूप से (ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतीक रूप त्रिपुण्ड्र तिलक) लगाता हू ।

(x) नाम—√नम् से । पर्ययसन, स्वरूप की पूर्णता । शिवः—

श० ६।७।१।१५ में इसे √शम् शान्त करना से, पपाउ० १।१५३ में √शी सोना से (तु० क० दस० भाष्य) और सशकौक० में √शो से व्युत्पन्न किया गया है । इसे 'शि' से 'यन्' लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है । कतिपय विद्वान् दस पद को अनार्य भाषाओं से आया हुआ मानते हैं । पौराणिक शिव को भी वे अनार्य देवता मानते हैं । परन्तु संहिताओं में इस पद के प्रचुर प्रयोग, शिवपूजा का भोज्य अम्बक = नारिकेल में होने से^१ यह विचार समीचीन नहीं मालूम पड़ता । असि—अस्ति । पुरुषव्यत्यय । स्वधितिः—निघ० २।२०।१६ में इसे वज्रनामों में पढ़ा गया है । भाष्यकारों ने सामान्यतः यही अर्थ ग्रहण किया है । दस० ने ऋ० १।१६२।६ में स्वेन धृतौ (द्विवचन) और ऋ० १।१६२।१८ में विद्युत् अर्थ लिए हैं । ऋ० ६।६६।६ में स्वधितिर्वनानाम् का प्रयोग गीता के 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (१०।२२) के समान हुआ है । अतः यहाँ यह किसी वृद्ध (अश्वत्थ ?) (तु० क० अश्वत्थ, सर्ववृक्षाणाम्—गी० १०।२६) का वाचक है । ऋ० १०।६२।१५ में इसे इन्द्र का विशेषण मानना समीचीन प्रतीत होता है । ऋ० २।२।१०, २।८।६, और ५।७।८ में यह 'ज्ञान—वेदज्ञान' का वाचक प्रतीत होता है ।

१. देखो कोफ़ोनट इज दी ओरिजन ऑफ़ शिवकल्ड, एस० के० गुप्त, आइओका० १६४८ (संक्षेप) ।

(X1) पदपाठकारों ने इस का स्वरूप स्वधिति माना है। धिति शब्द √धि धारण करना अथवा √धिन् प्रसन्न करना से व्युत्पन्न होता है। (देखो वि० पृ० ५१६ साम् २, धित और धिति पद)। अतः इस पद का प्रकरण की दृष्टि में अपने ज्ञान से धारण और प्रसन्न करने वाला अर्थ लिया गया है। अन्य अर्थ प्रकरण में धनु-से प्रतीत होते हैं। नमः—इस का अर्थ 'नमस्ते', 'प्रणाम' भी किया जा सकता है। श० २।४।२।२४, ७।४।१।३० में इस का अर्थ 'यज्ञ' दिया गया है। अतः यहाँ अभ्यापन-यज्ञ अर्थ ग्रहण किया गया है। हिंसी—दुबोध वस्तु पीड़ित करने वाली होती है। भाव यह है कि मेरा अध्ययन का परिश्रम सफल हो। यह पद √हिन् से लुन् मध्यम पु० एक व० का रूप है। 'मा' के प्रयोग के कारण 'अट्' का लोप हो गया है। निघर्तयामि—मन्त्र का विनियोग त्रिपुण्ड्र लगाने में किया गया है। अतः अनुवाद में यही भाव ग्रहण किया गया है।

त्रिपुण्ड्र लगाना अनावश्यक

(X1) त्रिपुण्ड्र के यशोमयी के समान ही तीन मृशों आदि का द्योतक चिह्न माना गया है। यदि इस का लक्ष्य यज्ञपरीत के लक्ष्य से अभिन्न है तो यह कर्म अनावश्यक है। सम्भवतः इसी कारण पारस्कराचार्य ने इस का विधान नहीं किया है। वैसे भी यह लिया वैदिक प्रतीत नहीं होता। अन्नाधाय—ता० १।३।८ में अन्न का 'वाज' और ए० ५।२।७ में 'शान्तिः' कहा गया है। अन्तु याग्यमाद्यम्—भक्षण, उपमीग क याग्य। प्रजननाय—उत्पन्न करने के लिए। ब्रह्मचारा ब्रह्मचर्य काल में पुत्र आदि उत्पन्न नहीं करता है। अतः हिन्दी अनुवाद। रायसोपाय—ब्रह्मचारी का धन निग्रा है। उसी की पुष्टि या समृद्धि अमीष्ट है। श० १।५।२।२ में 'भूमा' (महिमा) का 'रायस्याप' कहा गया है। सुवीर्याय—कल्याणकारी वीर्य = शक्ति के लिए। तै० १।७।२।२ में 'अग्नि' को वीर्य कहा है। अतः उस में 'दाहक' का भाव निहित है। अतः हिन्दी अनुवाद।

अभिवादन

६४. यहा भाष्यकारों ने अभिवादन का भी विधान माना है। मूल में उस का कोई निर्देश नहीं है।

भिक्षा मागने की रीति

६५-६७—भयत्पूर्वाम्—भाव यह है कि ब्रह्मवर्चस् का इच्छुक भिक्षा मागते समय 'भवान्/भवती भिक्षा ददातु' कहे, ज्ञात्र तेज का इच्छुक, 'भिक्षा भवान्/भवती ददातु' और वैश्यगुणों में कौशल का अभिलाषी 'भिक्षा ददातु भवान्/भवती' का प्रयोग करे। यहा पर भाष्यकारों ने भवति भिक्षा देहि, भिक्षा भवति देहि और भिक्षा देहि भवति का सम्बोधन बताया है। गदाधराचार्य के मत में भिक्षा अपने वर्ण ऋजुओं से ही मागनी चाहिए। संभवतः वे मानते हैं कि उपरोक्त सम्बोधन से प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचारी क वर्ण को जान कर अपने वर्ण के ब्रह्मचारी को भिक्षा दे देगा। परन्तु वर्णों का ऐसा दृढ़ वर्गीकरण पीछे का है, वैदिक काल का नहीं है। अतः ये प्रयोग ब्रह्मचारी की विद्याविशेष के ही द्योतक माने जा सकते हैं।

६८-६९ तिस्र.—माता आदि भाग पूर्ण करने वाली तीन, छै, बारह या (आवश्यकतानुसार) अनेक एसी स्त्रियों से भिक्षा मागे जो देने में इकार न करें क्योंकि इकार से गलत क मन में द्योभ हाता है। दस० ने माता, पिता, बहन भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से भिक्षा मागना बताया है।

७० माता कभी भिक्षा के लिये इकार नहीं करती। अतः उस से हो सन से पहले मागा जाता है।

७१. निवेदयित्वा—मागने पर मिली समस्त भिक्षा को आचार्य को दे कर, उस द्वारा दिए भाग से क्षुधाशान्ति कर बाणी को स्वयं में रखे, कम और सयत पद बोले अथवा मौन रहे (१)। त्स० ७२ की दृष्टि में यहा

मौन रहना अभीष्ट प्रतीत होता है। कर्माचार्य इस मौन को वैमलिक समझते हैं।

वनस्पतियों में जीव

७२. अहिंसन्—नन् + √ हिस् + शतृ + पु० प्रथमा एक व०।
हिंसा न करते हुए। अर्थात् गिना काटे हुए। प्राचीन भारतीयों के मत में
वृक्ष आदि ॥ भी जीव होता है—तु० व०—मनु० १।४६

“तमसा गुरुपेण वेणिता” कर्महेतुना।

अन्तःसृज्य भवन्त्येते सुतदुःखसमन्विता ॥”

वेद में भी वनस्पति का चेतन अग्नि से तादात्म्य कर के इस मानना का सूत्रपात
क्रिया गया प्रतीत होता है। (देखो ऋ० १०।११०।१० आदि)। अतः काटने
से वृक्षों को पीड़ा पहुँचनी है। ब्रह्मचारी अहिंसाप्रमुख यम-नियम आदि का
व्रत लेता है। अतः यह वृक्षों का भी कष्ट नहीं पहुँचा सकता है। ऐसी
परिस्थिति में खूब कर निर्जीव हो गई शाखा आदि को लाना ही यहा अभीष्ट
है। अरण्यात्—समिधाए जंगल से बीन कर लानी हैं, बस्ती में से माग
कर नहीं। बस्ती में से मागने में गृहस्थों पर अनावश्यक भार, ब्रह्मचारी में
अत्यधिक परिनिर्मलता की भावना, जंगल में जाने से यहा का व्यायाम और
शुद्ध वायु से वञ्चित रहना आदि दोष हैं। अरण्ये √ ऋ से व्युत्पन्न होने के
कारण ज्ञान का स्रोतक है। अतः अरण्य से समिधाहरण में व्यञ्जना से यह
अर्थ भी उपलब्ध होता है। समिधम्—समिध् से द्वितीया एक व०।
समिधः—पा० मे०। यह बहुवचन का रूप है। तस्मिन्—उसी पूर्व की अग्नि
में जिस के समस्त यज्ञोपवीत चारण की क्रियाएँ की गई थीं। पूर्ववत्—पहले
के समान परिसमूहन, पशुवध और समिधाधान कर के प्रज्वलित अग्नि में
यहा के लेखानुसार समिधा दें। अथ ब्रह्मचारी बोल सकता है। आधाय—
आ + √ धा + ल्यप्। प० मुखदेव ने यहा उपनयन की दक्षिणा में एक गाय

का विधान माना है (—गो० शृ० मू० २।१०।५०) जो नितान्त अप्रासंगिक और अवैदिक है। दक्षिणा ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देने की परिपाटी लक्षित होती है। देखा खु और कौत्स का आश्रयान।

उपनयन के समय किए जाने वाले उपदेशों का प्रयोजन

७३. ये विधान स्वास्थ्य, वीर्यरक्षा^१ तथा क्रियाशीलता की दृष्टि से किए गये हैं। दत्त० ने सस्कारविधि में इस अवसर पर दिये जाने वाले और भी उपदेश संकलित किए हैं।

७४. ये विधान शरीररक्षा, चरित्र में मद्दता और ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किए गए हैं। दण्डधारण से अपनी और अन्यो की रक्षा सम्भव होती है। अग्निपरिचरण^२ (=हवन) से शारीरिक और आत्मिक शुद्धि होती है। गुरुसेवा से ज्ञान मिलता है—‘तद्विद्धि प्रणिपातेन परिमर्शनेन सेवया वा’। वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति में तीनों ही आवश्यक हैं। भिक्षा से अपना और गुरु का तथा अन्यो का निर्वाह होता है। ये दैनिक कृत्य हैं।

७५. ये विधान चरित्रनिर्माण के लिए किए गए हैं। दुर्गुणों से बचना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है। मानव की प्रवृत्ति निम्नगामी है। ये सब कर्ष निम्न हैं। बालक की प्रवृत्ति को उच्च बनाने के लिए इन सब से उसे बचाना आवश्यक है यद्यपि गुरुकुल में आचार्य इन का अभाव उत्पन्न कर सकता है। परन्तु बालक मन में भिक्षाकाल में और एकान्त समय में इन कर्मों का चिन्तन और आचरण कर सकता है। अतः ये उपदेश दिए गए हैं। स्वामी शिवानन्द की पुस्तक ब्रह्मचर्य ही जीवन है^३ में इन उपदेशों की विस्तृत व्याख्या की गई है। मधु—शराय। मांस—यहापर पशुओं आदि का

१. ५० मुखदेव ने ‘अक्षारलवण’ का अर्थ ‘सैंधा नमक’ किया है।

२. ५० मुखदेव ने इस का भाव यह लिखा है—‘जिस अग्नि को स्थापन कर आचार्य उपनयन सस्कार का आरम्भ किए हों उस को सुरक्षित रखे और साथ प्रातः उसी अग्नि^४में समिध की आहुति प्रदान करे।’

उन के बंध द्वारा प्राप्त मास अभिप्रेत है, ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तम भोजन या पदार्थ नहीं। वेद में मासमक्षण को बहुत निकृष्ट दृष्टि से देखा गया है। तु० व० 'वृत्तान्ताय गोघातम्' (य० ३०।१८) तथा 'यो नो रस दिप्सति पित्तौ अग्ने यो अश्वा ना यो गवा यस्तनूनाम्। रिपुः स्तेन स्तेयकृद् दध्नमेतु नि प हीयता तन्वा तना च' ॥ श्र० ७।१०।४।१०। मास रजोगुण और तमोगुण का बढ़ाने वाला होने से वर्ज्य माना गया है। मज्जन—माध्यकारों ने 'हृददेवतीर्थस्नान' का निषेध माना है। शरीररक्षा की दृष्टि से गहरे, तेज धार वाले, मगर आदि से व्याप्त जल में स्नान का और अतिशय स्नान का निषेध ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। उपर्यासन—चारपाई आदि। इस के निषेध का प्रयोजन प्रिलासमय जीवन से उचाना प्रतीत होता है। स्त्रीगमन—इस के द्वारा आठ प्रकार के मैथुनों का निषेध अभिप्रेत है। इस का निषेध धीररक्षा के लिए है। स्त्रियों के फेर में पड़ कर मनुष्य उदात्त लक्ष्यों में विफल हो जाता है। इसी लिए उसे नरक का द्वार कहा गया है। सामान्यतः अधिकांश स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा तमोगुणी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। कन्याओं के लिए पुरुषगमन वर्जित है। उन के लिए उन्हें पथभ्रष्ट और आसक्ति उत्पन्न करने के कारण पुरुष नरक के द्वार हैं। अनृत—झूठ बोलने से पाप में प्रवृत्ति होती है। अदत्तादान—जो वस्तु अपनी नहीं है और दूसरे ने दी नहीं है उस का लेना चोरी कहलाता है। चोरी से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। वह मनुष्य में विकृत वासना उत्पन्न कर उसे कुमार्गगामी कर देती है। इस से बचाने की भावना से ही यागदर्शन में 'अस्तेय' का यमों में रक्ता है। इस उपदेश में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिमह—इन पांच योगशास्त्र के यमों का मास, अनृत, अदत्तादान और स्त्रीगमन का निषेध कर विधान किया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि

७६. अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि—जयरामाचार्य ने मत में ४८ वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन रूप एक ही व्रत अभिप्रेत है। उस में सारे वेदों के मन्त्रों

से आहुति दे कर हवन किया जाता है। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष की अवधि के निर्धारण में अपने (अधोत ?) वेद की आहुतिया दी जाती हैं। यावद्ग्रहणम् में एक, दो या सब वेदों का अध्ययन अभिप्रेत है।

(11) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छान्दोग्योपनिषद् ३।१६ की व्याख्या करते हुए ब्रह्मचारियों के तीन विभाग माने हैं^१—१. वसु—२४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर वेद पढ़ने वाले २. रुद्र—४४ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले और ३. आदित्य—४८ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले। पारस्कर के विधान में बालक जल्दी से जल्दी ८ वर्ष का वेद पढ़ना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए इस विभाजन में अधिक से अधिक ४० वर्ष माने गये हैं। इस अवस्था में प्रत्येक वेद के लिये १० वर्ष का समय बनता है। सू० ७७ में विकल्प में प्रत्येक वेद के लिए ११ वर्ष का समय बता कर उपरक्त अवधि को बढ़ाया है, अन्यथा यह सूत्र अनावश्यक था। सू० ७८ में इस अवधि को और भी बढ़ाया है। प्रथम विधान परम मेधावियों के लिए है, शेष दो विधान अल्पतर और अल्पतम मेधा वालों के लिए हैं। ये ग्रन्थियां ब्राह्मण के गुण धारण करने के इच्छुक में तो लागू होती हैं, परन्तु शेष दो—क्षत्रियगुणरामी और वैश्यगुणाभिलाषी में नहीं, क्योंकि उन का उपनयन आठ वर्ष की आयु में नहीं होता है प्रत्युत ११ और १२ वर्ष की अवस्था में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाध्ययन सब वर्गों के लिए अनिवार्य होने से आठ वर्ष की आयु में सब के लिए ही प्रारम्भ हो जाता हो और जो क्षत्रिय और वैश्य गुणों के भी अभिलाषी होते थे उन की इन गुणों से सम्बन्धित शिक्षा पारस्कराचार्य की निर्धारित आयुओं पर प्रारम्भ होती रही हो। कालान्तर में इस प्रणाली में विकार आया और क्षत्रिय और वैश्य के गुणों के अभिलाषियों का वेदाध्ययन

१. इन ऋषि ने अपने वेदभाष्यों में भी अनेक बार वसु, रुद्र और आदित्य के ये ही अर्थ ग्रहण किए हैं। देखो ऋ० १।४।१, ६४, १; ११४, १ आदि।

उड़ी आयु में प्रारम्भ होने लगा। इन दोनों वर्गों — गुरोद्वारों के लिए वेदाध्ययन की अवधि अल्पकालान्तर होने और व्यवसायिक शिक्षा के समस्त लौकिक दृष्टि से गौरव स्थान प्राप्त करने के कारण शनैः शनैः वेदाध्ययन इन दोनों वर्गों में से उठ गया। ब्राह्मणों के लिए एक समस्या इन वर्गों के स्वाभाविक थे। इन दोनों में अनेकों अवसरों पर संघर्ष हुए होंगे। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए शिक्षा के लिए उत्तरदायी ब्राह्मणों ने अन्य वर्गों के वेदाध्ययन को क्रमशः घटा कर कालान्तर में उस निशेध कर दिया होगा। प्रत्यग्वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का आधार नष्ट हो जाने से वेदाध्ययन के आयोजन इस हास की प्रगति बढ़ जाने की स्वाभाविक थी। पहले सब को ब्राह्मण मान कर उपनयन किए जाने की उपरोक्त कल्पना श० ११।५।४ से पुष्ट होती है। इस ब्राह्मण में केवल ब्राह्मण के उपनयन का विधान है, अन्य वर्गों का नहीं। शतपथ २।५।२।६ और ३।६।२।३ से ज्ञात होता है कि उस काल में मानव जाति का एक वर्गीकरण क्षत्रिय और विश्व ही थे। अतः उस काल में ब्राह्मण आदि पद जातिवाचक न हो कर गुणवाचक थे। (अवे० १०।८।३७ में ब्राह्मणपद का प्रयोग भी देखें।) इसी परिस्थिति में ब्राह्मण पद समस्त मानव जाति का मोतक रहा होगा और उस के लिए विहित नियम सब पर समान रूप में लागू होते रहे होंगे।

(iii) वेदब्रह्मचर्यम्—वेदाय ब्रह्मचर्यम्। वेद पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत।

वर्णों और मैत्रला के भेद का कारण

७९. शाण०—यजुर्वेद में बहुत से पशुवर्णों को विभिन्न देवताओं से

१ प० मुखदेव न आश्रयलायन गृह सूत्र १।१।६—यदि वासासि वसीरन्—कापाय ब्राह्मणो माञ्जिष्ठ क्षत्रियो दारिद्रं वैश्य' के आधार पर ब्राह्मण के लिए गेहूँ, क्षत्रिय के लिए मज्जीठे और वैश्य के लिए पीले वर्णों का विधान माना है।

सम्पन्न कर के उन के गुणों का वर्णन किया गया है यह भिन्न बात है कि हम उस वर्णन को ठीक-ठीक न समझ पायें। परन्तु शाण और क्षौम प्राद के गुणों का कोई वर्णन उपलब्ध प्रतीत नहीं होना। फिर भी उन क गुणों क ज्ञान के आधार पर ही ये मूल बने होंगे। इन क परिधान में इन वस्तुओं के गुणों का ध्यान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा होगा जितना विद्यार्थी के अध्ययन क शिष्य का चोतन। आचरल भी कला, विज्ञान और वाणिज्य आदि क जातकों, प्रत्यक्षज्ञातकों तथा गवशकों की उपाधियों क लिये विभिन्न षष्ठो का परिधान निर्धारित है। उत्तरीय और मेखला क भेदों के विधान क भी ये ही कारण हैं।

८० ऐशेयम्—कृष्णसार मृग का (चर्म)। य० २४।३६ में एशी का सम्बन्ध सपा से बताया गया है। श० ७।४।१।२५ में सत्र के साथ गतिशील होने क कारण लाकों को, तै० २।२।६।२ में देवों को सर्प कहा गया है। कौ० २७।४ में गौः, वाक् और पृथिवी को सर्परासी कहा गया है। इन गुणों के आधार को ध्यान में रख कर ही एशी क चर्म का परिधान ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया होगा। परन्तु यह सुस्पष्ट है कि इन परिधानों का प्राप्ति के लिए बहुत से पशुओं का बध आवश्यक रहा होगा। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में इस प्रकार का विधान नहीं है। हो सकता है प्रारम्भ में 'ऐशेय' आदि पद गुणों क चोतव रहे हों, फिर एशी आदि के गालों और तत्पश्चात् उन क चर्म का प्रयोग किया जाने लगा हो। यह स्थिति अज (=अजन्मा, प्रकृति) के प्रयोग में सुस्पष्ट है।

(11) य० २४।८ में 'एन्य' को 'मैत्र्य' कहा है। 'ऐशेय' को 'एनी' का रूप भी माना जा सकता है यद्यपि 'एशी' पद की उपस्थिति में ऐसा मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। भिन्न के प्रयोग में सत्र का भिन्न, सत्य का उत्पादक, ब्रह्म, क्षेत्र क्षेत्रपति, घोरसस्पर्श अग्नि, प्राण, वायु, अह, शुक्ल और कृष्ण पद्म आदि मिलते हैं।

८१ रौरवम्^१—रुद्र इदमिति रौरवम् । य० २४।३६ में रुद्र को रौद्र = रुद्र सम्यन्धी कहा गया है । वैदिक कोष में ब्राह्मणग्रन्थों से रुद्र के अथा मे रुलाने वाला, अग्नि, पशुओं का पति, स्विष्टकृत, देवों में श्रेष्ठ और श्रेष्ठ घोर प्राण, मह आदि दिये हैं । रुद्र के रूपों में मय, ईशान, उग्र, अश्विनि आदि भी हैं । ज्यम्बरु = नारिकेल^२ से उस का पापक गुण लक्षित हाता है । क्षत्रिय में इसी प्रकार के गुण अभीष्ट हैं ।

८२ आजम्—अजस्य अजाया वा इदमिति आजम् । य० २४।३२ में 'अज' (रुद्र) का सम्बन्ध 'पूषा से बताया गया है । ब्राह्मणों में पूषा के अर्थ शूद्रवर्ण, पापक पृथिवी, वायु पुष्टि, सूर्य अग्नि, अन्न, पशु, रेवती नक्षत्र, विशा विद्वपति, प्रजनन, भागा का अधिपति, ऐश्वर्य का आदाता, ऐश्वर्य का अधिपति, वृषा, देवाना मामदुध, अदन्तक आदि दिये गये हैं । गव्यम्—गो इद गव्यम् । गाय का । गो + यत् । यजुर्वेद के पशुप्रकरण में 'अकेले गो' पद का प्रयोग नहीं मिला है । इस के पर्यायवाची 'धेनु का सम्बन्ध य० २४।१६ में अतिच्छदस् से बताया गया है । अतिच्छन्दस् के

१ रुद्र का लाल रंग का बताया गया है (प० मुरादेव का अनुवाद) सशक्रौको० ने इसे काला हिरन बताया है । वह विश्वेदेवों के एक गण का नाम भी है । ब्राह्मणग्रन्थों में विश्वेदेवा^१ के अर्थ 'समस्त देवता, सूर्य की किरणों, प्राण, ऋतुएँ, इन्द्राग्नी, भोज दिशाएँ उपद्रव, प्रजापति के पुत्र वैश्य, विश्व पशु, अश्व, गो, अन्न सब कुछ' आदि दिये गये हैं । इस से क्षत्रिय में तेज, प्राणसारता सब पर शासन सब प्रकार के गुण, ऐश्वर्य, गतिशीलता, जागरूकता व्याप्ति, उग्रता, प्रजापालन आदि गुणों के धारण की भावना प्रकाशित की गई है । वह अपने आप को वैश्य ही समझे । उस से भिन्न नहीं, क्योंकि विश्व—समस्त प्राण—वैश्य है । इस मूलभूत एकता की उपेक्षा से ही आर्य जाति में ऊँच नीच की यागना उत्पन्न हो कर ग्रन्थ हुआ है । २ देखो कोकोनट (ज्यम्बरु इन दी श्रृंगवद) इन दी ओरिजन और शिवकल्हट, आदिश्लोका० १६४८ (स०) ।

अर्थ 'उदर, शृक्, छन्दों का रस, लोह और वर्ष्म आदि दिए गए हैं। 'गो' शब्द से मिलते हुए 'गोमृग' का सम्बन्ध य० २४।१ और २४।३० में प्रजापति और वायु से तथा गगय का य० २४।२८ में बृहस्पति से सम्बन्ध बताया गया है। प्रजापति के अर्थ 'प्रजापालक, अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाक्पति, सवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, भूत, बन्धु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, सोम, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम, सुपर्ण गरुत्मान् मूधा, सदस्य उद्गाता, उद्गीथ, अथर्वा, सत्य, गार्हपत्य, आत्मा, पुरुष, यजमान, पितर, प्रजनन, सब का धारक, विप्र, क्षत्र, चित्यति, ये लोह, यह सब कुछ, अतुलनीय, देवों में अन्नाद और वीर्यवान्, अमृत, पूर्ण' आदि, वायु के अर्थ पवन, सब का निवेचक, कामनायुक्त, अनुवत्सर, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र, इन्द्र, मित्र, यम, यन्ता जातवेदस्, सब कुछ का करने वाला, तेज, पूषा, तार्क्ष्य तीनो लोकों में वर्तमान, सविता, सोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, प्राण, उग्र पुरोहित, मह, यज्ञ वाक्, देवों की आत्मा, शान्ति और बृहस्पति के अर्थ वाणी का पति, वाणियों का उत्पादक, वायु, प्राण, अपान, चक्षु, शुम्भ (= धन), ब्रह्म, देवों का ब्रह्मा, देवों का उद्गाता, देवों का पुरोहित आदि मिलते हैं। अतः यहां पर षोडश, समृद्धिजनक, शान्ति, याशा आदि के गुण अभीष्ट हैं।

सब वर्णों की एकता

(ii) उपरोक्त देवताओं के वाचक अर्थों से एक बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है कि सब वर्णों में अधिकांश गुण समान ही अभिप्रेत हैं। उन में मूलभूत एकता है। उन में भेद किसी एक वा अधिक गुणों की ओर प्रवृत्ति के कारण ही किया जाना है। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण आदि पद केवल गुणवाचक ठहरते हैं, जातिविशेषों के चोतक नहीं। मानवों में जो वर्गक्रियण उन के कर्म या व्यवसाय के आधार पर होता था वह ही मूलतः उन का वर्ण रहा हो सकता है।

८३. असति—√अस्+शतृ+सप्तमी एक वचन, नपुसक०।
अपने-अपने वर्ण के लिए नियत चर्मों के अभाव में। प्रधानत्वात्—यहां

पर हेतु में पञ्चमी है । 'गव्य' व सत्र ग्रन्थों में प्रमुख होने के कारण । इस की प्रमुखता इस के विषय में दिए गए ऊपर व वर्णन से सुस्पष्ट है । इस ने सम्बन्धित देवताओं के अर्थों से प्रकाशित गुण सब वर्णों में घट जाते हैं । अतः देखें, रौरव और याच चर्मों के न होने पर 'गव्य' चर्म का प्रयोग किया जा सकता है । यहाँ पर पारस्कर आचार्य को 'गो' का अर्थ पशुमात्र भी अभिप्रेत हो सकता है गाय मात्र नहीं । माण्यकारों ने यह अर्थ भी दिया है कि वेधों ने पुरुष के चर्म का गाय पर रख कर उसे पुरुषप्रधान बना दिया है । तु० ४०—पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मणः । पुरुषप्रधान हि गव्यं चर्मं धृतौ पश्यते । तेष्वप्युक्तं पुरुषं गव्येता त्वचमदधुरिति । —कर्ममाप्य ।

८४—८८ सच० में मेखलाधारण के नामों में आन्तों के उतरने से रक्षा और शरीर में चुल्हा लाना दिए हैं । पारस्कराचार्य ने ब्राह्मण की मेखला मूत्र की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या की और वैश्य की मूर्वा की बताई है । सशकौका० न क्षत्रिय की मेखला मूर्वा की मानी है । वहाँ धनुर्ज्या का मूर्वा निर्मित माना गया है । महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण की मेखला मुत्र वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या तृण वा वल्कल की और वैश्य की ऊन वा सन की मानी है । (सवि० पृ० ६१ पाठि०) । सच० में इन घासों के गुण आयुर्वेद के आधार पर दिए हैं । मुत्र को मधुर, रुपाद, शीतल, निदोषनाशक और वृष्य, दर्भ का निदोषनाशक, मधुर, कपेला और शीतल बताया है । सन का मृदा, कपेला, मलमर्ग, रुधिर का गिराने वाला, घमन लाने वाला, वात और कफ का शामक तथा तीव्र अग्नियों के दृढ़ करने को दूर करने वाला कहा गया है । मूर्वा के गुण भी इसी प्रकार से आयुर्वेद के ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं । आपधियों को खाने लगाने और पचने से रोगों को दूर करने में जो सहायता मिलती है वह सुप्रयत्न । इसी दृष्टि से ये मेखलाधारण की जाती थीं । उपरोक्त घासों के गुणों और ब्राह्मण आदि के कर्मों का सम्बन्ध शत य है ।

(11) मौञ्जी—गुञ्जत्य इय मौञ्जी । मौर्गी—मूर्गाया इयमिति मौर्गा ।

५० सुखदेव—कास की । भाष्यकारों ने इसे 'मुच' से च्युत्यञ्ज किया है ।
धनुर्ज्या—भाष्यकारों ने इसे तान्त को (=स्नायुमग्रा) या बाम का (वर्णमयी) माना है । दम० ने इसे धनुष् नामक घास मनाया है ।

५७ कुशेति—कुश अश्मन्तक^१ और ग्लव^२ नी घासों के नाम हैं । बहुधा कुश और दर्भ का एकरूप माना जाता है । ये दोनों कमश ब्राह्मण क्षान्द्य और वेश्या के गुणों के अभिलाषिया के लिये हैं (हरिहराचार्य) ।

दण्डधारण का प्रयोजन और उस के भेद का विवेचन

५८—९०—सच० में दण्डधारण के लाभ शरीररक्षा, मेरुदण्ड का सीधा रखना दिए हैं । पलाश आदि के दण्डों का विधान उन के गुणों की दृष्टि में किया गया है । सच० ने इन के गुण अभिनवनिगण्टु के आचार पर इन प्रकार दिये हैं—पलाश दीपन, ग्लवकर्ता, दस्तावर, गरम ज्यैला चरपर, कड़वा, खिण्ध ग्रण गंले और गुदा के रोगों का नाशक टूटी हड्डी का जोड़ने वाला, वातादि दोषों, मग्नहृषी, मगसार और कृमियों का नाशक है । बिल्व (या बेल) कपाय, कड़वी ग्राही, रुक्ष, अग्निगर्धक, पित्तकारक, शूल और कफ नाशक, ग्लवकारक, लघु उष्ण और पाचक होता है । उदुम्बर या गूलर शीतल, रुक्ष, भारी, मधुर, ज्यैला, वर्णकारक, कफ, पित्त और रुधिर के विकारों को दूर करने वाला, व्रत का शोधक और रोगक होता है । इस प्रकार इन वृक्षों के दण्डों का धारण कतिपय रोगों का प्रतिरोधक है । सच० का कहना है कि इस दण्डधारण से वनस्पतियों के प्रयोग का ज्ञानसंग्रह भी होता है, परन्तु यह लाभ प्रत्यक्ष नहीं है । विभिन्न वृक्षा के लिए विभिन्न वृक्षों के दण्डों का विधान उन के गुणों से समता की दृष्टि में किया जाना स्वाभाविक था । उपरोक्त आयुर्वेदिक गुणवर्णनों से यह साम्य सुव्यक्त नहीं

१.-२ ५० सुखदेव ने श्मन्तक पाठ रख कर बेरहुट अर्थ और ग्लव का अर्थ कास किया है ।

होता । ऐसा प्रतीत होता है कि मौज्जी, धनुर्ज्या और मौर्वी तथा पलाश, वैल्य और औदुम्बर पदों का ऐश्वर्य आदि के समान अग्नि, रुद्र और पूषा आदि देवताओं से सम्बन्ध है । उसी के आधार पर ये विधान किए गये हो सकते हैं । ये प्रस्तावित सम्बन्ध मृग्य हैं ।

६१. पलाश आदि के गुणों में साम्य होने के कारण काई भी वर्ण किसी भी वृक्ष का दण्ड धारण कर सकता है ।

(ii) अग्नि, मेखला और दण्ड के ये वैकल्पिक सूत्र गृह्यसूत्रों से पहले के काल में समस्त वर्णा को एकता और सब के लिए एक जैसे विधान की सत्ता के श्रोतक हैं । इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि ऐश्वर्य आदि का प्रयोग वर्णभान की दृष्टि से नहीं किया गया है ।

वर्णों के लिए दण्डों के विभिन्न माप का कारण

९२. दण्डों के माप का यह विधान पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है । यह इस में पीछे से मिलाया गया है । सच० ने इस मापभेद को वर्णभेद का श्रावक माना है । वस्तुतः केशवद उ० ५।३३ में $\sqrt{\text{क्लिश}}$ से व्युत्पन्न हुआ है । अतः इस के द्वारा कष्टों के सहन करने—तप करने का लक्ष्य सामने रखा है^१ । ललाट तक दण्ड के विधान से शारीरिक रत्न की बुद्धि के अर्पण रखने का संदेश दिया गया है । प्राण—नासिका प्राण और अपान की प्रतीक है । इस माप में ब्रह्मचारी को राष्ट्र के प्राण बनने का निर्देश किया गया है । वैश्य ही मिश्र—ग्रन्थ—राष्ट्र के प्राण हैं । वे ही विश्वे देवा. और मरुत् हैं, सब के मित्र भी । प्राण भी विश्वेदेवा हैं ।

(ii) इस मापविधान में एक और माप भी हो सकता है । योगचूडा मण्युपनिषत् ३५ में लिखा है कि कुरुदलिनी का जाग्रत करने से मनुष्य वेदज्ञाता होता है—

१. ध्यान रहे कि जहा ब्राह्मण का तपस्वी माना गया है, वहा य० ३०।५ में शूद्र ही का सम्बन्ध तप से रखा है, ब्राह्मण को नहीं ।

“कुण्डलिन्या समुद्रता गायत्री प्राणधारिणी ।

प्राणविद्या महानिद्या यस्ता वेत्ति स वेदवित् ॥”

अतः इस मापविधान में कुण्डलिनी को जाग्रत कर शरीर में कण्ठप्रदेश में स्थित विशुद्धचक्र, श्रुतों के बीच में स्थित आकाशचक्र और शिर में स्थित उड्यानचक्र^१ । (=सहस्रदलकमल) के भेदन की ओर लक्ष्य किया हो सकता है । हरिहराचार्य ने दण्डों के मान को केशों के मूल, भ्रूमध्य और थोछों तक उता कर इसी मुक्ताव की ओर सचेत किया हो सकता है ।

६३ आहूतः—आ+√ह्+क । बुलाया हुआ । उत्थाय—उद्+√स्था+ल्यप् ।

६४ शयानम्—√शी+शानच्+पु० द्वितीया एक व० । आसो नम्—√आस्+शानच्+पु० द्वितीया एक व० ।

स्नातक की कीर्ति

६५ अमुन—परलोक में विष्णु लोक में जहा भूरिशृङ्ग, और अय गौए=विद्याए रहती हैं—यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास (मृ० १।१५।६) । स्वगस्थान, मोक्षस्थान । भाव यह है कि ऐसा ब्रह्मचारी इस लोक में रहता हुआ भी स्वर्ग के सुखों का उपभोग करता है । कुछ, विद्वान् इस में मरने पर मुक्ति का कहना करते हैं । परन्तु, मुक्ति इतनी सरल नहीं है । यहा पर ‘अमुनाग्र वसति’ की पुनरावृत्ति विषय की महिमा पर खल देने के लिये की गई है । स्नातक—विद्या या व्रत समाप्त कर के गृहस्थाश्रम में आने वाला विद्यार्थी ।

स्नातकों के भेद

९६ त्रयः—इन तीनों का व्याख्यान अगले सूत्रों में दिया है । इन में विद्याव्रत स्नातक श्रेष्ठ है, शेष दो समान माने गए हैं—पु० क० तेषामुत्तम श्रेष्ठस्तुल्यो पूर्वौ (गोभिलशृङ्गसूत्र ३।५।२३—मुखदेव सत्करण) ।

९७ वेदम्—एक या अधिक वद का अध्ययन। असमाप्य व्रतम्—ब्रह्मचर्यव्रतमालन करने की अवधि को पूरा किए बिना ही। भाव यह है कि यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत का अन्त पूरा नहीं हुआ है अर्थात् अभी २४, ४४ या ४८ वर्ष की आयु नहीं हुई है, परन्तु वद का नितना अध्ययन अभीष्ट था वह पूरा कर लिया। अतः ब्रह्मचारी आरम्भ दिवस गुरुकुल में न रह कर व्रत की अवधि को अपूर्ण छोड़ कर सार में जीवन व्यताने चला जाता है।

९८ यज्ञ पर व्रत की अवधि तो पूरी होती है, परन्तु वद का अभ्यास अध्ययन पूरा नहीं होता, पर भी ब्रह्मचारी सार में प्रविष्ट हो जाता है।

९९ यज्ञ वद अध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन की अवधि दोनों ही पूरी कर के ब्रह्मचारी घर को लौटता है। समावर्तव—सम् + आ + √वृत् + लट् प्रथम पु० एक व०। लौटता है गृहस्थ जनन के लिए गुरुकुल छोड़ कर लौटता है।

उपनयन की चरम सीमा

१००—१०३—उपनयन की क्षिप्रतम या निम्नतम सीमा का निर्देश सा किया जा चुका है। तो भी परिस्थितियों के कारण यदि किसी का उपनयन उस काल में न हो सके तो ब्राह्मण का उपनयन १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का २४ वर्ष की आयु तक कराया जा सकता है। इस के पश्चात् उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं रहता और वे गायत्री के उद्देश्य से वञ्चित हो जाते हैं। सावित्री के उपदेश के बिना व वेदाध्ययन के अधिकार नहीं होते हैं। पतितसावित्रीका—पतिना अधिकार भावात् सता सावित्री येम्यस्ते। मनु ने इस अवधि की केशान्त संस्कार का काल माना है। (२।६५)। म० २।३८ भी देखें।

१०४ इस में पतित सावित्रियों को उपनयन, अध्यापन, याजन और व्यवहार से वञ्चित किया गया है। यह व्यवहार कुछ दिन पूर्व हिन्दू समाज में प्रचलित मान्यता और धर्मच्युत करने की प्रथा के अनुरूप है।

मनु के माल में ऐसे लोगों को ब्राह्म्य कहा जाता था (देखो मनु० २।३६) । इतना कठोर व्यवहार करने पर भी उन्हें ब्राह्म्यस्तोम नामक यज्ञ कर क पुनः सभ्य (=आर्य) समाज में स्थान पाने का अधिकार दिया गया था । कालान्तर में इस अधिकार का प्रयोग स्वच्छा से न करने वाले या न करने के लिए अन्यो द्वारा निरश किए हुए लोग ही पतित—आनुनिक शब्द पने होंगे । यदि ऐसा हो तो निवारणीय यह है कि ये ब्राह्म्य से शब्द कैसे कहलाए जाने लगे ।

(11) उपनयेयुः—उप+√नी+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व० । अध्यापयेयुः—अधि+√इ+णिच्+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व० । याजयेयुः—√यच्+णिच्+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व० । व्यवहरेयुः—वि+अव+√हृ+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व० । इस का भाव विवाह शादी आदि धार्मिक और सामाजिक कर्म हैं ।

१०५ कालातिक्रमे—कालस्थावकम् । उपरोक्त चरम अवधि के बीत जाने पर । जयराम और हरिहर भाष्यकारों ने इस का अर्थ गर्भाधान आदि समस्त सत्कारों के निश्चित समय का पालन न करना समझा है । परन्तु यहाँ पर समस्त प्रकरण उपनयन सत्कार का हा है । अतः उतना ही भाव अभीष्ट है, भाष्यकारों का विस्तृत अर्थ नहीं । नियतवत्—भाष्यकारों के मत में इत का भाव यह है—नित्य कर्मों के न करने के पाप से छुटकारा पाने के लिए श्रौत सूत्रों में विहित स्मार्त अनादिषु सर्वप्रायश्चित्त करे । इस प्रायश्चित्त के करने पर सत्कारों का पुन अधिकार प्राप्त हो जाता है । श्री हरिहरानार्य लिखते हैं कि यहाँ काल का अतिक्रमण बरल उपनयन विषयक ही नहीं है, प्रसुत अन्य कर्मों का अतिक्रमण करने पर भी यही अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करना होता है, इस का कारण यह है कि श्रुतसूत्रकार ने अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है । इस का अर्थ यह भी किया जा सकता है—नियत = नियमों के पालक—सयमी के समान आचरण करे । जैसा सयमी विद्वान् आचरण करे या उपदेश करे वैसा ही आचरण आदि करें । हिन्दी अनुवाद भाष्यकारों के आधार पर किया गया है ।

१०६. त्रिपुरुषम्—त्रोन् पुरुषान् यावत् इति त्रिपुरुषम् । तीन पीढ़ियाँ—पिता, पुत्र, और पौत्र—जिन की सावित्री के उपदेश को प्राप्त नहीं कर सकी हैं । अपत्ये—जिन की तीन पीढ़ियों में उपनयन संस्कार नहीं हुआ है उन की सन्तान । चौथी पीढ़ी और उस के आगे । संस्कारो नाध्यापनं च—इस में 'न' का सम्यन्ध मय्य में स्थित दीपक के समान संस्कार और अध्यापनम्—दोनों से है । हरिहर आचार्य के विचार में 'न' का सम्यन्ध केवल अध्यापनम् से है । अतः वे मानते हैं कि उपनयन तो किया जा सकता है । परन्तु अध्यापन नहीं—'त्रिपुरुषं त्रौन पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपौत्रास्तेषामप्यस्ये पुने संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति ।' परन्तु यह मत समीचीन नहीं । उपनयन होते ही उपनेता से उपनीत को अध्यापन का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है । ४० मुखदेव समझते हैं कि 'नियत प्रायश्चित्त करने पर भी जिन लोगों का तीन पीढ़ी तक उपनयन न हुआ हो, उन की चौथी पीढ़ी के पुरुष का उपनयन नहीं हो सकता न वह वेद पढ़ने का अधिकारी है ।'

१०७. तेषाम्—इन सावित्री के उपदेश में और उपनयन के अधिकार से वञ्चित पूर्व सूत्र में वर्णित पुरुषों में से । ईप्सुः—✓आप्+सन्+उ+पुर्लिङ्ग प्रथमा एक व० । ब्रात्यस्तोम—एक यह होता है जिस में पतितों को शुद्ध किया जाता है और उन्हें फिर से यह आदि कर्मों का अधिकार दिया जाता है । स्वामी दयानन्द ने इसी के आधार पर विद्युली शताब्दी में विधर्मियों को शुद्ध करने और दलितों के उद्धार का आन्दोलन चलाया था ।

(ii) यहां यह जानना भी परम आवश्यक है कि पारस्कराचार्य ने पतितसावित्रीकी को ब्रात्य नहीं कहा है । यह नामकरण मनु आदि विद्वले लेखकों का है । अथर्ववेद के ब्रायकाण्ड में ब्रात्य नीचता का श्रोतक नहीं । वहां वह सृष्टि के आदिकारण परमात्मा और विद्वान् सदाचारी पूजनीय अतिथि आदि का श्रोतक है । (दिगो अवे० १५।१०; १२; १४-१८ । ब्रात्य-

कारण के डा० सम्पूर्णानन्द और प० क्षेमकरण और जयदेव आदि के भाष्य देखें)। अवे० १५।१२ के अनुसार वाय की आज्ञा के बिना यह से अभीष्ट लाभ नहीं होता। अध्ययन और अध्यापन भी यज्ञ हैं। अतः वाय को सन्तुष्ट कर के ही पतितसावित्रीक इन यज्ञों से लाभ उठा सकते हैं। यही भाव वायस्तोम यज्ञ के लिए जाने का प्रतीत होता है।

(iii) कामम्—इच्छानुसार, अथवा निर्विवाद रूप से। अधीचीरन्—अधि + √इ + विधिलिङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। व्यवहार्याः—वि + अ + √हृ + शक्त् + पुल्लिङ् प्रथमा बहु वचन। इस प्रमाण का स्थल मृग्य है।

(iv) यहां पर प० मुखदेव ने वेदारम्भ संस्कार का विधान माना है।

१०८ यहां से अन्त तक का भाग पारस्कर गृह्यसूत्र का अंश नहीं है। गुनराती प्रेस के संस्करण में इसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। पञ्च भाष्यकारों में से गदाधर और निश्चनाथ ने अपने भाष्यों में पूर्व प्रकरण के भाष्य के अन्त में सू० १०८-१२४ में वर्णित क्रियाओं का मन्त्रों के विनियोग को दर्शाते हुए विधान किया है।

(ii) इस भाग में छै वेदव्रतों का विधान किया गया है। इन में सावित्र व्रत छै रात्रियों या तीन रात्रियों में या तुरन्त हा उपनयन के समय पूरा किया जा सकता है। इस में सवितृदेवता के मन्त्रों का पाठ और अभ्ययन अभीष्ट है।

(iii) शेष पांच वदव्रत एक वर्ष की अवधि वाले हैं। आग्नेय में 'समधाग्निम्' (य० ३।१) आदि अग्निविषयक मन्त्रों के, शुक्रिय व्रत में 'अच वाच प्र परो' (य० ३६।१) आदि के शुक्रिय विभाग के औपनिषद् व्रत में द्रव्यह प्राजापत्य (१) आदि उपनिषद् भाग के, शैलभ व्रत में 'आ ब्रह्मन्' (य० २।१।२), 'उदीरतामवर' (य० १६।४६), 'आ नो भद्रा' (य० २५।१४), 'आशु शिशानो' (य० १७।३३) और 'इमा नु क' (य० २५।

४६) — इन शौलभिनी श्रुचाओं के अध्ययन, पाठ और श्रवण अभिप्रेत हैं। गोदान व्रत की अवधि की समाप्ति पर गुरु को गायों का जोड़ा देने का विधान है। इन में से शुक्लिय, औपनिषद और शौलभ में अवगुण्ठन भी होता है जिस की विधि मूस० ११६ में उताई गई है।

(iv) इन सब व्रतों में अग्नि का परिसमूहन, समिधादान आदि सब कर्म किए जाते हैं। और व्रत की समाप्ति पर उस का विसर्जन भी किया जाता है। इस की विधि का विस्तार गद्वापर और विश्वनाथ आचार्यों ने अपने भाष्यों में किया है। यह सब अनाश्रयक होने से यहा उद्धृत नहीं किया जाता है।

११०. उदीक्ष्य—उत् + √ ईक्ष् + ल्यप्। देख कर, अर्थात् पूरा कर दे। अपः—भाष्यकारों के क्रिया-वर्णन के अनुसार और 'अप्स्वन्तर' मन्त्र के विनियोग के कारण यहा सप्तमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग हुआ है। अप्स्वन्तः—इस प्रकरण में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग के अनुकूल अथवा अन्य कोई अर्थ नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि यह सारा प्रकरण ही मूल लेखक को अनभिप्रेत है। वैसे भी यहा की क्रियाएँ उपनयनोत्तरकालीन और वेदाध्ययन विषयक हैं। इन समस्त मन्त्रों का अर्थ ग्रन्थ को विशालकाय बना देगा। इन के अर्थ दयानन्द भाष्य में देखे जा सकते हैं।

११२. उपव्रतम्—भाष्यकारों ने व्रतों की समाप्ति पर व्रत के विसर्ग का विधान किया है। यही विसर्ग यहा 'उपव्रत' मालूम पड़ता है।

११३. अवगुण्ठनम्—यहा पर शुक्लो, औपनिषदों और शौलभिनीयों से भावण (=मुनना) ही अवगुण्ठन माना गया है।

११५. अविसर्गमाने—यदि सूत्र० ११३-११४ में वर्णित अवगुण्ठन का प्रयोग न किया जाए तो 'आ ब्रह्मन्' आदि सूत्र में प्रदत्त मन्त्रों रूपी वेदशिरस् (=वेदज्ञान के सार)^१ से अवगुण्ठन किया जाये।

१. तु० क० प्राणोज्ज्वल शीर्षम्। की० ८१ तथा भीरु शिर।
श० १।४।५।५।

११८. सू० ११३ म मन्त्रों को ही अवगुण्ठन बताया था । यहाँ पर उन के साथ प्रतीक रूप में वस्त्र के परिधान का भी वर्णन पाया जा रहा है ।

११८ इस की विधि का सू० १२२ की विधि से साक्षात् विरोध है जिस का समाधान विचारणीय है । व्युत्थायाम्—उपा काल हो जाने पर । अरण्ये—इसे अरण्य = ज्ञान से व्युत्पन्न मान कर अध्यात्म में मन्त्रों रूपी सू० ११३ में वर्णित अवगुण्ठन का प्रसर्जन मानने पर सू० १२२ से विरोध का कुछ समाधान दिखाई पड़ता है । वहाँ पर वस्त्र की अवगुण्ठनी का विधान है, जो गुरु को दी जाती है ।

११९. इन मन्त्रों का अर्थज्ञान पूर्वक जप प्रातः काल में अमीष्ट है ।

१२१ शान्तिभाजनम्—अवगुण्ठनी के समान यह भी दो प्रकार का है—‘श्री शान्तिः’ इस मन्त्र के रूप में और दूसरा धात्वादि से निर्मित पात्र जो गुरु का आश्रम में सब के प्रयोग के लिए भेंट कर दिया जाता था ।

१२३. गोदानम्—यह उपनयन संस्कार की दक्षिणा में दी जाती होगी । इस में ब्रह्मचारी द्वारा अपने ज्ञान के अन्यो को प्रवचन आदि द्वारा प्रदान करने की प्रतिज्ञा का अवशेष प्रतीत होता है क्योंकि गो = वारू श्वन और यज्ञ का प्रतीक है । तु० क० तै० स्वाध्यायप्रवचनाभ्या मा प्रमद । तथा ऋ० १०।६०।१६, ११।७।६, अवे० ५।१६ आदि ।

श्रीसुत ता० रामस्वरूप जी गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र, आचार्य डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य और आचार्य डा० फतहसिंह के शोधशिष्य
आचार्य डा० सुधीर कुमार गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०,
शास्त्री, प्रभार, स्वर्णपदकी द्वारा प्रणीत पार
स्कारीय उपनयनसूत्रों की सुकाशिनी
टिप्पणियाँ समाप्त हुई ।

वेदालवण्यम्

पारस्करोयोपनयनसूत्राणि

अकारादिवर्णनानुक्रमेण पदानां विषयाणां चानुक्रमणिका

(इस अनुक्रमणिका में पदों आदि के आगे सूत्रों को संख्या दी गई है। उस के आगे कोष्ठकों में टिप्पणियों में बनाये गए सदर्भों के अंक हैं। जहां पृ० लिखा है वहां उस के आगे की संख्या टिप्पणियों के पृष्ठ की है।)

अक्षारलवण	७३	अतिच्छन्दस्	८२	अपत्ये	१०६
पाटि० १		अत्र	१४, ५१	अपत्	६१ (iv)
अग्निः	३१	अथर्ववेद में अग्नि का		अप्स्वन्तः	११०
अग्नि का परिसम्प्लवण और		विधान नहीं	८०	अभिवादन	६४
उस का भाव	५२	अथाग्निम्	१६	अमुन	६५
अग्नि के विशेषण	४७	अथास्य	२२	अमृतम्	६ (iii)
अग्नि परिसम्प्लवण में		अदत्तादान	७५	अरण्यात्	७२
विनियुक्त मन्त्र ५३ (iii)		अदुहत्	४८ (viii)	अरव्ये	११८
अग्निम्	३४	अधि	२०	अरिष्टयै	३३
अग्ने	५५	अधीयीत्	१०७ (iii)	अर्द्धवर्षः	४५
अग्ने सुभ्रव मन्त्र के		अध्यापयेयुः	१०४ (ii)	अलकृतम्	६
उत्तरार्द्ध का सच० का		अध्वर्यु	६१	अवगुण्ठनम्	११३
अर्थ	५३ (ii)	अनाहनस्यम्	१७ (ii)	अवगुण्ठन (यत्न)	११६
अग्र्यम्	१५	अनिराकरिष्णुः	५५ (iii)	अवपत्	६३ (vi)
अग्न्यालम्ब्य जपति	६२	अनुवर्तयन्	४४	अविद्यमाने	११०
अग्न्यालम्बन पारस्कर को		अनृत	७५	अशान	३७
अभिमत नहीं	६३	अन्न के अर्थ	५५ (iii)	अभिनी	६१
अगिरा	६० (ii)	अन्नादः	५५ (iii)	अष्टवर्गम्	१
अग्निम्	१६	अन्नाद्याय	६३ (xii)	अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि	
अग्निनों के लिए पशुवध		अन्वारब्ध	३५		७६
की सभायना	८०	अर्पः	११०	असति	८३

असमाप्य व्रतम्	६७	आ पृष्ण	६०	के विकृत्य	४
असानि	७ (III) (II)	आयु	६ (III) (II)	(II अ-III)	
अनावहम् भोऽ	२६	आयु	६०	उपनयन की चरम सीमा	
असि	६३ (X)	आयुत्वाय	६ (III),	१००-१०३	
प्रसौ	६३ (VIII)		६ III) (II)	उपनयन के काल—	
अ पंम्	५५	आयुर्दा	६०	विशिष्ट विद्यालयों में	
अहिंसन्	७२	आयुर्गे	६ (III)	जाने के काल ४ (II)	
अगात्	१२	आयुष्यम्	१५	उपनयन के लिए श्रुत	
आगाम्	III (III) (II)	आलम्ब्य	६२ (II)	आदि का विधान	
आमेयो वै ब्राह्मण	४७	आसीनम्	६४	४ (IV)	
आगिरस	६ (III)	आहूत	६३	उपनयन के समय किए	
आचमन का प्रयोजन	इति वा	१२	जाने वाले उपदेशों का		
	३७ (II)	इन्द्रः	३१	प्रयोजन	७३
आचार्य	३१	इन्द्राय	६	उपनयन के कालातिक्रम	
आजम्	८२	ईप्सु	१०७	पर प्रायश्चित्त	१०५
आज्याहुती	३५	उल्लयस्व वनस्पते मन्त्र		उपनयन संस्कार पृ० १	
आधास्य	२८	का अर्थ	२१ (III)	उपनयन होते ही वेदा-	
आदधाना	११		पृ० २५	ध्ययन का अधिकार	
आदित्य (ब्रह्मचारी)	उत्तरतोऽग्रे	४३	प्राप्त	१०६	
	७६ (II)	उत्थाय	६३	उपनयेयु	१०४ (II)
आधाय	७२	उदीक्ष्य	११०	उपनेता	पृ० १ (II)
आधुनिक शैली पर	उदुम्बर के गुण	८८-६०	उपर्यासिन	७५	
गायत्री का अर्थ	४७ (V)	उपदेश के योग्य ब्रह्म-	उपविष्टाय	४३	
आनयन्ति-	६	चारी के गुण	४३	उपव्रतम्	११२
आप-	२२	उपनयन का काल	१	उपसर्जाय	४३
आपो हि ष्ठा मन्त्र का			पृ० २	उपसर्ती	२३ (V)
अर्थ	२३ पृ० २६	उपनयन के आयुमान	उपसः	४६ (IV)	

ऊनम्	६०	को नामासि	२८	जगती छन्द वाली	
श्रुति नामों की ऐतिहा-		सृत्रिय वैश्य ही	८१	सावित्री	४६
सिक्ता की कल्पना		(पाटि० १)		जगती वैश्यस्य	४६
	४८ (viii)	क्षयाय	२३ (४)	जनपथ	२३ (४)
एकः	४६ (vi)	गन्धर्वः	४८ (vi)	जपति	६२ (ii)
एषी	१७ (ii)	गर्माष्टमे	१	जमदग्नेः	६३ (iii)
एनी	१७ (ii)	गवय	८२	जरिष्णु	१७ (ii)
एन्यः	८० (ii)	गुण्यम्	८२	जल से अंजलि भरना	
एषा ते	५७	गन्ध्याजिन की प्रधानता		और उस का रहस्य	
एषा ते मन्त्र और उस		का कारण	८३		२२ पृ० २६
का अर्थ	५७ (ii)	गायत्री का उपदेश सब		जलसेचन	५८
ऐषेयम्	८०	के लिए	५०	जातवेदसे	५५
ओ३म्	४७ (vi)	मायत्रीम्	४७	जायमानः	१२
फ	२८	गायत्री मन्त्र—आधु-		जिन्वथ	२३ (४)
कारवः	४८ (viii)	निक सैली पर अर्थ		जीव	६३ (viii)
कर्म	१८		४७ (४)	जीवनाय	६३ (vi)
कवयः	१२	—दस० का अर्थ		जीवपुत्रः	५५ (iii)
कश्यपस्य	६३ (iv)		४७ (ii-iv)	जीवातवे	६३ (vi)
कामम्	१०७ (iii)	—महत्त्व	४७ (vii)	तच्चक्षुर्देवहितं मन्त्र का	
कालातिक्रमे	१०५	गोदानम्	१२३	अर्थ	२५
कुण्डलिनी बोधन से		गोमृग	८२	तच्चक्षुर्देवहितं मन्त्र का	
वेदज्ञान	६२ (ii)	चक्षुसे	२३ (४)	दस० का अर्थ २५ (iii)	
कुरोति	८७	चक्षुः	१७ (ii)	तज्ज	६
केतपूः	४८ (vi)	चित्तम्	२७ (ii)	तनूयः	६०
केतम्	४८ (vi)	छन्दोनाम मन्त्रार्थ प्रका-		तन्वाः	६०
केशान्त सस्कार का		शक	५० (पाटि १)	तस्मा अरगमाम मन्त्र	
काल	१००-१०३	छैवेदमन्त्र	१०८ (ii-iv)	का अर्थ २३ (iv) पृ० २७	

तस्मिन्	७२	दण्डं प्रयच्छति	१८	नाम	६३ (x)
ता सधितुः मन्त्र का अर्थ		दण्डों का मापविधान		निधिपः	५३
४८ (VII)		उद्घ्यानचक्र के भेदन		निधिपाः	५३
तिलक लगाना	६३	का द्योतक	६२ (ii)	नियतवत्	१०५
तिलः	६८-६९	दधे	४९ (VI)	नियुनक्तु	२७ (ii)
तूष्णीं वा	१३	दर्भ के गुण	८४-८६	निवर्तयामि	६३ (xi)
तेजः	१७ (ii)	दिया	३९	निवेदयित्वा	७१
तेषाम्	१०७	दीक्षावत्	२१	पच्छः	४५
ते हृदय दधामि २७ (ii)		दीर्घायुताय मन्त्र का		पतितसावित्रीका.	
त्रय	६६	अर्थ	६३ (VII)		१००-१०३
त्रिपुरङ्ग तिलक लगाना		देवयन्त	१२	पतितसावित्रीकों का	
अनावश्यक ६३ (xii)		देव सधितुः प्रसुव मन्त्र		वेदाध्ययन का अधि	
त्रिपुरयम्	१०६	वा अर्थ	४८ (IV)	कार नहीं	१०६
निष्ठुम् छन्दवाली सावित्री		देवत्य	४७ (VI)	परमम्	१५
४८		देवहितम्	२५ (ii)	परिददाति	३२
निष्ठुम राजन्यस्य ४८		देवानाम्	५३	परिदधे	१७ (ii)
भ्यामुपतिलक पारस्कर		देवाम्	३३	परिधापयति	८
को अभिमत नहीं ६३		देवी	११, ६१	परीत्य	३४
भ्यायुपम् ६३, ६३ (iii)		देवेषु	६३ (iii)	पयंदधात्	९ (iii)
भ्यायुष जमदग्ने का		द्यावापृथिवीभ्याम्	३३	पलाश के गुण	८८-९०
अर्थ	६३ (ii)	धनुर्वा	८४-८६ (ii)	पवित्रम्	१५
त्वा	९ (iii)	धरुणम्	१७ (ii)	पशव	५५ (ii)
दक्षिणत.	४४	धिय	४७ (VI)	पशुओं और देवताओं	
दण्ड	१८	धीरासुः	१२	का सम्बन्ध	७९
दण्डधारण का प्रयोजन		धेनु	८२	पशुभिः	५५
और उस के भेद का		नम.	६३ (xi)	पश्चादग्ने	७
विवेचन	८८-९०	नाकम्	४९ (iv)	पश्चिम दिशा	७ (ii)

परिणीत	१२	प्रधानत्वात्	८३	ब्रह्मवर्चसाय	२०
परिश्रुति	४६ (VI)	प्रपीनाम्	४८ (VIII)	ब्रह्मवर्चसी	५५ (III)
परिसमूहति	५० (II)	प्रयाणम्	४६ (IV)	ब्राह्मण आदि पद गुण	
पर्युक्ष्य	५४	प्रवचन की प्रतिज्ञा	११३	वाचक	७८ (II),
पर्युप्त	६	प्रास्थापानाम्या	उलमा		८२ (II)
पाणिना	५२	वधाना	११	ब्राह्मण और शूद्र दोनों	
पाच यम	७५	प्राशनान्ते	३५	तपस्वी	६२, ६०
पुन	२०	वप्रीते	१०		(पाटि० १)
पुरस्तात्	१५	बल	१५	ब्राह्मण, राजन्य, वैश्यम्	
पुराण ६ (पाटि० ८)		बलाय	६ (III) (II)		१ (VIII)
पुष्करक्षनौ	६१ (IV)	मित्र के गुण	८८-६०	ब्राह्मणान्	५
पूर्ववत्	५८, ७२	बृहस्पति	८२	ब्राह्मणों के आचार के	
पूपा	८२	बृहस्पति	६ (III)	अनुकूल शूद्रों का उप	
प्यायस्व	५७ (V)	ब्रह्म	७ (III) (II)	नयन मिहत्	४ (VI)
प्यातिपीमहि	५७ (V)	ब्रह्मचर्यम्	७ (III)	भग्न	४७ (VI)
प्रनननाय	६३ (XII)	ब्रह्मचर्यव्रत ७ (III) (II)		भवत्पूर्वाम्	६५-६७
प्रजया	५५	ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि		भाज्यत	२३ (V)
प्रजापतये	३३		७६	मिक्षा मागने की राति	
प्रजापति	८२	ब्रह्मचारी का वेप	६		६५-६७
प्रजापति की कल्प्याणी			५० ७	भुव	४७ (VI)
तद्	५५ (II)	ब्रह्मचारी का परिचम में		यू	४७ (VI)
प्रजापते	१५	मिटाने का रहस्य	७	भूतेष्व	३२
प्रतप्य	५६		५० ८	मूष्याम्	२०
प्रतिमुञ्च	१५	ब्रह्मभोज	५ ५० ७	मज्जन	७५
प्रत्यङ्मुखाय	४३	ब्रह्मभोज के उपयुक्त		मधु	७५
प्रदक्षिणम्	३४	ब्राह्मण का लक्ष्य		मनसा	१२
प्रदक्षिणम्	५४		५ (II)	मनुष्याणाम्	५३

मन्त्र—अध्यात्म में	का सच० का अर्थ	चयुनावित्	४६ (vi)
विसर्जन ११८	१५ (ii) पृ० २१	वरुण	७ (ii)
—अवगुण्ठन ११३,	ययामगलम् ४	वरेण्यम्	४७ (vi)
११६	याजयेयु १०४ (ii)	वर्चसे	६ (iii) (ii)
—शान्तिभाजन १२१	युञ्जते मन उत मन्त्र का	वचोदा	६०
मम व्रते मन्त्र का दस०	अर्थ ४६ (v)	वर्णम्	११
का अर्थ २७	युवा १२	वर्णों को अपेक्षित सम्प	
मही ४६ (vi)	युवा सुवासा १२	भाताए १ (ii—viii)	
महे २३ (v)	युवा सुवासा का विनियोग	वर्णों की एकता ७८ (ii),	
मास ७५	१२ (ii—iii) पृ० १८	८२ (ii), ६१	
मामभक्ष्य निकृष्ट ७५	येन भाता मन्त्र का अर्थ	वर्णों के लिए दण्डों के	
माता से भिक्षा ७०	६३ (v)	विभिन्न माप का कारण	
मित्र ८० (ii)	येनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ	६२	
मित्रस्य १७	(सच) ६ (iii) (iii)	वर्णों के दण्डों के रग ७६	
मूज के गुण ८४—८६	यो व शिवतम मन्त्र का	(पाठि० १)	
मेखलाधारण से लाम	अर्थ २३ (iii) पृ० २७	वधिपीमहि ५७ (v)	
८४—८६	रणाय २३ (v)	वमु (ब्रह्मचारी) ७६ (ii)	
मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी	रस २३ (v)	वस्त्रपरिधान का महत्त्व	
द्वारा ही १०	राजन्यम् १ (viii)	८ पृ० १०	
मेखलाम् १०	रायसोपाय ६३ (xi)	वस्त्रों और मेखला के	
मेध्या ५५	रुद्र ८१	मेद का कारण ७६	
मौखी ८४—८६ (ii)	रुद्र (ब्रह्मचारी) ७६ (ii)	वाचस्पति ४८ (vi)	
मौर्वी ८४—८६ (ii)	रौरवम् ८१	वाज १७ (ii)	
यज्ञ १३	वन २१ (iv)	वाजजित् ५७ (v)	
यज्ञस्य ५३	वनस्पतियों में जीवन	वाजम् ४८ (iv)	
यज्ञोपवीतम् १३	७२	वाजम् ४८ (vi)	
यज्ञोपवीत परम पवित्र	वनस्पते २१ (iv)	वानि १७ (ii)	

वायु	८२	विवेचन	७६ (ii)	शुभ्रम्	१५
वासः	८८	वेदारम्भ संस्कार पृ० ३५		शूद्र—आर्यों से श्रेष्ठ	
विद्यार्थी में आवश्यक		वैकल्पिक विधानों का		४ (v) (५)	
गुण	४३ (ii)	महत्त्वं	६१ (ii)	—निकृष्ट	४ (v) (१)
विपश्चितः	४६ (vi)	वैश्य, समस्त प्रजा	८१	—पददलित क्षत्रिय ही	
विप्रस्य	४८ (vi)	(पाटि० १)		४ (v) (४)	
विप्राः	४६ (vi)	वैश्यम्	१ (viii)	—मूर्ख ही	४ (v) (२)
विभिन्न वर्णों के उप-		वैश्य (=विश्व) ही शूद्र		—वर्णों में श्रेष्ठ व्यक्ति ही	
नयन में आयु की		के प्राण	६२	४ (v) (५)	
भिन्नता का कारण १		वैश्यासः	२०	—काम-सेना ४(v)(१)	
(ii—viii) पृ० २—४		व्यनहरेयुः	१०४ (ii)	शूद्रों के उपनयन के	
विमृष्टे	५६	व्यनहार्याः	१०७ (iii)	विधान के अभाव का	
विश्वजन्याम् ४८ (viii)		व्युष्टायाम्	११८	कारण ४ (v—vi)	
विश्वा रूपाणि मन्त्र का		मने	२७ (ii)	पृ० ५—७	
अर्थ ४६ (iii)		मान्य १०४, १०७ (ii)		श्रुतिः ४७ (viii)	
विश्वेदेवा ८१ (पाटी० १)		अतिथि, परमात्मा १०७		श्रेयान् १२	
विश्वेभ्य देवेभ्य ३३		(ii)—क्री आशा से यह		पाश्चात्य ४६	
वेदब्रह्मचर्यम् ७६ (iii)		में लाम १०७ (ii)		संशालि ३५	
वेदम् ६७		मात्य से शूद्र १०४		संस्कारो नाप्यापनं च	
वेदमत्त अपारस्करिय		मात्य स्तोम १०७		१०६	
१०८		शतम् ६३ (viii)		सयः ४७	
वेदमत्त—छै १०८		शयानम् ६४		सन का गुण ८४—८६	
(ii—iv)		शाण० ७६		सन वर्णों की एकता	
वेदशिरस् ११५		शान्तिमाननम् १२१		७८ (ii), ८२ (ii),	
वेदस्य ५३		शिवः ६३ (x)		६१	
वेदाध्ययन के लिए		शिवो नामादि मन्त्र का		सन के लिए गायत्री का	
निर्धारित अर्थ का		अर्थ ६३ (ix)		उपदेश ५०	

समस्त प्रजा वैश्य	सवित्रे	३३	सूर्यमुदीक्षयति	२४	
८१ (पाटि० १)	ससुवासम्	५७ (V)	सोम	७ (II)	
समावर्तते	६६	सहजम्	१५	सौम्रवसम्	५३
समित्	५१	सहस्रधाराम् ४८ (VIII)	जीगमन	७५	
समिध	७२	सावित्री का उपदेश ४३	स्थविरम्	१७ (II)	
समिधम्	४१	सावित्री के उपदेश का	स्नातक	६५	
समिधम्	५४, ७२	काल परिमाण	४६	स्नातक की कीर्ति	६५
समिधाधान	५१	४० ३६	स्नातकों के भेद	६६	
सामवाधान का भाव	✓ सावित्री—जगती छन्द	स्व	४७ (VI)		
५७ (IV)	वाली	४६	स्वदत्तु	४८ (VI)	
समिद्धम्	१७ (II)	✓—त्रिष्टुप् छन्द वाली ४८	स्वधिति	६३ (X—XI)	
समीक्षिताय	४३	सावित्राम्	४३	स्वसा	११
समीक्षमाणाय	४३	सुप्रजास्त्वाय ६३ (VIII)	स्वाथ्य	१२	
सम्मार्जिम	५७ (१)	✓ सुभगा	११	स्वाहा	४८ (VI),
सरस्वती	६१	सुमतिम्	४८ (VIII)		५५ (III)
सर्प	१७ (II)	सुवासाः	१२	हस्त गृहीत्वा	२८
सर्वा च	४५	✓ सुवीर्याय	६३ (XI)	हाथ तपा कर अगो के	
सवितु	४७ (VI)	✓ सुभुवः	५३	स्पर्श का लक्ष्य	५६
✓ सवितृदेवता का त्रैष्टुभ	सूर्य	२४	हिंसी	६३ (XI)	
मन्त्र	४८	सूर्य	२५ (II)	होत्राः	४६ (VI)

॥ ॐ ॥

वेदलावण्ये
ऋक्सूक्तानि

(य० ३१ च)

वेदलावण्यम्

भूमिका

ऋग्वेद का परिचय

वेदशब्द

१—वेद शब्द/विद् से बनता है। यह वातु ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारण अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस से ऊरय और अधिकरण में घञ् प्रत्यय लगता है। अतः यह पद ज्ञान, सत्ता, प्राप्ति और विचार अर्थों का द्योतक है। दयानन्द सरस्वती ने अपनी भूमिका में लिखा है—विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः^१। प्राचीन काल में ही 'वेद' पद ज्ञानमात्र तक सीमित न रह कर कुछ ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त होने लगा जिन से ऊपर वर्णित पदों की प्राप्ति सम्भव मानी गई है। ये ग्रन्थ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। सामवेद में केवल ७५ मन्त्र हो ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं आए हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद मूल वेद है, शेष अर्वाचीन। इन में बर्मकाण्ड की दृष्टि से ऋग्वेद से मन्त्र ले कर क्रिया के क्रम से रत्न दिए गए हैं। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती का विचार है कि विभिन्न वेदों में समान मालूम पड़ने वाले मन्त्रों का रूप एक सा दिखाई पड़ता है, उन के अर्थ भिन्न-भिन्न अभिप्रेत हैं^२। इस की पुष्टि अनेक बार ऐसे

१-सुभाषू० पृ० २५।

२-वेमाप०, २०।२४-२५।

मन्त्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि और देवता मिलने से भी होती है ३ ।

शाखासंहिताएँ

२—इन चार वेदों की शाखा संहिताएँ भी उपलब्ध होती हैं । किसी समय इन की संख्या ११२७ रहीं बताई जाती है ४ । आज-कल इन में से कुछ ही मिलती हैं । उपलब्ध ऋग्वेदसंहिता शाकल शाखा की बताई जाती है ! इस के आश्वलायन गृह्यसूत्र आदि कुछ मन्त्रों में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के पाठभेद मिले हैं, जिन की परीक्षा से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि उपलब्ध ऋक्संहिता प्राचीन है और पाठभेद अर्वाचीन । इन अर्वाचीन पाठभेदों में मूल पाठों को सरल करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है ५ ।

३—यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय मिलते हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद । शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं—माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता । इन दोनों संहिताओं में पर्याप्त साम्य है । वैपम्य के स्थलों पर लगभग सर्वत्र ही काण्व संहिता माध्यन्दिन संहिता से अर्वाचीन और उस का सरल संस्करण मालूम पड़ती है ६ । इसी संहिता में सर्वप्रथम मन्त्रों के विनियोगों का विधान पाया जाता है, माध्यन्दिन में नहीं ७ । इन दोनों संहिताओं में केवल मन्त्र ही भिन्न हैं, काण्वसंहिता के अभी निर्दिष्ट विनियोगवर्णन के अतिरिक्त इन में ब्राह्मणभाग नहीं है । कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में ब्राह्मणभाग

३—वही, १७।१०६; सीएसडी० पृ० १७०-१७२, आर्यसिद्धान्त विमर्श, पृ० १८७ ।

४—ऋग्वेद० पृ० ३४८; वेमाप० २०।७३; वैसा पृ० ६६ ।

५—नेवैशा०, पृ० १३, संदर्भ २ ।

६—वही, पृ० ५-८, १३ (संदर्भ ३)

७—वेमाप०, ५।५६ ।

भा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। ब्राह्मण वेदग्रन्थों का अनेक दृष्टियों से संक्षिप्त व्याख्यान देते हैं। इन में मन्त्रविषयक कियावाण्ड का विस्तृत वर्णन और विवेचन पाया जाता है। अतः इस सम्प्रदाय की तीनों उपलब्ध संहिताओं—तेत्तिरय, मैत्रायणी और वाठज को माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अर्वाचीन, सरलीकृत और विस्तृत व्याख्यान से युक्त संस्करण कहा जा सकता है।

४—सामवेद की दो शाखाएँ हैं—कौथुम और जैमिनीय। प्रथमवेद की भी दो हैं—शौनक और पैप्पलाद। इन को पारस्परिक तुलना से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कौथुम और शौनक शाखाएँ प्राचीनतम हैं, शेष अर्वाचीन और सरलीकृत संस्करण हैं।

५—मध्यकालीन परम्परा के विद्वान् शाखासंहिताओं को भी मूल वेद ही मानते हैं। वे भी उन की दृष्टि में अपौरुषेय हैं। आधुनिक विद्वान् शाखा-साहताओं को एक ही अपनी-अपनी मूल वेद संहिता का भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न कुछ पाठभेदों वाले संस्करण मानते हैं। परन्तु ये बात ठीक नहीं। जैसा स्वा० दयानन्द सरस्वती ने लिखा है, शाखासंहिताओं को पूर्व संदर्भों में लिखे वर्णन के अनुसार मूल-संहिता का व्याख्यान या सरलीकृत संस्करण मानना उचित होगा।

८—वैशाख ५।१।

६—नवैशा० पृ० ८—१३। वैशा० पृ० १०० पर इस मत पर आपत्ति करते हुए राणायनीय शाखा को मूल वेद मान जाने का कथन किया गया है। परन्तु राणायनीय संहिता अभी उपलब्ध ही नहीं हुई है। दसो वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्गुप्त), १६३५, पृ० २१२।३।

१०—वैशा०, पृ० ६६।

११—नवैशा०, पृ० १—२।

१२—वैशा० पृ० ६६—१०० पर इस मत पर आपत्ति तो की है, परन्तु कोई विवेचन नहीं किया है।

ब्राह्मणग्रन्थ

६—प्रत्येक वेद और उस की संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण रहे थे । आज-कल न तो सर शाखासंहिताएँ मिलती हैं, न उन के सर ब्राह्मण । अब तक योडे-से ही ब्राह्मण उपलब्ध हुए हैं—ऋग्वेद के ऐतरेय, कौषातकि और शाखायन १३, यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण १४ और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद १५ के ताण्ड्य, जैमिनीय, जौमनीयोपनिषद्, मन्त्र, आप्येय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वश ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का आप्य ब्राह्मण मिले हैं । जैसा ऊपर लिखा जा चुका है ये वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं । इनमें अपनी-अपनी संहिता से सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया गया है । सामान्यतः इन्हें कर्मकाण्ड का ही ग्रन्थ माना जाता है और इन के वेदव्याख्यानों को याज्ञिक । परन्तु यज्ञपद का जिस सीमित अर्थ न इस कथन में प्रयोग किया जाता है ब्राह्मणों की दृष्टि उत्तरी सामित नहीं । ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-पद के अर्थों पर विहंगम दृष्टि से सुव्यक्त हो जाता है कि वहाँ प्रत्येक लोकोपकारक पदार्थ, कर्म, भाव और स्थिति यज्ञ है । उन के वेदार्थ और कर्मकाण्ड के निवेचन में यह दृष्टि श्रोतप्रोत्त है । इस प्रकार उन क वेदार्थ अनेकविध हैं । उन में देवता सीमित अर्थ में याज्ञिक नहीं । वहाँ

१३—कुछ विद्वान् कौषातकि और शाखायन ब्राह्मण को एक ही मानते हैं । डा० गी० आर० विन्तामणि ने इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थ प्रमाणित किया है । दलो आदेशोका० ६, पृ० १६४॥

१४—इस की दो शाखाएँ माध्यन्दिन और क्राएव मिलती हैं ।

१५—मन्त्र, आप्येय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वश ब्राह्मण किसी समय ताण्ड्य ब्राह्मण के अंश रहे होंगे । हाल ही में एक छान्दोग्य ब्राह्मण कलकत्ता से छपा है । मन्त्रब्राह्मण को भी छान्दोग्य ब्राह्मण कहा जाता है । दोनों का स्वरूप अध्येतव्य है ।

वरुण क्लोम भी है, सविता यदृत् भी और दोनों ब्रह्म और वाक् भी । इन ग्रन्थों में वेदार्थ के लिए महान् सामग्री भरी पड़ी है, जिस की कतिपय भ्रान्त धारणाओं के कारण और ठीक-ठीक अवगत न करने के कारण महान् उपेक्षा की गई है । आजकल कुछ विद्वान् अपने वेदार्थ आदि में इन का पर्याप्त प्रयोग कर रहे हैं १६ ।

आरण्यक

७—ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तिम भागों को आरण्यक कहते हैं । सायण आदि विद्वानों के मत में अरण्य में पड़े जाने के कारण इन का नाम आरण्यक पड़ा है । इस की अपेक्षा इन्हे अरण्य=ज्ञानविशेष-मोक्षदायक ज्ञान-ब्रह्मज्ञान आदि का व्याख्यानग्रन्थ होने के कारण आरण्यक कहा जाना अधिक समीचीन जान पड़ता है १७ ।

८—आरण्यकों में महाव्रत और होम आदि यज्ञों का विवरण, यज्ञों के दार्शनिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप का विवेचन किया गया है १८ । इन में मन्त्रों की अनेकार्थक माना गया है १९ ।

९—आजकल उपलब्ध आरण्यकों की संख्या अल्प ही है । अथर्व ऋग्वेद के ऐतरेय और शांख्यावन या कौपीतिक आरण्यक, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक, मैत्रायणी (या बृहद) आरण्यक, शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन बृहदारण्यकोपनिषद् (और काण्व बृहदारण्यकोपनिषद्) और सामवेद का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २० या तत्त्वकार आरण्यक उपलब्ध हुए हैं ।

१६—देवो डा० फतह सिंह, वैदिकदर्शन, भारतीय समाजशास्त्र मूलाधार, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, उरूप्योति आदि ।

१७—वेमाप० ७।२ ।

१८—वैसा० पृ० १५०—१५१ ।

१९—वेमाप० ७।६ ।

२०—इस में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—तीनों मिले हुए हैं ।

उपनिषद्

१०-गृह्य आरण्यको के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। काण्व
यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् के नाम से प्रख्यात
है। इन ग्रन्थों में ब्रह्मविद्या—ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का
सूक्ष्म और गोलक विवचन किया गया है।

११—उपनिषद् उपनिषदों का संख्या बहुत विशाल है। इन्हें वैदिक और अवैदिक दो भागों में रक्खा जाता है। वैदिक उपनिषदों में सव प्रमुख और प्रामाणिक उपनिषद्—ईश, कन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषांबिक, प्रश्न—आ जात हैं। श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषद् मा उच्च काटि के हैं। शेष में तान्त्रिक, योग, अथर्ववेदाय और साम्प्रदायिक उपनिषद् हैं। इन की संख्या बहुत है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों का माहमा के कारण अवर व्यक्तियों न अपने विचारों के प्रसार क लिए उपनिषद् बना डाले।

द्वय

१२—वैदिक साहित्य का अन्तिम अङ्क सूत्रों में मिलता है। ये षडः संहिता शैली में लिखे गए हैं २१। बहुधा टीकाओं और भाष्यों की सहायता के बिना इन्हें समझना सम्भव नहीं होता है।

१३—समस्त सूत्र ग्रन्थ छै वेदाङ्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। ये वेदाङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं। वेदार्थ जानने के लिए इन का ज्ञान परम आवश्यक माना गया है। शिक्षा में उच्चारण सम्बन्धी नियम मिलते हैं। व्याकरण में

३१-त० न०-- मन्त्रालयसदिस्य सारवदु १३३वर्तमानम् ।

अस्तौममनवय च सूत्र सूत्रविदा वदन्॥ वमाय० १०।१ भा देखें ।

भाषा का और निरुक्त में पदों का विश्लेषण, छन्द में वैदिक छन्दों के लक्षण आदि और ज्योतिष में कालगणना और सूर्य आदि ज्योतियों के विषयों का प्रतिपादन मिलता है ।

१४—ऋग्वेद के अन्तर्गत भौत, गृह्य और धर्म सूत्र आते हैं । भौत सूत्रों में चौदह वैदिक यज्ञों—सात हवियज्ञ और सात सोमयज्ञ—का वर्णन किया गया है । गृह्य सूत्रों में जन्म से मृत्यु पर्यन्त किए जाने वाले संस्कारों, सात पारु यज्ञों का वर्णन मिलता है । धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम धर्म, दायाधिकार, आदि सामाजिक, राजनीतिक और पारमार्थिक कर्मों का वर्णन पाया जाता है ।

१५—आजकल उपलब्ध सूत्रों की संख्या पर्याप्त है । इन में आश्वलायन, आपस्तम्ब, पारस्कर, शाखायन, गोभिल, मानव, बौधायन आदि के गृह्यसूत्र, आश्वलायन, शाखायन, बौधायन, आपस्तम्ब आदि के भौत सूत्र और वसिष्ठ, मानव और गौतम के धर्मसूत्रों का उल्लेख किया जा सकता है । ये सूत्र विभिन्न वेदों या उन की शाखाओं से सम्बद्ध हैं । सम्भवतः कुछ सूत्रग्रन्थ स्वतन्त्र भा रहे हों । ये ग्रन्थ ही पिछले काल की स्मृतियों का आधार बने ।

ऋग्वेद

१६—ऊपर के वर्णन से यह सुव्यक्त है कि ऋग्वेद समस्त वैदिक षाड्मय में प्राचीनतम और पूज्यतम ग्रन्थ है । वैदिक और प्रत्यग्वैदिक साहित्य में वेदों की बड़ी महिमा बताई गई है । स्वयं वेदों ने अपने को परमेश्वर से उत्पन्न, उस के अद्भुत, कल्याणकार, पुरातन विद्वान् और आदित्य, कर्म का स्रोत, वीर्य, तप, ब्रह्मवर्चस् पर आयु प्राण आदि के देने वाले कहा है । ऋचाएँ देवों के निवास स्थान परम व्योम अक्षर स्कन्ध में रहती हैं । इन में भद्र लक्ष्मी निहित है । इन्हें यज्ञ से जाना जा सकता है । परमात्मा ऋचाओं में प्रकाशित

होता है, ऋचाएँ परमात्मा से । वे दुःख और पाप आदि से छुड़ाने वाली हैं । ऋचाओं से ही जगत् और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है । ब्राह्मणग्रन्थों में ऋग्वेद को अग्नि से उत्पन्न, भूलोक, अग्नि देवता गायत्र छन्द और पृथिवी स्थान वाला, भर्ग आदि कहा है । बसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार ऋचाओं के ज्ञान से रहित व्यक्ति ब्राह्मण, षण्वि, कुशीलव, शूद्रों का स्वामी, स्तेन और चिकित्सक नहीं हो सकता है २२ ।

१७—आधुनिक काल में भी विद्वानों ने वेदों की महिमा मुक्त कण्ठ से वर्णित की है । भारतीय सभ्यता और विचारधारा के मूल स्वरूप, विकास और विस्तार के लिए, आधुनिक नूतन विज्ञानों धर्म-विज्ञान, संस्कृतिविज्ञान और भाषाविज्ञान, इतिहास और दर्शन आदि के अध्ययन के लिए समस्त वेदों का, विशेषतः ऋग्वेद का महान् महत्त्व स्वीकार किया गया है । इसी कारण इस वेद के अर्थों को आधुनिक संस्कृताध्यायन में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है । अतः इस वेद का यहाँ कुछ विस्तृत परिचय दिया जाता है ।

ऋग्वेद का काल

१८—जब से आधुनिक युग में वेदों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है तब से ही ऋग्वेद के काल के निर्णय की विकराल समस्या विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुई है और उन्होंने ने अपनी-अपनी दृष्टियों से ऋग्वेद का काल निश्चित करने का प्रयास किया है ।

१९—यह प्रश्न प्राचीन काल में भी विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुआ । ऋग्वेद के मत में सर्वप्रथम यज्ञ विराट् से अक्र, सामन्त, यज्ञ और छन्दम् (= अथर्ववेद) की उत्पत्ति हुई २३ । अभी

२२-षष्ठ्य० ३।३, वेमाप० १।१३ भी देखें ।

२३-ऋ० १०।६।६। दसो आगे मन्त्रसंख्या २० ।

मानव की सृष्टि का सूत्रपात भी नहीं हुआ था कि इन ऋक् आदि की विराट् पुरुष से उत्पत्ति हो गई। भारतीय परम्परा में अन्य आचार्यों और ग्रन्थों ने भाचारों सहिताओं को अग्नि, वायु, आदित्य और अगिराः के द्वारा सृष्टि के आदि में ईश्वर से उत्पन्न माना है।

२०—सृष्टि की रचना की गणना ज्योतिष के ग्रन्थों में मन्वन्तरों की कल्पना द्वारा की गई है २४। उन्होंने ने इस गणनाक्रम को चिर काल तक अभ्ययन, परीक्षण और विचार के पश्चात् स्थिर किया था २५। इस गणना का सूत्रपात वैदिक काल में हो चुका था। अथर्व-वेद में ब्रह्मा के मन्त्र में यह कम पूर्ण विकसित लक्षित होता है—

“शत तेऽयुत हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृणुमः।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमाना ॥” २६

इस गणना के अनुसार ऋग्वेद आदि चारों सहिताओं का आविर्भाव काल ग्राज से १६६०८५३०५८ वर्ष पूर्व है २७। प० रघुनन्दन शर्मा ने वैदिकसम्पत्ति में विचार प्रस्तुत किया है कि वेदोत्पत्ति का काल वैवस्वत मनु का युग है।

२४—देखो सूर्यसिद्धात, १ । १२—२०, २०—२३, विष्णुपुराण १।३।१८—२२।

२५—वही, १।३।१२—यहाँ पर पुराविदः शब्द से यह निष्कर्ष सुस्पष्ट है।

२६—अवे० ८।२।२१ ।

२७—देखो ऋभाभू० पृ० २६—२७ (स०)। वहाँ की गणना में १६३३ वि० से आज २०१५ वि० तक के ८० वर्ष और जोड़ लें। वेभाप० २०।१८ भी देखें।

२१—इस मत का आधार वेदों की अपौरुषेयता है। आधुनिक आलोचनात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन में अपौरुषेयवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। आज विकासवाद का सिद्धान्त मानता है कि मानव और उस के मस्तिष्क का विकास शनैः शनैः हुआ। जब मानवों में कवित्व शक्ति प्राप्त हो गई तब उन्होंने वेदमन्त्रों की रचना की। मानव का इस विषयित अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है।

२२—इस विचारधारा पर अनेकों विद्वानों ने ऋग्वेद का काल निश्चित किया है।

मैक्समूलर का मत

२३—मैक्समूलर ने प्रस्ताव किया कि लगभग ५०० ई० पू० में बुद्ध के निर्वाणोपरान्त बुद्धधर्म के प्रसार के समय वेदसाहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्रों का निर्माण हो चुका था। इन को चार कालों—छन्दकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक काल के साहित्य की उत्पत्ति और विकास में कम से कम २००-२०० वर्ष लगे होंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के निर्माण में कम से कम ८०० वर्ष लगे होंगे। इन को बुद्ध के निर्वाणकाल में जोड़ने और सूत्रकाल को ६०० ई० पू० से प्रारम्भ तथा बुद्ध का समझौती मानने पर वेद का रचना काल ८०० से १२०० ई० पू० ठहरता है। पाँच-षष्ठ मैक्समूलर ने इस तिथि को १५०० ई० पू० तक पहुँचा दिया।

डा० मैकडोनल का मत

२४—डा० मैकडोनल मानते हैं कि अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि यदि अवेस्ता की भाषा १५-६ सौ वर्ष पूर्व की मिल जाती तो वह ऋग्वेद की भाषा से स्वात्तः कुछ

भिन्न हाती । उपर १४० ई० पू० क बापाज काई के शिलालेख में कुछ वैदक देवताओं का नाम मिलता है जो भारत-ईरानी आर्यों के पृथक् होन के काल का है । अतः सृगन्द की रचना १५०० ई० पू० क पीछ की है २७ अ ।

२७अ—हाल ही म पायो नयर (२८ १ १६) में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार अणुशक्ति के पराक्षण सभारत में आर्यों के आक्रमण की तिथि २००० ई० पू० से १६०० ई० पू० ठहरती है । इस पराक्षण और पराक्षित सामग्री की पूरी जानकारी प्राप्त हुए बिना कुछ निष्कर्ष निकालना उचित नह । यह समाचार इस प्रकार है—

ATOMIC EXAMINATION DATES ARYAN INVASION⁽¹⁾ OF INDIA

BOVBAY Jan 25-Examination through atomic apparatus of the archaeological finds at Navdatoli on the banks of River Narmada 60 miles south of Indore, has indicated that the Aryans came to India between 2 000 and 1,600 B C

Articles found at the site included charred grains of wheat and rice burnt wooden posts and pieces of painted pottery These were sent to Pennsylvania University for C 14 tests which are said accurately to determine the age of archaeological objects Experts at the University are of the opinion that the objects ranged from 1 600 B C to 1 100 B C.

२५—परन्तु भाषाओं और भावों के विकास की गति इतनी नियमित नहीं है जितना इस वादों में माना गइ है । भाषाएँ सहस्रों वर्षों तक अपने साहित्यिक रूप में बनी रहती हैं, उन का पुनरुद्धार और प्रसार भी होता है । उधर न बुद्ध के निर्वाण की तिथि निश्चित है, न जरासुग की । बुद्ध का निर्वाण काल ३६८ ई० पू० से २४२२ ई०

So for the date of the Aryan invasion of India based on linguistic evidence could not indicate the exact period of their descent on the Indo Gangetic plain. Historians however have opined that it must have taken the Aryans some 400 years to move from the frontiers to Central India where they ultimately settled.

Dr H D Sankalia Director of the Deccan College Post Graduate Research Institute, Poona who has been engaged in research work on the site, told NAFEN that the 20 specimens of Navdatoli finds subjected to C 14 tests were the first Indian objects to undergo the test.

According to Dr Sankalia, between 1600 and 1100 B C peasants cultivated wheat and later rice gram field peas and misoor (lentil). They lived in round square and rectangular houses and had beautiful painted pottery comparable in shape and design to that from Iran at that period. It is probable the invading tribes had brought to India the art of making such pottery.

1 This is the first time that something Iranian can be definitely located in India at a period that can be dated he added-NAFEN

पू० (चीनी और तिब्बती परम्परा) के बीच में और जग्गु कों काल ६०० ई० पू० से ८,००० ई० पू० के मध्य में रक्खा जाता है । यद्यपि प्राचीनतम तिथियों की ओर आधुनिक प्रवृत्ति नहीं है तो भी निचली सीमाओं के मतभेदों में भी पर्याप्त ऊँची तिथियाँ मिलती हैं । मोघज-काई के मतानुसार शिलालेख में प्राप्त ऋग्वेदीय देवताओं मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यो के नामों-मरुत्-र, टरु व-न, इन्द्र-र और न - स - अत् - लि - इन्द्र को मारतीयों और ईरानियों के सर्वप्रथम पृथक् होने के काल का और आर्यों के भारत की ओर बढ़ने के काल का मानना सम्भव नहीं । ये नाम मित्र आदि यदों के मूल या पूर्वरूप नहीं हैं, प्रत्युत पाछ के विकृत रूप हैं । अपि च - आर्यों के पश्चिम से भारत में आने का साहित्य में कोई निर्देश नहीं मिलता है । पुराणों में उन्हें पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ता हुआ वर्णित किया गया है । ऋग्वेद के नदीवृत्त से भी यही क्रम निकलता है ।

सिन्धुघाटी सभ्यता

२६—३००० ई० पू० की सिन्धु घाटी सभ्यता को अवैदिक और प्राग्वैदिक माना जाता है । उस के पक्ष में प्रमुख युक्तियाँ ये हैं — (१) ऋग्वेद में अश्व का महत्त्व है, परन्तु सिन्धु घाटी में बैल का । (२) सिन्धुघाटी में न अश्व मिला है, न उस का चित्र । (३) इस सभ्यता में शिव की पूजा मिलती है जो वैदिक शिव से भिन्न है । (४) ऋग्वेद का धर्म मूर्तिपूजक नहीं है, सिन्धुघाटी में मूर्तियों का प्राबल्य है । वहाँ किसी घर में भी अग्निकुण्ड नहीं मिला है ।

२७—इस विषय पर पर्याप्त विवाद चला है । डा० लक्ष्मण स्वर्ण ने इस विषय में पर्याप्त लिखा है । यद्यपि ऋग्वेद में अश्व का वर्णन पाया जाता है तथापि यह विचारणीय है कि अश्वपद और उस के पर्यायवाची सर्वत्र ही “घोड़े” के वाचक हैं, अथवा किसी अन्य

अथ के । यदि अ य अथ होते हैं ता क्या वे छोटे की लक्षणा से संगत होते हैं अथवा उस के बिना भी प्राप्त हो जाते हैं । 'अश्व' के स्वतन्त्र प्रयोग का विश्लेषण यह बताता है कि इस के २०५ प्रयोगों में से ११४ आगिरसों के, २५ मित्रावरुणा के, १६ आग्नेयों के, २३ विश्वामित्र के, ७ मरानि के, ३ वरुण के और १४ विभिन्न ऋषियों के हैं । इस विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'अश्व' सब दुलो में प्रिय नहीं था । वैसे भी भारत में दैल, घोड़ों से १२० गुना अधिक मिलते हैं । अश्व और उस के त्रिप का उपलब्ध न होना कोई आश्चर्य नहीं । ऋग्वेद में भी अश्व देवताओं का वाहन नहीं है, जहाँ मालूम पड़ता है वहाँ अर्थात्तर या भावान्तर सुराष्टर लक्षित होता है ।

२८—अभि च-सिधु घोड़ों का प्रदेश है । बाड़े का एक माम सैन्धव भी है । इस कारण यह कल्पनातीत है कि सिधु घाटी के लोग घोड़ों का प्रयोग न करते हों । वैसे भी इन अवशेषों में घोड़े का भी एक अवशेष ऊपर के स्तर पर मिला है २८।

२९—सिधु घाटी का शिव वैदिक अयस्क = रुद्र का पिछला विकास है २९ । वैदिक रुद्र का भौतिक पक्ष नारिकेल के रूपकमक वर्णन के अनुरूप है और उस में पौराणिक शिव के लक्षण पर्याप्त मिलते हैं । अतः शिव को अतार्य मानना उचित नहीं । यद्यपि ऋग्वेद में मूर्तियों की सत्ता का कोई वर्णन नहीं है, तो भी 'प्रतिमा' पद की सत्ता से

२८—यह अवशेष १ फीट १० इंच नीचे मिला है । देखा सर-जान मार्शल, मोहन जो दही सिविलिजेशन माय २ पृ० ६५३—४ ।

२९—देसो मुधौर कुमार गुप्त, कोकोनड (अयस्क इन दो ऋग्वेद) इज दी ओरिजन औफ शिव कल्ट, आइओका० (स०) १६४८ ।

शात होता है कि कुछ मूर्तियाँ-खिलोने आदि अवश्य बनते होंगे। वैदिक वर्णन कुमार-देप्पा पद से भी यहा भाव निकलता है। सिधु घाटी की लिङ्गपूजा भा वैदिक रुद्र = नारिकेल का ही विरसित रूप है ३०।

३०—सिधु घाटी की खुदाई में एक अग्निकुण्ड क सदृश स्थान भी मिला है ३१ जिस पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। तथापि अग्निकुण्ड का अभाव इस सम्यता की प्राग्वैदिक सिद्ध नहा करता है। आज भी प्रतिदिन अग्निहोत्र करने वालों के घरों में अग्निकुण्ड बहुत कम पाया जाता है।

ज्योतिषविषयक

३१—श्री शंकर बालकृष्ण बीक्षित ने शतपथब्राह्मण से एक कथन खोजा है जिस के अनुसार उस समय वृत्तिकाएँ प्राचा दिशा में ही उदय होती थीं, परन्तु आजकल वे कुछ उत्तर की ओर उदय होती हैं। ज्योतिष की गणना के अनुसार ब्राह्मणकालान् स्थिति अब से ३,००० वर्ष ई० पू० रही थी ३२। तैत्तिरीय संहिता और ऋग्वेद शतपथब्राह्मण से प्राचान्तर हैं। दोनों के निमाण के लिये २५०-२५० वर्ष गान कर ऋग्वेद का काल ३५०० ई० पू० ठहरता है।

३०—ऋग्वेद में शिशुनदेवा पद को विद्वाना ने लिङ्गपूजको का निर्वेशक माना है। परन्तु भारतीय विद्वान् इस का भाव अत्रसत्कारी लेते हैं। सीएसडी० पृ० २२८-२३३ भी देखें।

३१—एच०आर मण्डल के वर्ग २ विभाग बी मकान XI कमरा स० ८५ के निम्नतम तल में उपलब्ध निम्न स्थान।

३२—डा० गोरक्षप्रसाद भारताय ज्योतिष का इतिहास पृ० ५० पाटि० १ में इस गणना को अशुद्ध बताते हैं। उन्होंने २५०० ई० पू० को ठीक गणना बताया है।

३२—५० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने समस्त वैदिक काल को चार युगों में बाँटा है—अदितियुग, मृगशिरायुग, कृत्तिकायुग और अन्तिम युग। अन्तिम युग वेदांग ज्योतिष की रचना (१४०० ई० पू०) से बुद्ध भगवान् के निर्वाण काल (५०० ई० पू०) तक रहा। वेदांग-ज्योतिष में भविष्य के आदि में सूर्य और चन्द्रमा के उत्तर को ओर घूमने का वर्णन आया है। यह स्थिति आज से १४०० ई० पू० में थी। यह ग्रन्थ इस काल के प्रारम्भ में प्रणीत हुआ। यह काल बुद्ध भगवान् के निर्वाण ५०० ई० पू० में समाप्त हो जाता है। इस काल में समस्त सूत्रग्रन्थ और स्मार्त आदि रचे गये। कृत्तिकायुग इस से पूर्व रहा। इस के प्रारम्भ में वसन्तसम्पात (= दिन और रात का बराबर होना) कृत्तिका नक्षत्र में होता था। शतयजुर्वेद के उपोक्त कथन के अनुसार ये नक्षत्र पूर्व दिशा में उदय होते थे, जिस का समय लगभग २५०० ई० पू० था। इस काल में तैत्तिरीय संहिता और शतयजुर्वेद का निर्माण हो चुका था। इस से पूर्व वसन्तसम्पात मृगशिरा नक्षत्र में होता था। मृगशिरा से कृत्तिका तक पहुँचने में लगभग २००० वर्ष लगें होंगे। इस काल में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र रचे गये। इस मृगशिरा युग से भा पूर्व पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तसम्पात का उल्लेख मिलता है, जिस का समय २००० वर्ष और अधिक प्राचीन हो कर ६००० से ४००० ई० पू० तक रहा। इस में मन्त्रों की रचना हुई जो कालान्तर में संहिताओं में संकलित किए गए। जैकोबी भी इसी प्रकार ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का काल निरूपित करते हैं, परन्तु वे ४५०० में अरिष्ट पहले जाग उचित नहीं समझते हैं। श्री दीनानाथ शास्त्री जुलैट ने भा अपने दृष्टि से ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का रचनाकाल तीन सौ साल वर्ष पूर्व माना है। आ पा० वा० सेनगुप्त ने अरि का काल २६ जुलाई ३६२८ ई० पू० और इन्द्र के मगधा बनने का काल ४१७० ई० पू० निर्धारित किया है। श्री शार० दे० प्रभु ऋग्वेद की

१०,००० ई० पृ० म और चांडेर १५,००० ई० पू० के पहले रखते हैं ।

३३—श्री कथ, विश्वरनि ज और वे० सी० चटोपाध्याय आदि इन निष्कर्षों को प्रामाण्यक नहीं मानते हैं । उन का कहना है कि प्योतिष विषयक उपरोक्त आधारों की योजना में बहुत सी कल्पनाओं से काम चिना गया है, तथा उन-उन स्थलों के, जहाँ ये प्रमाण मिलते हैं, अपचाकृत सरल अर्थ किए जा सकते हैं । अतः ये इन प्यातिषविषयक युक्तियों और तत्सम्बन्धी गणनाओं का पुनः परावृत्त आवश्यक समझते हैं ।

भूगर्भविज्ञान के आधार पर

३४—डा० अग्निनाथचन्द्र दास ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक स्थितियों—समुद्रों और नदियों के अवस्थान आदि, ऋतुपरिवर्तन, वर्ष के वाचक पद—हिम और शरद् आदि के आधार पर ऋग्वेद के काल को ७५,००० वर्ष पूर्व ले जाते हैं ।

३५—स्वामी महादेवानन्द गिरि का कहना है कि वसुतत्सम्पातों का एक चक्र २१,००० वर्षों में पूर्ण होता है, जिस के पश्चात् बड़ा भयंकर शीत युग या हिम युग (ग्लेशियल युग) आता है । इन की गणना के अनुसार पिछला हिम युग १०,००० ई० पू० में हुआ था । ऋग्वेद (२। १२, १७५, १। २०। १, १। १३१। ४ आदि) में भी इस प्रकार के शीत युगों का वर्णन पाया जाता है । आधुनिक विद्वानों ने सृष्टिरचना से अब तक कुल चार हिम युगों की सत्ता मानी है । ऋग्वेद के इन्द्रसूक्त में वर्णित हिमयुग इन में से कौन-सा है यह विचारणीय है । श्री नारायण भवनराव पावगी ने भी भूगर्भ विषयक ऋग्वेद में वर्णित स्थितियों के आधार पर वेद का रचनाकाल

१,००० से १००,००० तक है। वैदिक सभ्यता में श्री विश्वम्भर सहाय प्रेम ने इस के स्थान पर २४०,००० से ६,००,००,००,००० ई० पू० काल दिया है।

३६—वैदिक साहित्य के प्रारम्भ को इतना प्राचीन मानने में सामान्यतः विद्वानों को बड़ा संकोच होता है। इस का एक कारण यह है कि इतने प्राचीन काल में भारत में या अन्य किसी प्रदेश में उस समय मानव का अस्तित्व था भी, या नहीं। यदि हाँ, तो क्या वह इतने विकसित मस्तिष्क का था कि इस प्रकार की उदात्त रचनाएँ उपस्थित करता। इस सन्देह की निवृत्ति आधुनिक काल में प्राप्त अस्थिपञ्जरों से स्वतः हो जाता है।

३७

३७—एक युक्ति यह भी दी जाती है कि मानव स्वभाव सर्वत्र एक सा है। अतः जिस काल में वेद का रचना जाए उस काल की अन्य देशों की सामाजिक स्थिति आदि से वैदिक सभ्यता की तुलना की जाए तो समान भावों की सत्ता मिलना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो समय निर्धारण ठीक नहीं माना जा सकता। परन्तु सब देशों का मानविक और बौद्धिक विकास एक ही धारा में एक ही गति से नहीं होता है। आज भी तो मुख्य और अधमुख्य जातियों के विकास में महान् अन्तर पाया जाता है। अतः यह सिद्धांत उचित नहीं।

निष्कर्ष

३८—इस प्रकार ऋग्वेद के काल के निर्णय में बहुविध मत हैं, जिन में बड़े भारी भेद हैं। अतः विद्वानों ने बहुत ही उचित कहा है कि ऋग्वेद की निम्नतम सामाजिक स्थिति निर्धारित की जा सकती है—ऋग्वेद इस से पीछे का नहीं हो सकता। इस से अधिक कहना सम्भव नहीं। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इस स्थिति को अनुभव करके और उन्हें

सुदूर प्राचीन काल में रचित जानते हुए इन्हें सृष्टि के आरम्भ में रचा मान कर तिथिनिर्माण के विवाद को समाप्त कर दिया हो सकता है। वेद के अध्ययन और अध्यापन में तिथिनिर्णय बौद्धिक व्यायाम मात्र है, वेदार्थ और वेदविषयों को समझने में कुछ भी सहायक नहीं है।

ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विकास

३६—परम्परा के अनुसार स्वयम्भु परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में मानवों के कल्याण के लिए चार ऋषियों—अग्नि, आदित्य, वायु और अगिस्तु द्वारा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद का निःश्वास के समान प्रकाश किया। इन के पश्चात् भी बहुत से ऋषि हुए जिन्होंने मन्त्रों के अर्थ का साक्षात्कार किया और संसार को अपनी देन दी। वेदमन्त्रों से सम्बद्ध ऋषिनाम इन्हीं मन्त्रद्रष्टाओं के हैं। ३३

४०—एक अन्य विचारधारा भी भारतीय परम्परा में पाई जाती है। इस के अनुसार जिन-जिन मन्त्रों के जो-जो ऋषि बताए गए हैं वे-वे उन मन्त्रों के द्रष्टा माने हैं, रचयिता नहीं ३४। इस मत के अनुयायी सायण के भाष्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि त्रिधात्मक रूप से सायण ऋषियों को मन्त्र रचयिता मानते हैं। ३५

४१—वेदोत्पत्ति विषयक परम्परा से प्राप्त कुछ अन्य मत भी हैं जिन का अन्तर्भाव उपरोक्त दो मतों में ही जाता है ३५।

३३—ऋभाभू०—वेदोत्पत्तिविषय। सप्र०—भा१२०—१२३। इन में उद्धृत प्रमाण भा देखें। स्वयं वेदमन्त्रों का भी यही कहना है।

३४—आर्यसिद्धान्तविमर्श में ऋषियों पर लेख देखें।

३५—इन का वर्णन स्वा० कर्मानन्द ने वैदिक ऋषिवाद और श्री एम० मोनियर विलियम्स ने अपनी रचना—‘इण्डियन विज्डम’,

४२—परन्तु आधुनिक विचारधारा वेद को ईश्वरकृत मानने के लिए तय्यार नहीं है। यहाँ वेदों को भी उसी प्रकार मानवों की रचना माना जाता है जिस प्रकार काव्य लौकिक कवियों की रचनाएँ होते हैं। जब मारसान् आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तो वे अपने साथ एक धर्म लाए थे जिसमें देवता प्रमुख रूप से प्रकृति की शक्तियाँ थीं जिन को पुरुषधार में वर्णित किया गया है। उन में से कुछ देवता जैसे धी, मायारोषय काल व हँ, आग्-अग्नि, जैसे मित्र, वरुण और इन्द्र भारत में ईरानी कल व हँ। वे अपने साथ 'अग्नि और सोम को पृथग लाए। जैसा ऋग्वेद और अथर्ववेद की तुलना से सुस्पष्ट हो जाता है। इन ऋषियों को बहुवचन छन्दों में धार्मिक कविताएँ रचने की कला भी ज्ञात थी। इन प्राचीन सूक्तों का लक्ष्य यहि (यशवेदी पर गिरा घास) पर रक्ते हुए सोम रस और तेषां हुए धी की अग्नि में आहुतियाँ देते हुए स्तुतियों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना था। भारत में आर्यों का आक्रमण के प्राचीनतम काल में प्राप्त और ऋग्वेदसंहिता में सुगन्धित सूक्त सामान्यतः ऋषियों ने कुलों में पैतृक परम्परा से रचे गए हैं। इन को ऋषियों ने अपने-अपने कुलों में मौखिक रट कर सुगन्धित रक्खा है। इस काल में मन्त्रों को हेम्बबद्ध नहीं किया गया। बरों में प्रचलित इन सूक्तों को एकत्र किया गया और इस में कुछ अन्य सूक्तों को जोड़ कर इन्हें ऋक्संहिता का प्रारम्भिक रूप दे दिया गया। श्री मैकडोनल

१८६३ ई० पृ० २—३ में किया है और इन में विरोध दिखाने का प्रयास किया है। यह प्रयास ठनने वैदिक दर्शन के घोर अज्ञान का परिचय देता है। इस दर्शन में प्राण, गायत्री, अष्टष्ट, काल, पुरुष, वाक्—सब ब्रह्म के नाम हैं। दूसरे मत के समर्थक आर्यसमाजियों की युक्तियाँ पहले मत पर ही केन्द्रित हो जाती हैं।

के विचार में आधुनिक ऋक्संहिता का रूप ब्राह्मणमाल की समाप्ति पर उपनिषदों से पूर्व ६०० ई० पू० में बन चुका था। इस संहिता के सम्पादकों ने कुछ स्थलों पर त्वरसन्धि के नियम लगाए जिन्हें फारण कुछ स्थलों पर छन्दाभग हो गया है। इस प्रकार छन्द-काल में मन्त्र रचे गए और कुछ काल पश्चात् संहिता के रूप में सकलित हुए ३६।

४३—इस मत की पुष्टि मन्त्रों के अपने लेखों में भी होती है। यहाँ पर अनक बार मन्त्रकार, मन्त्रवृत्, प्रादि पदों का प्रयोग हुआ है। सर्वानुक्रमणी ने भी ऋषि का लक्षण—मन्त्र का रचना करने वाला किया है—यस्य वाक्य स ऋषिः१ साथ ही प्रत्येक मन्त्र का ऋषि भी सर्वानुक्रमणी ने बताया है। बहुत से मन्त्रों में उन के रचयिता ऋषियों के नामों का प्रयोग हुआ है। निरुक्त और ब्राह्मण-ग्रन्थों के कुछ लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋषियों को मन्त्र-रचयिता मानते हों ३७। मन्त्रों में प्राचीन और नवीन ऋषियों और मन्त्रों का भी कथन आया है ३८।

४४—ऋग्वेद के साथ सम्बद्ध ऋषियों की स्थिति बड़ी विचित्र है। मन्त्रों में वर्णित ऋषिनामों और उन से सम्बन्धित इतिहास आदि में कोई सामञ्जस्य नहीं है, उन वर्णनों का पुराणों और सर्वानुक्रमणी आदि के विवरणों से स्पष्ट विरोध और विषमता दृष्टिपथ में आते हैं ३९। अनेक मन्त्रों के ऋषि और देवता एक ही पद हैं। बहुत से

३६—देखो मे०—वैरा० भूमिका, तथा वैदिक साहित्य के इतिहास-८४

३७—देखो कर्मानन्द वैदिक ऋषिवाद, सूरजभान, ऋग्वेद के बनाने वाले ऋषि आदि।

३८—यथा ऋ० १।१।२ आदि।

३९—मुद्गेर कुमार गुप्त, ऋग्वेद में इतिहास नहीं है (ऋग्वेद का धर्म में सङ्कलित)।

मन्त्रों में ऋषिनाम विशेषण के रूप में आए हैं। एक ही मन्त्र के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न ऋषि दिए गए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त में बहुत से ऋषिनामों के निर्वचन और आकविध अर्थ दिए गए हैं। यहाँ पर वेदमन्त्रों का स्रोत ब्रह्म को माना है, ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में व्यावर्तन के नियम से कुछ ऋषिनाम परस्पर में पर्यायवाची सिद्ध होते हैं। यजुर्वेद में ऋषिपद 'वदम त्राय' का भी घोटक मालूम पड़ता है। कुछ मन्त्रों के प्रयोगों में कयव छावि को व्यक्ति मानना सम्भव नहीं है। इन पदों को ऋषि न माने जाने का अवशेष माघवभट्ट के कयवासः के माध्य में उपलब्ध होता है। कुछ ऋषि नामों का यजुर्वेद में पौरुषाधिक पदों के रूप में प्रयोग हुआ है ४०। ऐसी स्थिति में मन्त्रकृत् और ब्रह्मकृत् आदि पदों से कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं ४१।

४५—अतः वेदमन्त्रों को उन से सम्बद्ध ऋषियों की रचना अथवा दर्शन मानना सम्भव नहीं। ये पद उन के अर्थों को बताने वाली सहाय्यें ही हैं। प्राचीनकाल में भी ऋषिज्ञान को वेदार्थज्ञान के लिए परम आवश्यक समझा जाता था, परन्तु कालान्तर में उस का वास्तविक स्वरूप बिस्मृत हो गया। यह सब कुछ होते हुए भी आज विकासवाद के युग में वेदमन्त्रों को ईश्वररचित मानना, बुद्धिगम्य नहीं है, भले ही हम उन के वास्तविक रचयिताओं को ज्ञानन में समर्थ हो या नहीं।

४०—विस्तार के लिए देखो—मुर्षीर कुमार गुप्त, सयर्म श्री ३ दी ऋग्वेद, देवर मैसेज एण्ड प्रिन्सीपल (और उस का हिन्दी अनुवाद), चेम्पाप ४७८—१२४ ५।१२—२४, १७।२८—६६ आदि।

४१—सीएसडी० में श्रीरजन् एण्ड आयरसिप ऑफ दी हिमज ऑफ दी ऋग्वेद देखें।

वेदमन्त्रों की सुरक्षा के साधन

४६—वदमन्त्रों की रचना और सम्मेलन के शोध बाद ही उन का सुरक्षा के लिए विलक्षण उपाय किए गए और उन को बिना किसी अक्षर के नाश, विकार और प्रक्षेप के सुरक्षित रखा गया ।

४७—वद का कण्ठस्थ करना सरल काम नहीं था, पर तु इस को प्राचीन काल में अनिवार्य किया गया । इसी से आज तक वद सुरक्षित चला आ रहा है । यह परम्परा अब क्षाय हो रही है जिस से वेद की अक्षररूप रक्षा को आधान पहुँचना स्वाभाविक है । हस्तलेखों और मुद्रित प्रतियों को नष्ट किया जा सकता है, उन में लेख या छापे का भूलें रह जाते हैं, पर तु कण्ठस्थ करने वालों में यह दोष नहीं रहता है । यद्यपि दुष्ट मनुष्य वहाँ भी विचार उपन कर सकता है, पर तु अन्य बौद्धों का उस पर अक्रूर रहता है ।

४८—इस के साथ ही कुछ पाठों की रचना का गड । इन में सब न पहला पदपाठ कहलाता है । पदपाठ में सब पदों को अलग अलग स्वतन्त्र रूप में पढ़ा गया है, प्रत्येक पदों के आगे हात और समास के पूर्व और उत्तर पदों तथा प्रज्ञात प्रत्यय आदि के बीच में अवग्रह लगा कर उन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । इस वेद का सर्वप्रथम व्याख्यान कहा जा सकता है । यह विशेषता अन्य पाठों में उपलब्ध नहीं । आनकल शाकल्य का पदपाठ ही सर्वत्र उपलब्ध होता है । रात्रण का भी पदपाठ मिला है । गार्ग्य के सामवेद के पदपाठ में लगभग सभी पदों में अवग्रह लगाया गया है यथा मिऽजम् । अऽन्य । अन्ऽये । च द्रऽमम् । सुऽऊर्यस्य ४५ । ये दोनों अभी मुद्रित नहीं हुए हैं । अंतिम

४९—भगवद्गुप्त, बौद्ध बाल्मिक का हातहास, भाग २ (२), प्रथम संस्करण से साभार सङ्ग्रहित ।

पदपाठ म्वा० देवा० न मरम्बती का मिलता है । यह शाकल्य के पदपाठ से समान है परन्तु उस से अनेक स्थानों पर भिन्न है ४३ । भाष्यकर्ता ने अनेक बार शाकल्य के पदपाठ में अपना मतभेद प्रकाशित किया है । ऋग्वेद में छै स ३ ४४ ऐसे भी हैं जिन का पदपाठ यहाँ मिलता है । उन्हें ज्यों का त्यों ही पदपाठ में रख दिया गया है ।

४६—इस के पश्चात् क्रमपाठ रनाया गया । इस में पदपाठ का प्रत्येक पद का शास्त्र पता जाता है—अपने में पहले और अपने से अगले पद के साथ—क व, खग, गघ । यह पदपाठ से समान प्राचान है । इस में पश्चात् चटापाठ का रचना का गह । इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और फिर सीधा भी पता जाता है—कव, खक, कख, खग, गख, गग, गघ । इस की चरम सीमा घनपाठ में मिलती है । इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों का उलटा और तीन पदों का मिलान कर सीधा और उलटा भी पता जाता है । इस का क्रम यह है—कख, खक, कखग, गखक, कखग खग, गख, खगघ, घगख, खगघ आदि ।

४०—प्रागुक्तशाल्यो में शिक्षा, व्याकरण और छन्दों का विवरण मिलता है । इन में अरना अपनी संहिताओं का पदपाठ भी मिलता है । ऋग्वेद का प्रागुक्तशाल्य शीनक की प्रणीत है ।

४३—देवा ५भा० १६, सोएसडा०—दी पदपाठ और दी ऋग्वेद ऐज़ गिवन माह दयानन्द ।

४४—ऋ० ७।५६।१०, १०।१०।१ १०।१० १६०।१—३। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि शाकल्य ईह प्रचित्त मानते थे । परन्तु सम्भव है कि शाकल्य ने इन के अथ एस समझे हैं । इन में पदपाठ एक से अधिक प्रकार बनता है । वमा० ६ ।

५१—अनुक्रमणियों में सूक्तों के प्रथम मन्त्र की प्रतीक, ऋषि, देवता, छन्द और मन्त्रसंख्या दी गई हैं। मन्त्रों से सम्बंधित आख्यान भी दिए गए हैं। ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी कात्यायन की रचना है। शौनक के गृह्यदेवता को भी इसी श्रेणी का कहना उचित होगा।

ऋग्वेद में विकार

५२—इन साधनों की सहायता से ऋग्वेद के मन्त्रों और पदों का इस प्रामाणिकता के साथ सुगन्धित रक्खा गया है कि इतने वर्षों में अब तक उन में कोई विकार—नाश, परिवर्तन और प्रक्षेप—नहीं आने पाया है। इस प्रकार अन्यत्र कहीं भी ग्रन्थों की सुरक्षा नहीं की गई है।

५३—इतना ज्ञान पर भी बहुत से आधुनिक विद्वानों ने वेद के पाठों में विकार माना है और अनेक बार उन में परिवर्तन करने का सुझाव दिया है। श्री राजवाड़े ने एक लेख में इस प्रकार के कतिपय स्थल एकत्रित किए हैं। प० विश्वबन्धु ने अपने बम्बई प्राच्यसम्मेलन के वैदिक विभाग के सभापतिभाषण में भी इस प्रकार के कतिपय स्थलों का विवेचन किया है। बम्बई के पादरी श्री एन्टलर तो समस्त वेदमन्त्रों को विज्ञान मान कर उन का मूल पाठ बनाने में सलग्न हैं। इन विद्वानों ने अनेक स्थलों पर यह सोचने का प्रयास नहा किमा है कि जहाँ वे अर्थ का आधार पर पाठ में विकार मानते हैं वहाँ अर्थान्तर भी हो सकता है जो न उन्हें सूझ रहा है, न आधुनिक नियमों की कसीटी पर पूरा उतर रहा है ४५।

४५—इस का एक उदाहरण अ० १।१।३ का शमोप्यात् पाठ है, जिसे सायण ने समोप्यात् कर दिया है, और आधुनिक विद्वान् उसे ग्रहण करते हैं। यह पाठ परिवर्तन नितान्त अनावश्यक है। देवो सुधीर कुमार गुप्त, एन्थू इण्टर-प्रेटेशन ओफ अ० १।१।३।

ऋग्वेद का विस्तार और विभाजन

५४—विस्तार—ऋग्वेद में कुल १०१७ सूक्त हैं । यदि इन में प्रत्येक मण्डल में प्राति ग्यारह बालस्त्रिय सूक्तों को भा जोड़ लिया जाए तो कुल सूक्त १०२८ हो जाते हैं । इन में लगभग १०६०० मन्त्र हैं । इस प्रकार माना यतः एक सूक्त में दस मन्त्रों का परिमाण आता है । सर म छोट सूक्त में एक मन्त्र और सब से बड़े में ५८ मन्त्र हैं । अकल ऋग्वेद का विस्तार इतना है जितना होमर के समस्त उपलब्ध काव्यों का ।

५५—विभाजन—ऋग्वेद का दो प्रकार से विभाजन किया गया है । पहला अष्टक विभाग है । यह अपेक्षाकृत अधिक अर्थात्ता है और पूर्णतः यान्त्रिक है । इस में समस्त मन्त्रों को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है । ये सब लगभग बराबर ही हैं । प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में पाँच या छह मन्त्रों वाले कुछ वर्ग मिलते हैं । स्वाध्याय और प्रवचन का हाट से यह विभाजन विशेष उपयोगी है ।

५६—दूसरे विभाजन में समस्त मन्त्रों का दस मण्डलों या खण्डों (मै०—मन्त्रों श०—चन्द्रों) में बाँटा है । प्रत्येक मण्डल के सूक्तों में और सूक्तों को मन्त्रों में विभक्त किया गया है । प्रत्येक मण्डल में सूक्तों का संख्या और सूक्तों में मन्त्रों का संख्या विभिन्न है, इस में अष्टक विभाग के समान कोई स्थिर नियम लक्षित नहीं होता है । यह विभाजन प्राचीन और ऐतिहासिक है । इस से ऋग्वेद के मूल सचित्रात्मक का परिचय मिलता है । उद्धरण आदि देने में यह विभाजन अधिक सुगम पड़ता है । अतः इस विभाजन का प्रमाण आदि देने में पुष्कल प्रयोग किया जाता है ।

ऋग्वेद की संघटना

५७ प्राचीन भारतीय परम्परा केवल ऋग्वेद के मन्त्रा को ही नहीं प्रत्युत चारों महिताओं के मन्त्रा को एक ही समय में ईश्वर में प्रादुर्भूत हुआ मानती है। इस दृष्टि से सब वेद सुगम्बद्ध हैं और उन में देश और काल विषयक कोई पौर्वापय नहीं है।

५८ विकासवाद के सिद्धान्तानुसार वेद को विभिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ मानते हैं। यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रों की रचना में पौर्वापय रहा होगा। इस की पुष्टि सर्वानुक्रमणियाँ में पदस्त वैदिक ऋषियों की वंशावली से होती है। वहाँ एक ऋषि की मन्त्र पुत्र पौत्र प्रपौत्र आदि की रचनाएँ मिलती हैं जिन्हें किसी भी अवस्था में समकालीन नहीं माना जा सकता।

५९ वनमण्डल—इस आधार पर आधुनिक विद्वानों ने ऋग्वेद के दो भाग किये हैं—१ मूल भाग—यह ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इस में मण्डल २ में ७ आते हैं। २ अर्वाचीन भाग—इस में मण्डल १, ८, ९ और १० आते हैं। मूल भाग के मण्डल स्वरूप में एक समान हैं। दोनों परम्परा के अनुसार उन में से प्रत्येक मण्डल के सूक्त एक ही वंश के ऋषियों की रचनाएँ हैं जो उन्हें अपनी महिता के रूप में सुरक्षित रखते रहे।

६० इस परम्परा की पुष्टि अन्तर्माक्षिया—सूक्तों में वर्णित ऋषिनामों और प्रत्येक मण्डल में प्रयुक्त ध्रुवना से होती है। इन वनमण्डलों में संघटना एक जैसी है—इन में से प्रत्येक मण्डल विभिन्न देवताओं के सूक्तों के वर्गों में समान रूप से विभक्त किया गया है। दूसरी ओर मण्डल १, ८ और १० में यह विनियमता नहीं मिलती है। उन के वर्गों में सूक्त विभिन्न वंशों के ऋषियों की रचनाएँ हैं और वे किसी एक एक वंश के ऋषियों द्वारा नहीं रचे गये हैं। मण्डल ९ अन्य मण्डलों में इस लिए विनिष्ठ है कि इस

में समस्त मन्त्र सोम देवता के ही हैं और इस के वर्ग छन्द की समानता पर बनाये गये हैं।

६१ वशमण्डलो में सूक्ता का प्रथम वर्ग नियमित रूप से अग्नि देवता का है, और दूसरा इन्द्र का और शेष अन्य अप्रधान देवताओं के हैं। इन देवताओं के वर्गों में सूक्त मन्त्रों की घटती हुई सख्या के अनुसार रखे गये हैं। उदाहरण के लिए दूसरे मण्डल के अग्निदेवता का दस सूक्तों का वर्ग १६ मन्त्रों वाले सूक्त से प्रारम्भ होता है और ६ मन्त्रों वाले सूक्त पर समाप्त होता है। अगला वर्ग २१ मन्त्रों के सूक्त से प्रारम्भ हो कर ४ मन्त्रों के सूक्त पर समाप्त हो जाता है। यदि प्रक्षेपों की सम्भावना को ध्यान में रखा जाये तो वशमण्डला का क्रम बहती हुई सूक्तसख्या के अनुसार रखा गया है। इस प्रकार मण्डल २ में ४३, मण्डल ३ में ६२, मण्डल ६ में ७५ और मण्डल ७ में १०४ सूक्त हैं। वशमण्डला की एकरूपता से ऐसी प्रबल सम्भावना होती है कि ये मण्डल ऋग्वेद के मूल आधार थे जा पीछे की मिलावटों से जापुनिक रूप को प्राप्त हो गये।

६२ अर्धाधीन मण्डल—मूल मण्डला के साथ पीछे से सम्बद्ध मण्डला में प्रथम मण्डल का उत्तरार्द्ध (सूक्त ५१ से अन्त तक) सब से पहले जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस में नौ वर्ग हैं जो प्रत्येक अल्प-अलग ऋषि की रचना हैं। इस भाग में वशमण्डलो की अन्त मघटना का अपनाया गया है।

६३ मण्डल ८ प्रमुख रूप से वाण्व वंशजा की रचना होने से वशमण्डला के सदृश है। परन्तु यह अग्नि के सूक्तों से प्रारम्भ नहीं होती है। साथ ही इस में प्रगाथ छन्द का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इस में सूक्तसख्या सप्तम मण्डल से कम है। इस से प्रतीत होता है कि यह वशमण्डला के समुदाय का अंग नहीं था। सीमित साम्य के कारण यह अन्त में सब से पहले जोड़ा गया होगा।

६४ प्रथम मण्डल का पूर्वार्द्ध (सूक्त १-५०) अनेक अंशों में मण्डल ८ के समान है। अधिकांश सूक्ता के रचयिता वाण्व ऋषि रहे प्रतीत होते

है। उन का प्रिय छंद प्रगाथ भी यहां उपलब्ध हाता है। दाता संग्रहा में बहुत से समान भाव और पदसमूह भी मिलते हैं। इन दोनों सूक्तममुदाया में कोई-न-कोई भद अवश्य रहा होगा। परन्तु अभी तक यह नहा दिखाया जा सका है कि ये दोनों मूल भाग के आदि और अंत में जोड़ जा कर अलग-अलग कैसे हो गए।

६५ पहले आठ मण्डला के एक सूत्र में वंश जान पर मण्डल ९ भी जोड़ दिया गया। इस में समस्त सूक्त पावमान संग्रह के हैं। वंशमण्डलो में सोम का एक भी सूक्त नहीं है। प्रथम और अष्टम दोनों मण्डला में मिला कर सोम देवता के सामांय पक्ष के वर्णन करनेवाले केवल तीन ही सूक्त पाये जाते हैं। मण्डल ९ के सूक्ता के रचयिता वे ही ऋषि हैं जो वंशमण्डला के क्यों कि उस में वंशमण्डलो के ऋषिया के प्रिय ध्रुवक मिलते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि प्रथम से अष्टम तक के सब मण्डला में पावमान सोम के समस्त मन्त्र निकाल कर मण्डल ९ में १-८ मण्डला की संहिता के अन्त में रख दिये गए। इस प्रकार यह उदगाता के लिए एक पथक संहिता बन गयी। गप भाग होता से सम्बंधित रह गया।

६६ मण्डल ९ की शैली और सूक्ता में गूढ़ आख्यायिक निदर्शा से ज्ञात होता है कि यह मण्डल पहले आठों के प्रीष्ट की रचना है। इस के कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन हो सकते हैं जितना भारत ईराना काल से प्राप्त सोमयज्ञ।

६७ इस मण्डल को दो भागों में रखा जा सकता है। प्रथम भाग (सूक्त १-६०) में सूक्ता का संवलन मन्त्रों की घटती संख्या का अनुसार किया गया है। प्रथम सूक्त में दस मन्त्र हैं और अन्तिम में कुल चार। दूसरे भाग (सूक्त ६१-११४) में यह क्रम नहीं मिलता है। इस में बहुत लम्बे-लम्बे सूक्त भी हैं यथा—एक में ४८ और दूसरे में ५८ मन्त्र हैं। दाता भागों में छंद का भी भद है। प्रथम भाग में केवल चार मन्त्र

को छाड़ कर शेष सब गायत्री छन्द में हैं, दूसरे भाग में अथ छन्दा—जगती, त्रिष्टुप् आदि के वर्गों का प्राधान्य है।

६८ दशम मण्डल सब से अन्त में जोड़ा गया। इसकी भाषा और विषय में मालूम होना है कि यह शेष मण्डल से पीछे की रचना है। इस के ऋषि शेष मण्डल के ऋषियों से परिचित हैं। इस के सहिता के अन्त में होने और सूक्ता की संख्या प्रथम मण्डल के सूक्ता के बराबर (अथान्-१९१) होने से यह मुख्यतः है कि यह सहिता का परिशिष्ट है। इस के सूक्ता की रचना अनेकों ऋषियों ने की है, जिन में कुछ ऋषि वही हैं जो अन्य मण्डल में भी आये हैं, परन्तु परम्परागत मन्त्रों का ऋषिवर्णन बहुत से सूक्ता के सम्बन्ध में किसी मूल्य का नहीं है।

६९ दशम मण्डल का स्वरूप सामान्यतः अर्वाचीन होने पर भी इस में कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन और काव्यमय हैं जितने सामान्य रूप से अन्य मण्डल के। इन सूक्तों का दशम मण्डल में इस लिए स्थान मिला हो सकता है कि शेष मण्डल के संकलन के समय वे किसी कारण से उन में सम्मिलित न किये जा सके।

७० दशम मण्डल की भाषा में प्राचीन रूप और पदों का प्रयोग क्षीण हो रहा है और नये पद और अर्थों का विकास हो रहा है।

७१ विषय की दृष्टि से दशम मण्डल में अमृत भावा दाशनिक विवेचनों और अथर्ववेद के क्षेत्र से सम्बन्धित जादू-टाने आदि की प्रवृत्ति और वर्णन प्रमुख हैं।

७२ परन्तु ऋग्वेद के विभाजन की ये युक्तियाँ पूर्णतः सबल नहीं। इन का प्रमुख आधार मयानुक्रमणिया में वर्णित मन्त्रों से सम्बन्धित और बहुधा मन्त्रों में प्रयुक्त तथाकथित ऋषिनामों का उन का रचयिता मानना है। यह मान्यता निर्भ्रान्त और निर्विवाद नहीं। ये ऋषिनाम रचयिताओं के

नहीं हैं प्रत्युत उन उन सूक्तों के अर्थों की प्रकाशक मन्नाएँ हैं।^१ जब ऋषि और उन के वंश ही नहीं रहे तब वगमण्डला और प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियों के अनुसार मण्डलों के पौवापय या सूक्तों के वर्गीकरण की कल्पना का प्रमग ही नहीं रहता।

७३ वगमण्डला में और अन्य मण्डला में देवताओं के सूक्तवर्गों में भेद भी आपातन ही है। ऋग्वेद का देवतावाद एक सन का विस्तार है। वहाँ अग्नि और इन्द्र तथा अन्य देवताओं में मूलतः भेद नहीं है। बाह्य दृष्टि (आधिभौतिक और आधिदैविक) से अग्नि एक अग्नि नहीं वह विविध विषयों की समान गुणों के आधार पर एक परिभाषा है। यही इन्द्र आदि पदों की स्थिति है।^२ वैसे भी देवताओं के आधार पर वर्गीकरण में भी कुछ अपवाद हैं। मण्डल २ में सूक्त ३ में कई देवताओं के मन्त्र हैं। इसी प्रकार ऋ० ३।२ दशानन अग्नि का ३।४८ आदि बहुदेवताक है। ऋ ३।३३ इन्द्रसूक्त नहीं है। ऋ ४।३।१ इन्द्र का है अग्नि का महा ऋ ४।१८।१ ५-७ वामदेव के हैं इन्द्र के नहीं। ऐसी ही अव्यवस्था मण्डल ५ ६ और ७ में पायी जाती है।

७४ सूक्तों के सकलन में वगमण्डला में भी सबत्र एक सा नियम नहीं है। उदाहरण के लिए ऋ ३।२७-२९ के अग्निवर्गीय सूक्तों में मन्त्रमध्या

४६ देखो सुधीर कुमार गुप्त—ऋग्वेद के ऋषि और उन का दान वेदवाणी ७।१-२ विकृतिवेदाङ्क १९५८ सीयम ओफ दी ऋग्वेद दैयर मैमैज एण्ड फिलोसोफी तथा वेमाप० ४५ ६ १७ के ऋषि विषयक सङ्ग्रह। इस से ही श्री मैक्डोनाल्ड आदि विद्वानों के सर्वानुमतिपूर्ण विषयों के ऋषिवर्णन पर अविश्वाम का बाद भी निराधार हो जाता है। ४७ इस देवतावाद के वर्णन के लिए देखो सुधीर कुमार गुप्त महर्षि दयानन्द और देवता शब्द का अर्थ, ऋग्वेद का धर्म, वेमाप० ४५ ६ १७ के देवताविषयक अनुच्छेद।

ऊन से १५,६ और १६ है। ऋ ४।१५, ६।१५; १६ और ऋ. ७।१५-१७ आदि इन नियम के अपवाद हैं। स्वयं मण्डलों का क्रम भी मन्त्रमह्या के अनुसार नहीं है। यथा मण्डल २ में ४३, ३ में ६२, ४ में ५८, ५ में ८७, ६ में ७५ और ७ में १०४ सूक्त हैं।

७५ मण्डल ९ में प्रथम आठ मण्डलों के सोमसूक्तों का मग्नह मानना और माय ही इसे पहले आठ मण्डलों के पीछे रखा हुआ मानना परस्पर विरोधी विचार हैं।

७६. द्वागम मण्डल और वसामण्डलों में विषय और भाव की दृष्टि से न मौलिक भेद है, न बहुत अधिक। ऋग्वेद के पद विविष्ट भावों की परिचायिका परिभाषाएँ हैं जिन के ठीक-ठीक भाव को जानने की समस्या आज विद्वद्गण के सामने है। इस रचना में विष्णु और इन्द्र सूक्तों की टिप्पणियों से यह स्पष्ट हो जायगा कि ये सूक्त भी दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत हैं। ऋ ४।४२।४, ६ आदि में ऋ १०।१२५ के वाक्सूक्त की शैली ही अपनायी गयी है। प्रतीयमान जादू-टोनें आदि के सदृश विषय यत्र-तत्र ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिल जाते हैं।

७७ भाषा के आकार पर पौर्वापर्य निश्चय करना सम्भव नहीं। कतिपय व्याकरण के रूप जो द्वागम मण्डल में प्रचुर हैं और अर्वाचीन माने जाते हैं वसामण्डलों में भी मिलते हैं। पदप्रयोग विषयानुसूल करने में ही अर्थ-सम्पत्ति मिट्ट होगी है।

७८. अतः ऋग्वेद में मण्डलों या उन के अंगों में पौर्वापर्य का निर्णय उपलब्ध सामग्री के आधार पर करना सम्भव नहीं। हो सकता है समस्त महिमा का सकलत्र किमी एक हो व्यक्ति ने किया हो और विभिन्न दृष्टियों में सूक्तों की सघटना की हो।

ऋग्वेद की भाषा

७९. ऋग्वेद की भाषा आधुनिक लौकिक मस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप है जो पाणिनि के नियमा में जकड़ी जा कर आधुनिक रूप को प्राप्त हो गयी है। इस में लौकिक मस्कृत की अपेक्षा रूपभङ्गत् बहुत अधिक है। मज्ञाआ और मजंनामा के विभक्तियों में रूपा की प्रचुरता है। इस में शतृ घानच् और क्तवान् पदों के रूप अनेकविध हैं। क्रियापदा में यह रूप समृद्धि मविशेष लक्षित हान्ती है क्या कि ऋग्वेद में लेट् का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह लोकभाषा में बिल्कुल भी नहीं है। ऋग्वेद में तुमुन् के लिए लगभग एक दर्जन प्रत्यय हैं जिन में से लाभभाषा में केवल एक तुमुन् ही गेय बचा है।

८०. ऋग्वेद की भाषा में उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वरों का प्रयोग किया जाता है। यह स्वर मगीतात्मक है और वण्ठध्वनि के आरोहावरोह पर निर्भर है। लौकिक भाषा में ये स्वर नहीं लगाये जाते हैं। यहाँ स्वर अब परिमाणात्मक रह गया है ध्वन्यात्मक नहीं है। इस का भाषा विज्ञान में कोई मूल्य नहीं है अब कि वैदिक स्वर भाषाविज्ञान में और शब्दा का अर्थ करने में महान् सहायक है।

८१. ऋग्वेद की सन्धि लौकिक सन्धि में अधिक स्वाभाविक और प्राचीनतर है। पदान्ति न और च छ या त, थ के बीच में झ या म् का आगम ऋग्वेद में अल्पतर है और ऐतिहासिक है परन्तु लौकिक भाषा में यह आगम अनिवार्य हो गया है। पदान्ति ए और ओ के पश्चात् ऋग्वेद में 'अ' बहुधा दत्ता रहता है पूर्व रूप नहीं होना है। लोक में यह अ' नियमित रूप से पदान्ति ए, ओ में एरूप हो जाता है।

ऋग्वेद में छन्दःप्रयोग

८२. सम्पूर्ण ऋग्वेद पद्यात्मक है। प्रत्येक मन्त्र में सामान्यतः चार पाद होते हैं, परन्तु कुछ मन्त्र तीन पादों और पाँच पादों के भी हैं। कुछ ऋचाएँ

छिपदा भी माना गया है यथा ऋ ५।२४।१। परन्तु इस स्थाना पर दा-दा मन्त्रा को मिला कर एकत्र भी माना गया है। ऋग्वेद में और आग सवत्र पाद (१०—एक चौथाई भाग) छंदा का इकाई है। इन पादों में बहुधा आठ ग्यारह या बारह वण (एक बार में वाला जान वाला स्वर या स्वरमहित व्यञ्जन) हान है। सामान्यतः मन्त्र के सब पाद एक समान होते हैं परन्तु कुछ विरल प्रयुक्त छन्दा में विभिन्न परिमाण के पादा का सम्मिश्रण पाया जाता है। ऋग्वेद में लगभग पंद्रह छंदा का प्रयोग पाया जाता है। इनमें से सात छन्दा का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इनमें भी त्रिष्टुभ गायत्री और जगती प्रमुख हैं और ऋग्वेद के लगभग दस तिहाई भाग में प्रयुक्त हुए हैं। त्रिष्टुभ में ग्यारह-ग्यारह वणों के चार पाद गायत्री में आठ आठ वणों के तीन पाद और जगता में बारह-बारह वणों के चार पाद हान हैं। प्रत्यक्ष छन्द में चार चार वण वृद्धान से अथ छन्द बन जाता है। कई बार छन्दा में वण-मस्या कम पड़ जाता है। उस अवस्था में सन्धिच्छेद कर क अभ्यस्तस्या पूरी की जाती है। यथा विष्णानु क वीषाणि प्र धाचम में वीषाणि का वीरि आणि पठन में छन्द का पूर्ति का जाता है। ऋग्वेदप्रतिपाद्य के मत में अथ के अनुसार सन्धिच्छेद और पादा का अलग-पाछ कर क मन्त्रा के छन्दा को बदला भी जा सकता है।^१

८३ वैदिक छंदा में परिमाणात्मक लय पायी जाता है जिसमें लघु और गुरु का बारी-बारा से प्रयोग किया गया है। पाद के अन्तिम चार या पांच वणों का क्रम नियमित है। ग्यारह बारह तथा अधिक वणों वाले पादा

४८ इस कथन में छंदा के अवान्तर भन्ना प्रजापत्य देव और तामुर छंदा के विभागा का सम्मिलित नही किया गया है। प्रातिपाद्य के एवविध छन्दाविस्तार का आधार मन्त्रा के अनकविध अथ है। इस विस्तार में छन्दा नामा को वेदाध्यापक सजाएँ माना गया है। दखा वभाष० १०।९-३१। ४९ वही १०।१४।

में यति भी होनी है। डा० मैकडोनल का विचार है कि इस प्रकार वैदिक छन्द अवैस्ता के छन्दा और लौकिक सस्कृत के छन्दा के बीच के ठहरत हैं क्या कि अवैस्ता में केवल वणसख्या होती है और लौकिक सस्कृत में उन का परिमाण भी नियत होता है। परन्तु इन दोनों ही प्रकार के छन्दा में वैदिक छन्दा की-सी अर्थानुमारी योजना का अभाव पाया जाता है। अतिच्छन्दस विच्छन्दस भूरिक् विराट् और निचृत् छन्दों के लक्षणा से ज्ञात होता है कि परम्परा वैदिक छन्दा में वणसख्या पर ही विशेष बल देती है वणपरिमाण पर नहीं।

८४ सामान्यत एक सूक्त में एक ही छन्द के मन्त्र मिलते हैं। कई बार सूक्तममाप्ति पर एक मन्त्र भिन्न छन्द में भी पाया जाता है। कुछ सूक्ता में दो या तीन-तीन मन्त्रों के जोड़े भी पाये जाते हैं। युग्म मन्त्रों में भिन्न-भिन्न छन्दों के दो मन्त्र एक साथ प्रयुक्त होते हैं। इन्हें प्रगाप कहते हैं। मण्डल ८ में इन का बाहुल्य है। तीन मन्त्रों के जोड़ा—तृचा में तीनों मन्त्रों का छन्द एक ही होता है। बहुधा यह छन्द गायत्री हाता है।

ऋग्वेद का धर्म

८५ आधुनिकों के मत में ऋग्वेद के धर्म में विभिन्न देवताओं की पूजा प्रचलित है। ये देवता मुख्य रूप से प्राकृतिक दृश्यों की पुरुषविध कल्पनाएँ हैं। वैदिक सूक्त इन्हीं देवताओं में की गई प्रार्थनाएँ हैं। इन के साथ सोम और घी की आहुतियाँ देनी भी अभीष्ट रही हैं। इस प्रकार यह धर्म बहुदेवता-वादी है और ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीनतम सूक्ता में विश्वदेवतावादी (विराट्वादी) लक्षित होता है।

८६ ऋग्वेद में देवताओं की संख्या सामान्यतः ३३ बतायी गयी है। इन्हें तीन क्षेत्रों—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में विभक्त किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में ग्यारह ग्यारह देवता हैं। इन में मरुत् आदि सप्त देवताओं की गणना नहीं की गयी है।

८७ देवताओं का जन्म भी हुआ है। उनका आदि है। परन्तु वे सब एक साथ उत्पन्न नहीं हुए। ऋग्वेद में प्राचीन देवताओं का उल्लेख आया है। कुछ देवताओं को अया की सतति बनाया गया है। सोम पी कर अथवा अग्नि और सविता ने सोम पी कर देवता अमर बन हैं। अतः पहले वे अमर नहीं—मर्त्य मानव थे।

८८ देवताओं को पुरुषविध रूप में वर्णित किया गया है। उनके शरीर के अंगों का बहुत वर्णन किया गया है। य अंग विविध प्राकृतिक द्रव्यों आदि के रूपकात्मक वर्णन हैं। उदाहरण के लिए सूर्य की किरणें ही उस के हाथ हैं और अग्नि की ज्वालाएँ ही उस की जिह्वा और शरीर के अंग हैं। कुछ देवता विगपत इन्द्र योधा के रूप में वर्णित किए गए हैं। अग्नि और बहस्पति आदि कतिपय देवता पुरोहित बताए गए हैं। सब देवताओं के रथ हैं जिन्हें घोड़े खींचते हैं। कुछ देवताओं के रथों को अज अथवा अय पशु चलाते हैं। इन वाहनों से देवता आकाश में से हात हुए यज्ञ पर आते हैं। देवताओं और मनुष्यों का प्रिय भोजन दूध भी अन्न भोजन वकरिया और घाम्य पशुओं का मांस है। य वस्तुएँ देवताओं को यज्ञ में आहुति देकर भेंट दी जाती हैं। यज्ञ में आहुत पदार्थों को अग्नि स्वर्ग में देवताओं तक पहुँचा देता है। देवता स्वयं भी यज्ञ वेदी पर बिछी घास पर आकर इन आहुतियों को ग्रहण करते हैं। देवताओं का इष्ट और मादक पद पन्थाय सोमलता का रस है। विष्णु का उच्चतम पद—नीमराष्ट्रलोक—स्वर्ग देवताओं का निवास स्थान है। यहाँ वे सोमरस से तृप्त होकर आनन्द का जीवन बिताते हैं।

८९ देवताओं के गुण अनन्तविध हैं। इनमें सर्वप्रधान उन की शक्ति है। वे महान् और परम शक्तिशाली हैं। वे प्रकृति को नियम में रखते हैं और पाप की गुप्त शक्तियों को नष्ट करते हैं। उनका शासन समस्त प्राणियों पर है। कोई उन के नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। वे प्राणियों की आयु का माप करते हैं। मानव की कामनाएँ उन की कृपा से ही पूर्ण होती

है। देवता दयालु हैं और मनुष्यों को समृद्धि देने हैं। केवल एक रत्न ही ऐसा देवता है जो उग्र स्वभाव है और हिंसा की प्रवृत्ति भी रखता है। देवता मत्स्य हैं। किमी को धाखा नहीं देने हैं। वे सच्चे और धार्मिकों के रक्षक हैं परन्तु पाप और अपराध को क्षमा नहीं करते हैं।

९० देवताओं का स्वरूप अभी पूरा विकसित नहीं हुआ है। अभी उन में से प्राकृतिक तत्त्वा का निराकरण नहीं किया गया है। अतः उन का स्वरूप अनिश्चित और ध्वनित्व से विहीन है। कई बार दो देवताओं की एक साथ स्तुति की जाती है और उन्हें समान गुणा से विभूषित किया जाता है। इन में से कुछ गुण तो एक देवता से हैं। सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे के क्षेत्र से बाह्य होते हैं। इस प्रकार समस्त देवताओं को समस्त गुणा से विभूषित करने की प्रवृत्ति से एक दूसरे से तादात्म्य की भावना सुगम हो गयी। ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीन मन्त्रों में यह भावना व्यक्त भी हुई है। परन्तु यह एकेस्वरवाद में कभी विकसित न हो सकी। एक सूक्त में अग्नि और प्रजापति का समस्त देवताओं और प्रकृति से तादात्म्य बताया गया है।

देवताओं का वर्गीकरण

९१ समस्त देवताओं को तीन वर्गों में बाटा जा सकता है—१ स्थानीय, २ अन्तरिक्षस्थानीय और पृथिवीस्थानीय। प्रथम वर्ग में द्यौ, वरुण मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, अश्विनी, उपस् और गन्धी आते हैं। इन्द्र, अगस्त्य, रुद्र, वसु, पर्जन्य और आप अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं तथा पृथिवी, अग्नि और गोम पृथिवीस्थानीय।

प्रमुख देवता

९२ ऋग्वेद में ये देवता बहुत प्रमुख हैं और अनेक सूक्तों के देवता हैं। वरुण ऋत का देवता है। वह पापियों को अपने पास में बाँधता है।

मित्र मूय सवितृ और पूषन मूय के विभिन्न पक्ष हैं। उपस् उपाकाल की दबता है। यह प्रतिदिन आती है। पुरानी हाने हुए भी सदा नयी है। इस के आन पर यज्ञ हात है। यह मूय की पत्नी और पुत्री है। इन्द्र ऋग्वेद में युद्ध का देवता है। यह वृत्र आदि राक्षसा का वध करता है और सात सिंधुआ को मुक्त करता है। रुद्र मुखशरव भी है और पापिया को दण्ड देने वाला भी। यही आगे चल कर पीराणिव गिव में परिवर्तित हो गया है। मभवत इन के वर्णना के मूल में श्यम्बक-नारिकेल का पुरुषविध रूप भी है।" अग्नि का भौतिक रूप ही प्रमुख रूप में वर्णित हुआ है। यह विद्युत् और मूय के रूप में भी आती है। यह हविया को देवताआ के पास ले जाती है और यज्ञ का साधन है। माम एक रत्ना का रस है। जिसे पी कर इन्द्र अनुरा का जीतता है और दबता अमर हो जान है।

अल्पस्तुत देवता

९३ कुछ अल्पस्तुत देवता भी हैं। वित्त विद्युत् प्रतीत होता है। यह भारत ईरानी काल का है। मातरित्वा स्वर्ग से मनुष्या के लिए अग्नि लाता है। पार्थिव देवताआ में सिंधु विपास और झुतुत्री आदि नदियाँ आती हैं। इन में सरस्वती सबप्रमुख है और बहुधा वर्णित हुई है। ऋग्वेद के समस्त वर्णना में इस का नदीभाव कभी भी विस्मृत नहा हुआ है।

अमूर्त देवता

९४ विचारा के विकास के साथ कतिपय अमूर्त देवताआ का ना कल्पना की गयी। ऐसे कुछ देवताओं प्रमुख देवताआ के विसर्पण मात्र हैं जो कालांतर में देवता के रूप में नष्टित कर लिये गये। धाता पृथिवी,

५० देखो मुधीरकुमार गुप्त काकोनट (श्यम्बक इन दी ऋग्वेद) इज दी ओरिजन ऑफ गिव कल्च, आइजावा० (म) १९४८।

द्युलोक, चन्द्र और सूर्य को बनाता है। विधातृ, धर्तृ, ऋतृ और नेतृ का वर्णन अल्पात्यन्त्य है। त्वष्टा का अनेक बार वर्णन हुआ है, परन्तु उस का कोई सूक्त नहीं है। वह देवशिन्धी है। उस ने इन्द्र का वज्र और चमस बनाया है। वह सोम का रक्षक और सरण्यु का पिता है। प्रजापति समार का रक्षयिता है। विश्वकर्म्मन और हिरण्यगर्भ भी पहले विशेषण थे। 'वस्मै देवाय हविषा विधेम—विम देव की हम हवि से मेवा करे' से हिरण्यगर्भ के विशेषण में देवता रूप में विकसित होने का क्रम लक्षित होता है। वृहस्पति ही ऐसा देवता है जो ऋग्वेद के प्राचीन और अर्वाचीन क्षात्रा भागा में पाया जाता है।

९५ अमूर्त देवताओं के दूसरे वर्ग में भाववाचक सत्ताओं में बने देवता आते हैं। इत में मनुष्य 'मोक्ष', श्रद्धा, अनुमति '(देवा की) अनुकूलता', अरमति 'भक्ति', मनुष्य, अमुनीति और निरुद्धति आते हैं। मनु के दो सूक्त हैं और श्रद्धा का एक।

देवियाँ

९६ एक अन्य अमूर्त देवता अदिति की ऋग्वेद में सर्वत्र ही स्तुति मिलती है। इस का प्रमुख कर्म भौतिक यन्त्रणाओं और नैतिक पापा से मुक्त करना है। वह आदित्या की जननी है। दिति का केवल तीन ही बार नाम आया है।

९७ ऋग्वेद में देवियों का स्थान अति गौण है। इन में सर्वप्रमुख उषा है। फिर सरस्वती का स्थान आता है। इस के दो सूक्त हैं। वाक् का एक सूक्त है। पृथिवी, रानी और अरण्यानी के भी एक-एक सूक्त हैं। देवताओं की पत्नियों अम्नायी, इन्द्राणी और वरुणाणी आदि का व्यक्तित्व नगण्य है। उन का कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता।

युग्म देवता

१८ ऋग्वेद के धर्म की एक विनयता युग्म देवता है। य द्वा द्व समास से व्यक्त किया गया है। दाना ही देवतानाम द्विवचन में प्रयुक्त होते हैं और एक दूसरे के वाचक हैं। इनमें सब से अधिक स्तुति मित्रावरुणा की हुई है। द्यावापृथिवी का नाम बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। यह जाइ भायारापीय युग का है।

संघ देवता

९९ देवताओं के कुछ अनिश्चित से समूह भी मिलते हैं। इन का किसी विनय देवता से सम्बन्ध होता है। मरुता का सम्बन्ध इन्द्र से है। इन की मरुता सर्वाधिक है। आदित्या का नायक वर्ण है। य सदैव अदिति के साथ वर्णित किया गया है। इन का मरुता सात है जो मातृपुत्र का गिनकर आठ हो जाती है। एक मात्र में इन में सद्यः का नाम आया है—मित्र अयमन भग वरुण दक्ष अग। सम्भवतः सूर्य सातवा था। धनुष का न व्यक्तित्व स्पष्ट है न उन की मरुता बतायी गयी है। इन का प्रमुख इन्द्र है। विश्व देवा—की स्तुति बहुत से सूत्रों में की गयी है। यद्यपि नाम से यह सब देवताओं का छोटा सा माहूम होता है परन्तु अनेक बार इन की स्तुति अन्य देवताओं तथा धनु और आदित्या के साथ की गयी है।

लघु देवता

१०० ऊँचे और प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ छोटी देवता भी हैं। इन में प्रमुख ऋभु हैं जिन के ग्यारह सूत्र हैं। य अपन कोण्ड से ही देवता बन है। इन्होंने त्वष्टा के एक चर्म को चार बनाया। इन्होंने अपने माता पिता को पुन जवान बनाया। इन के इन दोनों और अन्य तीन चर्मकारों के अनेकविध व्याख्यान दिए गए हैं।

१०१ ऋग्वेद में अप्सराओं का भी बहुधा उल्लेख मिलता है। य गंधर्वपत्निया हैं। य एक से अधिक हैं परन्तु नाम केवल उवसी का ही आया है। गंधर्व एक ही है जो अन्तरिक्ष में रहता है दिव्य सोम की रक्षा करता है और जलों से सम्बन्धित है।

रक्षक देवता

१०२ कुछ देवता रक्षक स्तर के भी हैं। वास्तापति घरा का देवता है। वह घर में संप्रवेश का दाता रोगों को दूर करनेवाला रक्षक और समृद्धि देने वाला है। क्षत्रस्य पति पशु और घाड़ देता है और कुशलक्षम का स्वामी है। सीता से खता और समृद्ध कामनाएँ प्रदान करने के लिए प्रापना की गयी है।

पाथिय वस्तु—देवता रूप में

१०३ प्रकृति के प्रमुख दृष्ट्या के अतिरिक्त भूमि के विभिन्न स्वरूप और कृत्रिम पदार्थ भी देवता रूप में कल्पित किये गए हैं। इन में पर्वता को अथ देवताओं या अथ प्राकृतिक वस्तुओं के साथ वर्णित किया गया है। ओषधियों का एक सूक्त है। य रोगों को दूर करती है। यन का वस्तुओं में मूल बर्हि द्वारों देवी प्राचाण उखल और मुमठ है। प्राचाण अमर अजर अलोक से भी अधिक समर्थ और राक्षसों तथा नागों के अपहन्ता है। वम इषु इषुधि धनुष और डाल की भी एक सूक्त में स्तुति की गयी है।

असुर

१०४ ऋग्वेद में वर्णित असुर दो प्रकार के हैं—१ ऊँचे और शक्तिशाली असुर देवताओं के आकाशीय शत्रु हैं। इन्हें असुर बहुत कम कहा गया है। दाम या दस्यु से इन्हें बहुधा पुकारा गया है। यह नाम सामान्यतः भारत के आदि निवासियों के माने जाते हैं। ऋग्वेद में देवासुर युद्ध नियमित

रूप से एक देवता और एक असुर में ही होता है यथा इन्द्र और वज्र का संग्राम। वज्र का ही सर्वाधिक उल्लेख आया है। उसकी माता दानु है। दूसरा शक्तिशाली असुर बल है। यह गौआ की अपवा (गुफा वाग) का ही पुरुषविध रूप है। यह इस अपवा की रक्षा करता है। अगिरस आदि अपने सहायका के साथ इन्द्र इस बाड़ से गायों को निवालता है। इन्द्र के अय गन्धु राक्षसा में से अबुद एक दुष्ट हिंसक गन्धु है। इन्द्र इस की गौआ को छीन लेता है। विवस्वत् त्वष्टा का पुत्र है। इस के तीन सिर हैं। त्रित और इन्द्र इसे मार कर इस की गौओं को छान गेते हैं। स्वर्भानु सूर्य को निगलन वाला है। कुछ अय दास भी हैं जिन्हें इन्द्र मारता है। राक्षसा का एक बग पणि इन्द्र का प्रमुख गन्धु है। इन्द्र सरमा (एक कुतिया) की सहायता से उन के स्थान को खोज कर उस में गौआ को छुड़ता है।

१०५ दूसरे बग में पार्थिव राक्षस आते हैं। ये मनुष्या के गन्धु हैं। इन का सामान्य नाम रक्षस है। इन का वधन सामान्यतः किसी दैवता के साथ आता है। यह दैवता इन राक्षसा का वध करता है। यानु और यानु धान अनेक बार राक्षसा के साथ वर्णित हुए हैं। सम्भवतः ये गुप्तचर हैं। विष्णु का ऋग्वेद में वधन विरल है।

१०६ लगभग तीस सूक्ता में देवताओं की स्तुति आदि से भिन्न विषय मिलते हैं। इन में से लगभग एक दर्जन सूक्तों में जादू और तांत्रिक क्रियाओं का वर्णन है। ये अधिकांश रूप में दशममण्डल तक ही सीमित हैं। इन के विषय गन्धुन (२।४२-४३) विषापनयन (१।१९१) रोग की निवृत्ति (१०।१६३) बच्चों के हिंसक राक्षस के नाश (१०।१६२) गन्धुआ के लिए दुर्भाविना (१०।१६६) यामपत्नीमदन (१०।१४५) हैं। कुछ सूक्ता में अम्पूरक्षा (१०।५८ ६०) निद्रा लाना (५।५५) या सन्तति प्राप्त करना (१०।१८३) का वर्णन है। एक सूक्त (७।१०३) में मण्डूका की स्तुति है जो बपा के लिए की जाती है।

ऋषि दयानन्द का मत

१०७ इस के विपरीत ऋषि दयानन्द ने बड़े जोरदार शब्दा में इस बात की घोषणा की है कि ऋग्वेदीय धर्म एक ईश्वर की पूजा का विधायक है।^१ अपने वेदभाष्या में इन्होंने अग्नि^२ सविता^३ इन्द्र,^४ और वरुण^५ आदि पदा का परमात्मा अर्थ किया है। अपने भाष्या में आप ने कहा भी यह भाव नहीं झलकने दिया है कि वेद में अग्नि देवता, सूर्य देवता, वर्षा देवता, आधी देवता आदि किन्हीं देवताओं की सत्ता है। आप ने अग्नि और सूर्य का अर्थ क्रम से आग,^६ और सूरज,^७ अवश्य किया है परन्तु उन का अर्थ प्रकाश और गरमी पहुँचाने वाले आग और सूर्य ही हैं। मत्सर में भिन्न २ ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को उन का समुचित प्रयोग करना चाहिए।^८ उदाहरणतः भौतिक अग्नि के या बिजली के रूप में कल्लो में आग का प्रयोग अतुलनीय सम्पत्ति प्रदान कर सकता है।^९ मूत्र की किरणों का प्रयोग स्वास्थ्य और रोगों से मुक्ति प्रदान कर सकता है और उस का कल्लो आदि में प्रयोग समृद्ध बना देता है।^{१०}

५१ सत्यार्थ प्रकाश (कलकत्ता) पृ० ११४, भूमिका पृ० ५४, ८३।
 ५२ ऋ० १।७।१ २, आदि। ५३ ऋ० १।२२।८। ५४ ऋ० १।३।५।
 ५५ ऋ० १।२५।३। ५६ ऋ० १।५०।३। ५७ ऋ० १।२३।१७ ५८ ऋ० १।१२।७ ८। ५९ ऋ० १।१२।१, ७, ८, इत्यादि। ६० ऋ० १।२।६। इत्यादि।

१९-१-१९५२ के ट्रिब्यून के अंक में पृ० ५, कॉलम ५ (नीचे) पर एक समाचार के अनुसार डा० ५० जवाहरलाल नेहरू ने १७-१-१९५२ को बनारस में एक सभा में भाषण देते हुए कहा था कि भारत में कुछ वैज्ञानिकों ने भोजन पकाने के लिए सूर्य की शक्ति के प्रयोग का उपाय खोज निकाला है और ५० जी ने स्वयं इस प्रकार पके हुए भोजन का स्वाद चखा है।

निवेदन

१०८ ऊपर के लेखा से मुस्पष्ट है कि आधुनिक सम्प्रदाय का विचार है कि वेदा में अनका देवी-देवताओं की उपासना का विधान है।^{११} आचार्य मैनसमूलर के विचार में वैदिक धर्म हिनोथीयिस्टिक (Henothcistic) है।^{१२} उन के मत से यद्यपि ऋग्वेद में अनका देवताओं को मायता दा गयी है तो भी प्रत्येक ऋषि अन्या से स्वतंत्र रूप में वर्णित किया गया है। पूजा या प्रायता के समय एकमात्र वह देवता ही भक्त के मन में उपस्थित होता है। कोई भी देवता अपन पद में ऊँचा या नीचा नहीं माना गया है। पूजा के समय प्रत्येक देवता को सत्य परम और एकमात्र देवता (as a real divinity as supreme and absolute) के रूप में अनुभव किया जाता है।^१

१०९ प्रा० मकडानल इस विषयता का वैदिक कविता की अतिशय योक्ति की प्रवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

११० आपका यह बलान मानना पडा है कि वैदिक देवताओं का पुरपा कार परिच्छिन्नात्मक वर्णन और चरित्रगत व्यक्तित्व से हीन है। वे अभी किञ्चित् मात्र ही विवर्णित हुए हैं। उन के व्यावृत्त गुण बहुत कम हैं। परन्तु उन में कान्ति शक्ति परोपकारिता और बुद्धिमत्ता आदि बहुत से समान गुण पाये जाते हैं। अनका बार एक देवता की विषयताओं को दूसरे देवता में भी बढ़ाया गया है। इस से एक देवता के दूसरे देवता से तादात्म्य सम्बन्ध की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यह प्रवृत्ति ऋग्वेद में बहुधा पायी जाती है (उदाहरणाय देखो ऋ० ५।३।१)। अपि च-अग्निपूजक ब्राह्मणा की दृष्टि

६१ देसा गुप्त विचार्यों की टर्मिनोलोजी आफ वेदाज एण्ड पूरा पियन स्वास्ज ५ ४९।

६२ लैंकचर आनदी साइन्स ओफ रिग्वेजियन ५० १४१-१४२।

६३ एंगियट सस्कृत लिट्रचर ५० ५३३।

में परम महत्वाली देवता अग्नि के स्वरूप पृथ्वी पर भिन्न भिन्न अग्नियों के रूपों में उस की विविध अभिव्यक्तियों बिजली में प्राप्त अतिरिक्तस्थ अग्नि तथा सूर्य में प्राप्त दिव्य अग्नि उस के अग्र रूपा—जिन का वैदिक ऋषि पहेलियों में उल्लिखित करने की बड़ी रुचि रखने हैं—पर रहस्यपूर्ण विचार से यही प्रतीति होती है कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। यह भाव ऋग्वेद के अर्वाचीन सूक्ता के अनका वाक्या में पाया जाता है। ऐसे कथन बताने हैं कि ऋग्वेद काठ की समाप्ति तक ऋषियों के बहुदेवतावाद में एकेश्वरवाद का पुट लग चुका था।^१

१११ श्री मैक्समूलर और श्री मैन्डोनल द्वारा दिये गये वैदिक धर्म के विवरण की सामालोचनात्मक परीक्षा तथा विश्लेषण यह व्यक्त कर देते हैं कि तथाकथित वैदिक देवताओं की कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उन का एक दूसरे से तादात्म्य है तथा उन में गुणा की समानता है। अतः ऋग्वेद के देवताओं के नाम एक ही दिव्यशक्ति परमात्मा के ही विविध नाम हैं। वही शक्ति ऋषियों की भिन्न भिन्न रुचियों तथा भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण इन विभिन्न नामों से आकारित की गयी है। इस तथ्य को इन दोनों विद्वानों ने समझ लिया है। अतः उन्होंने घोषणा की है कि देवताओं की इस सारभूत एकता अथवा वैदिक धर्म की एकेश्वरवादिता का ऋषियों द्वारा स्पष्ट उल्लेख शिष्ट सूक्तों की अपेक्षा अर्वाचीन है।

११२ ऋ० १।१६४ का दशम अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में दीक्षतमा औचध्य न ऋ० १०।११४ का अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में वैरूप सधिन न ऋ० ५।३।१ का भूम की तीसरी पीढ़ी में वसुधुत आत्रय न किया था। भूम का पुत्र अत्रि अनक बार अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में भरद्वाज का समकालीन वर्णित किया गया है। अतः भूम अङ्गिरा की दूसरी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि वह अङ्गिरा का समकालीन ही हो। इस

प्रकार वसुधैव कुटुम्बकम् की चौथी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। अतः समस्त देवताओं की एकता के स्पष्ट रूप से सूचक और प्रख्यापक ये तीन सूक्त और उन के मन्त्र बहुत से उन सूक्तों से प्राचीनतर और कुछ के सम-कालीन हैं जिन में प्राकृतिक दृष्टि के पुरुषाकार का वर्णन माना जाता है। अतः वैदिक धर्म न बहुदेवतावादी (Polytheistic) हो सकता है न विश्वदेवतावादी (Pantheistic) और न सात्त्विक देवतावादी (Henotheistic)। इस की एकेश्वरवादिता।

‘मर्वे वेदा यत्पद्मामनन्ति तपामि च सर्वाणि यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद संप्रद्रेण त्रयीम्योमित्येतत् ॥’

आदि उपनिषद् वाक्या, वेदान्त सूत्र (१ १ ४) तथा अग्न्य प्रश्ना में जोरदार शब्दों में प्रतिपादित की गयी है। इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि पद परमात्मा वही भिन्न भिन्न रूप हैं—इस तथ्य के घोषक मन्त्र चारा संहिताओं में बिखरे पड़े हैं। इस सम्बन्ध में विद्वामित्र के पिता गांधी वैदिक द्वारा दृष्ट ४० ३।२०।३, अग्निरा की चपाखी पीढ़ी के भृगु के गांधी लिये

६५ कठोप० २।१५, स्वतास्वतरोप० ५।६ भी देखें।

६६ ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का विषय ‘विद्वाम् कथं वर्तन्’ दिया है परन्तु उन का भाष्य बताता है कि यहाँ पर परमात्मा का वर्णन है। ‘देव’ पद का हिन्दी अनुवाद असुद्ध है। ‘पृष्टवन्वा’ के मन्त्र और हिन्दी अनुवाद में विषमता प्रतीत होती है। मेरी प्रवृत्ति भाषाओं की भावना के आधार पर हिन्दी अनुवाद को ही शुद्ध मानने की ओर है। प्रकरण के उपरोक्त पद ‘भूरीणि अमृतस्य नाम’ हैं।

६७ इस मन्त्र का दयानन्द का व्याख्यान इस से भिन्न है। यह अनुवाद प्रिन्सिप आदि आधुनिक विद्वानों का है, जो प्रकृत कथन को प्रमाणित कर रहा है।

हुए पोते गृत्तमद द्वारा दृष्ट ऋ० २।१।३^६, य० ३२।१, और अवे० १३।४ (१)।४, ५ का विशेषतया उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद के दाना मन्त्र ऋग्वेद काल के प्राचीनतम युग के हैं।

११३ प्रो० बेट्टी हाइमेन्न का विचार है कि प्रारम्भिक विचारक की दृष्टि को पदार्थों की एकता की अपेक्षा उन की विषमता ही अधिक प्रभावित करती है। वह प्राकृतिक दृष्यों में परम सत्ता का अनुमान नहीं कर सकता। ऋग्वेदीय धर्म यद्यपि कुछ विकसित हो चुका है तो भी उस में एक में अधिक देवता है। तथाकथित ऋग्वेदीय एकेश्वरवादिता के मुख्य आधार ऋ० १।१६४।४६ में "दो, बल्कि तीन पद हैं जो विशेष रूप से हमारे मन में इस शिक्षा के लिए एकेश्वरवादी परिभाषा कल्पित करने के औचित्य पर मजबूत उत्पन्न कर देते हैं। प्रथम तो यहाँ पर देवता के किसी व्यक्तिगत रूप को नहीं वरन् नपुंसक सद् एवम् को वास्तविक आगर बनाया है। दूसरे हम इस बात की अपेक्षा नहीं कर सकते कि यहाँ पर यह माना गया है कि यह मुख्य आधार (नपुंसक) अनेक रूपों (बहुधा) में व्यक्त हुआ माना गया है। बाहे कुछ भी हो इसी कथन के द्वारा ऋग्वेदीय धर्म की स्थिति में प्रारम्भिक एकेश्वरवाद की भावना व्यावर्तित हो जाती है।"

११४ भाषावैज्ञानिकों तथा भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने यह माना है कि अपनी मातृभाषा के पदों को सीखने समय एक बालक पहले विषमता के स्पर्श का व्यावर्तन कर के भिन्न भिन्न पदार्थों के अन्तर्गत एकता के या समानता के सूत्रों को पकड़ता है। वह धीरे-धीरे ही दो पदार्थों के भेद को देख और समझ सकता है। इस लिए जब वह आग, सूर्य, दीपक अथवा अन्य किसी प्रकारमान वस्तु को देखता है तब वह उन सब के समान गुण—चमक या प्रकाश—से ही प्रभावित होता है। जब वह एक गाय, घाँसे या भैंस को

देवता है नव वह उन के समान गुण चतुष्पादत्व से ही प्रभावित होता है। प्रत्येक अवस्था में वह समान गुण वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक ही समझता है।

११५. इसी प्रकार मूर्ति के प्रारम्भ में मानव ने अग्नि, सूर्य और तारे आदि सभी पदार्थों के समान गुणों का ही अवलोकन किया हो सकता है। अपने ज्ञान की प्रथम अवस्था में उस ने उन्हें नियत रूप में समान माना होगा। पीछे जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा उस ने भिन्न-भिन्न पदार्थों में भेद किया होगा। इस प्रकार यह समानता ही है विषमता नहीं जिसने मानव के चिन्तन की प्रथम अवस्था में उस के मन को ग्रहण किया हो सकता है। सम्य और ससृष्ट लोको में भी जब दो पदार्थ किसी मनुष्य के सामने लाये जाते हैं तो उन की समानताएँ तुरन्त ही उस के मन को आकर्षित कर लेती हैं। भेद का भाव क्रम से पीछे आता है और आयाससाध्य होता है। यह ठीक है कि अधिकांश अवस्थाओं में यह आयास मनुष्य की अत्यन्त चेतना में होता है और इसी लिए प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले व्यक्ति को इस का सप्रमाण ज्ञान नहीं होता है। अतः सत्यकथित मूल-एकेश्वरवाद (Urmonotheism) ही प्राचीनतम प्रारम्भिक धर्म की एकमात्र आधारभूत विशेषता हो सकती है।

११६. ऋग्वेदवादी मानव सम्यता और ससृष्टि के मार्ग पर बहुत दूर पहुँच चुका था। उस ने मूल-एकेश्वरवाद, विश्वदेवतावाद तथा बहुदेवतावादों की अवस्थाओं को पार कर लिया था। उस ने प्रकृति के दृश्यों और पदार्थों की मारभूत एकता को मालूम कर लिया था उस ने इस एकता के स्वरूप पर भी विचार कर लिया था। वह उसे न पुष्टि कह सकता था न स्वीकृत और न ही नपुंसक किम्। ऋ० १।१६।४६ के 'सद् एकम्' में नपुंसक लिङ्ग इसी अनुभव का परिचायक है। यह भाव ऋ० ८।३०।१; श्वेताश्विनर उप० ४।३ और ५।१० में व्यक्त किया गया है। पानी और हवा के समान वह विभिन्न रूपों को धारण करता है। अतः वह प्रत्येक व्यक्ति को उस के अपने विचारों के अनुसार भिन्न रूप वाला प्रतीत होता है।

इस लिए विभिन्न व्यक्ति उस का भिन्न भिन्न ही वर्णन करते हैं । प्रो० हाइमेन को अनन्त रूपों में अभिव्यक्ति तथा भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न वर्णनों के परिच्छेदात्मक रूप को समझने में आति हुई है । मात्र में ऐसी कोई व्यञ्जना नहीं है जैसी श्री हाइमेन न निकाली है । इस का यथाथ भाव यही है कि परमात्मा एक केवल एक ही है । य मन्य ही है आ उस को भिन्न रूपों में वर्णित करते हैं ।

११७ आधुनिक विद्वानों के ऋग्वेदीय धर्म के सम्बन्ध में विचारों का आधार उन की यह कल्पना ही है कि ऋग्वेद काल में मनुष्य अभी बहुत ही अविकसित अवस्था में था । इस कल्पना ने ही वेद और अन्य ग्रन्थों की प्राचीन साहित्यिक परम्परा को प्रभत मात्मी को ठुकराया है । यही कल्पना यदिक ग्रन्थों में एकान्तत अविद्यामान देवताओं के नामों के अर्थ में अग्नि और सविता आदि के ज्ञान के लिए उत्तरदायी हैं । अतः इसे निराधार होने का कारण त्यागना और दयानन्द के विचारों को यथाथ मान कर ग्रहण करना ही उचित है ।

ऋग्वेद में लौकिक सामग्री

लौकिक सूक्त

११८ मुनिकल से कोई बीस सूक्तों में लौकिक (-धर्मेतर) सामग्री मिलती है। इन से भारत की प्राचीनतम सभ्यता पर महत्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। इन में से एक विवाह सूक्त (१०।८५) है, पाँच सूक्त (१०।१४-१८) मृत्युविषयक हैं। इन में से पहले चार में मृत्यु के देवताओं का वर्णन है और अन्तिम में शव के सत्कार के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

संवादसूक्त

११९ ऋग्वेद में अनिपय पौराणिक संवाद सूक्त भी आये हैं। इनमें वस्ता दिव्य प्राणी हैं (४।६२, १०।५१-५२, ८६, १०८)। दो सूक्तों में मानव ही पात्र हैं। पुरुरवस् और उर्वशी सूक्त (१०।९५) में उर्वशी के प्रेमी पुरुरवस् के आत्मपत विचार हैं। इस में उस कहानी का प्राचीनतम रूप है जिस को कालिदास ने विक्रमावशीय में गुम्फित किया है। एक सूक्त (१०।१०) यम और यमी का संवाद है, जिन्हें सामान्यतः मानव जाति के आदि माता-पिता और परस्पर में आई-वहूँ माना जाता है।^१ ये संवादसूक्त आगे आने वाले नाटकों का प्रादुर्भाव कहे जा सकते हैं।^२

६९ दस० ने इस में नियोग का वर्णन माना है। यमी उन के अनुसार यम की वहन नहीं है, बल्कि कोई अन्य स्त्री है।

७० देखो सुमीर बुमार गुप्त, सम्युक्त भारतीय का मुवाय इतिहास, १०।

नीतिश्रुत

१२० य मर्या म चार है। एक (१०।३४) म एक जुआरी का जुआ खेलने से बिगड़ी हुई अपनी दशा का चित्रण है। एक (९।११२) में मनुष्या की लक्ष्मी के पीछे दौड़ एक (१०।७१) म वाणी की प्रशंसा एक (१०।११७) म शुभ कर्मों की सराहना के चित्रण मिलते हैं।

पहेलियों

१२१ दो सूक्तों म पहेलिया हैं। एक (८।२९) में नामों को छिपा कर विभिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है। एक ५२ मंत्रों के सूक्त (१।१६४) में अन्तका समस्याएँ रखी गयी हैं जिन म से अधिकांश को डॉ० मैक्डोनाल्ड सूत्र से सम्बन्धित बताते हैं। इन का भाषा रहस्यात्मक और प्रतीक रूप है। उदाहरण के लिए एक समान वृक्ष पर स्थित दो पक्षी ईश्वर और जीव हैं और वृक्ष प्रकृति।

सृष्टिश्रुत

१२२ लगभग आध दर्जन सूक्ता म ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना का वर्णन है। नामदीय सूक्त (१०।१२९) में सृष्टि में पहले सत् और असत् की सत्ता का निपट कर अपन सामर्थ्य से विद्यमान एक सत्ता का वर्णन किया गया है। उसी में यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

दानस्तुतियों

१२३ कुछ सूक्त और मंत्रों म दानस्तुतिया हैं। य अब ऐतिहासिक है। इन से वैदिक ऋषिया और उन के आश्रयदाताओं की वशावस्तियों और कुछ जातियों के नामों का पता मिलता है। य वर्वाचीन है। इन में से अधिकांश प्रथम दशम और ८ वें मण्डल के परिशिष्ट भाग म उपलब्ध हानी हैं।

भौगोलिक सामग्री

१२४ ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक परिस्थितियाँ, विशेष रूप से नदी सूक्न में आधुनिक विद्वान् यह निष्कर्ष निकालने हैं कि ऋग्वेद की रचना के समय वैदिक आर्यजन पञ्जाब और पाकिस्तान के पश्चिमात्तर प्रान्ता के प्रदेश में रहते थे। वनस्पतियाँ और पशु-पक्षियों के निर्देश से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

१२५—परन्तु ऋग्वेद के ऋषि मरू से परिचित थे। इस का उल्लेख चौबे, पाँचवें और दसवें मण्डल में एक एक बार आया है। नदी सूक्न में वर्णन पूव से पश्चिम की ओर चलता है। यह गंगा में प्रारम्भ होता है। अतः मन्त्र रचनाकाल में आर्य उत्तरप्रदेश के बहुत से भाग में अवश्य स्थित थे। यदि पूर्व उद्धृत गी-१४ के अणुशक्ति के परीक्षण के निष्कर्षों को स्वीकार दिया जाए तो उस समय आर्य मध्यप्रदेश में भी फैल चुके थे। यह अन्तिम निष्कर्ष अभी अध्येतव्य है।

ऐतिहासिक सामग्री

१२६—ऋग्वेद में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से यह सुस्पष्ट होता है कि आर्य अभी भारत के आदि निवासियों से युद्ध में व्यस्त थे। वे अनेकों विजय प्राप्त कर चुके थे और विजेता के रूप में आगे बढ़ रहे थे। यद्यपि वे अनेकों जना में विभक्त थे परन्तु उन में धार्मिक और जातीय एकरता की भावना प्रबल थी। वे यही के निवासियों का यज्ञ न करने वाले, नास्तिक, कृष्ण वर्ण, अनार्य दास वण कहते थे।

१२७—परन्तु यह मन विचारणीय है। जैसा इस मन्त्र में इन्द्रसूक्न में दिखाया गया है कृष्ण और दास वण पारिभाषिक पद है और सृष्टि में पूव के "अन्धकार के सातक है। ऋग्वेद में दास हूँ नहीं हूँ वे आपों के

समान स्तर के ही प्राणी है। अतः इस समस्या पर पुनः नई दृष्टि से विचार आवश्यक है।

सामाजिक अवस्था

१२८—सूक्ता में इधर उधर बिखरी हुई सामग्री में तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर काफी प्रकाश प्राप्त होता है। वस मे पिता सर्वोपरि होता था। कुटुम्ब ही समाज की इकाई और आधार थे। स्त्रियों को बहुत स्वतन्त्रता और सम्मान प्राप्त थे। बहुत से अपराधों का भी क्षमण मिलता है जिन में पशुओं की चोरी प्रमुख थी। कण लेने की प्रथा भी थी। इस का एक कारण जुआ चलना भी था। वस्त्रा में एक उत्तरीय और एक अधोवस्त्र हाते थे। ये भंड की ऊन से बनाए जाने थे। बड़े नूपुर हार और बालियाँ पहनी जाती थी। लंग डाढ़ी-भच्छ रखते थे। कुछ उन्हें मुड़वाते भी थे। भोजन सामग्री में दूध थी अतः मक्खियाँ और फल प्रमुख थे। आधुनिक कनिषथ विद्वान् मानते हैं कि जब यज्ञ में पशुओं की बलि दी जाती थी तभी आप लोग मांस खाते थे। डा० मैक्डोनाल्ड का विचार है कि सामान्यतः यह मांस गौ का होता था क्या कि यज्ञ में बल्ल की ही बलि विशेष रूप में दी जाती थी। परन्तु यह विचार मान्य नहीं। वेद में कोई ऐसा स्थल नहीं जहाँ निर्विवाद रूप में ऐसी ध्वनि निकाली जा सके।^{१३} पशुयज्ञ आलंकारिक है।^{१४} हवन की सामग्री भी पशु है।

१२९—दो प्रकार की चराव भी बनाई जाती थी। सोम यज्ञ में

७२ देखो सुधीरकुमार गुप्त, ऋग्वेद में मांस भक्षण की समस्या, वेद सम्मेलन, खुरजा अधिवेशन (संक्षेप) तथा मीएमसी०, मीट ईटिंग इन दी ऋग्वेद।

७३ वेमाण० ६।

पिया जाता था परन्तु किमी अन्न से निकाली हुई शराब मुरा सामान्य अवसरा पर प्रयोग की जाती थी। परन्तु यह मत समीक्षणीय है। एक मात्र में (ऋ० १।११६।७) में मुरा शराब नहीं हो सकती यह अश्व के दाफ से निकाली जाती है। सेप स्थला पर इसे बुरी दृष्टि से देखा गया है (तु० कु० दुर्मदासो न मुरायाम्) ।

व्यवसाय

१३०—भारतीय आर्यों की एक प्रमुख व्यापृति युद्ध थी। यह युद्ध पैदल भी होता था और रथ पर भी। परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं है कि घोड़ा पर चढ़ कर भी युद्ध किया जाता था। सामान्य गत्त बान और धनुष थे। भाले और कुल्हाड़ी का भी प्रयोग किया जाता था।

१३१—जीवन का प्रधान आचार पशुपालन प्रतीत होता है। अनेक बार गौश्री की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। कृषि भी बहुत होती थी। खेता में हल चलाए जाते थे। इन में बैल जाते जाते थे। अन्न दरातिया स काटा जाता था और कूट कर साफ किया जाता था।

१३२—हिमक वन्य पशुआ की जाल में पकड़ा जाता था या धनुष और बान से मार दिया जाता था। इस में कुत्ता की भी सहायता ली जाती थी।

१३३—जौआ की पतवार से खेया जाता था। नौसा हो नदा तरण का प्रमुख साधन थी। वाणिज्य विनियम द्वारा होता था जिम का साधन गाय थी। मैक्डानल के विचार में कुछ व्यवसाय और शिल्प चलाएँ अविकसित रूप में थे। परन्तु ऋभुआ के रथ और चमम का निमाण, स्वप्ता और वृद्ध लक्षा के कार्यों की दृष्टि में यह कथन साय नहीं। रथकार और वडई एक ही हान थे। लुहार लाहे को भट्टी पर पिघलाते थे और इस से धातु के वनन आदि बनाने थे। चमार पशुआ के चमड़े का

साफ करते थे। स्त्रियाँ घास या मूज की चटाई बनाती थी। वे सीती और बुनती भी थी।

मनोविनोद

१३४—मनोविनोदों में रचा की दौड़ प्रमुख थी। सर्वप्रिय मामाजिक विनोद झूत बीड़ा था। नाच अधिकतर स्त्रियों में प्रचलित था। लोग संगीत में प्रेमी थे। वे दुन्दुभि, बीणा और बाण का प्रयोग करते थे। गाने का भी उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन

१३५—सामान्य रूप से ऋग्वेद सरल शैली में लिखा गया है। इसमें सामान्यतः समासा का अभाव है। जो समास हैं उन में दस से अधिक पद नहीं मिलते हैं। शब्दों का चुनाव कौशलपूर्ण है। समस्या-मन्त्रा को छोड़कर सामान्यतः भाव-प्रकाशन में किञ्चित्ता और दुर्बलता नहीं है। शब्दों से खिलवाड़ भी लक्षित नहीं होती है। ग्रन्थ की प्राचीनता की दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि छन्दों की रचना में महान् कौशल है और भाषा पर पूरा अधिकार है। इस ग्रन्थ की रचना का लक्ष्य यज्ञ में मन्त्रों को प्रयुक्त करना था। उस काल में याज्ञिक रीतियाँ बहुत सरल थी। वे पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। अतः इसके मन्त्रों में बहुश उपलब्ध याज्ञिक सूक्तों ने इस काव्य के सौदर्य को बिगाड़ दिया है। यह स्थिति आग्नि और साम के सूक्तों में सर्वश्रेष्ठ परिलक्षित होती है। यहाँ पर मिथ्या कल्पनाओं और अस्पष्ट रहस्यमय कथनों का प्रबल प्रभाव है। देवताओं की स्तुतियों में बहुत सुन्दर और उदात्त कल्पनाएँ मिलती हैं। यद्यपि विभिन्न सूक्तों में साहित्यिक गुणों में पर्याप्त भेद है, परन्तु सामान्यतः इस ग्रन्थ का साहित्यिक स्तर पर्याप्त ऊँचा है।

१३६—उपनिषद् सूक्त ऋग्वेद के सुन्दरतम अंगों में से हैं। ये अन्य साहित्यों की धार्मिक गीतियों से किसी अवस्था में अवर नहीं है। इन्द्रवृत्र

युद्ध के वणन में कतिपय चित्रमय रावक वणन मिलते हैं। मरुसूक्ता में स्तनपितृ विद्युत् और वज्रावात क दृश्या के वणन में आजस्वी कल्पनाएँ पाई जाती हैं। वरुण के नैतिक शासन के विविध रूपा के वणन में काय का उत्कृष्ट राग ओजप्रोत है। कुछ पौराणिक सवादसूक्त स्थिति का परम ललित भाषा में प्रस्तुत करते हैं यथा सरमा और पणिया तथा यम और यमो के सवादों में। अश्वसूक्त करुणकाव्य का सुन्दर रत्न है। एक सूक्त (१०।९८) में मृत्यु से सम्बन्धित भावा का प्रभावात्पादक और गम्भीर सौंदर्य से पूर्ण भाषा में व्यक्त किया गया है। नासदीय सूक्त से मुख्यतः हो जाता है कि गूढ दार्शनिक भाव भी उत्तम काव्य का विषय बन सकते हैं।

१३७—यद्यपि ऋग्वेद में पुनरावृत्ति बहुत है। वे ही शब्द और भाव पुन पुन आते हैं परन्तु उस में विरसता नहीं आन पाई है।

१३८—आधुनिक वेदाध्ययन ऋग्वेद को साहित्यिक काव्य मानता है। इस दृष्टि से यह मूल्यांकन ठीक है। परन्तु ऋग्वेद की भाषा गुड साहित्यिक है वह और कुछ नहीं ऐसा मानना कठिन है। ऋग्वेद के पुनरुक्त शब्दों का व्याख्यान गौरी पर अध्ययन बताता है कि वैदिक पद वृत्तिम हैं वे जान-बूझ कर रची गई परिभाषा है जिन को सामान्य काव्य के पदा के सदृश मानना कदाचित् पूणतः समीचीन न हो। परन्तु उन पदा की योजना इस विलक्षण ढंग में की गई है कि आपानत मात्र काय के पद मान्य पड़ते हैं और उन में काव्य का महान आनन्द भी प्राप्त होता है।

ऋग्वेद की व्याख्यान पद्धति

१३९—वद की व्याख्यापद्धति का समस्या वैदिक काल में ही जन्म ले चुकी प्रतीत होती है। आधुनिक अध्ययन में यह मान कर चला जाता है कि वेद ऋषिया की इसी प्रकार की रचनाएँ हैं जिन प्रकार की रचनाएँ कवियों के काव्य होते हैं। वे किसी एक अथ का अध्ययन कर कल्पित गये।

अतः उन का एक ही अर्थ मिलना और होता चाहिए। परन्तु अब ब्राह्मणा पर दृष्टि डालते हैं तो वहाँ अग्नि, इन्द्र आदि पदों के अनेक विध अर्थ दिए गये हैं। इन अर्थों में आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों के साथ-साथ ऐतिहासिक और नैस्वक्त आदि सिद्धान्तों का प्रयोग भी लक्षित होता है। शाखायन आरण्यक में चित्र देवानाम् मन्त्र के लगभग १३ दृष्टियों से अर्थों का उल्लेख किया है। निघण्टु में ऋदिक पदा का मवलन, विशेषतः पदनामों का मग्नह वेदाध्ययन में सहायता पहुँचाने के लिए किया गया। निस्वक्तकार ने बहुत से वेदार्थ के सम्प्रदाया-नैस्वक्त, ऐतिहासिक आख्यान समय पूर्व याज्ञिक याज्ञिक नैदान पारिव्राजक आर्प आदि का उल्लेख किया है। उन के मत भी दिए हैं और उन की आलोचना भी की है। माय ही औपमन्यव शाकटायन शाकपूति, स्थौलाष्टीय आदि अनेकों वेद व्याख्या-ताओं के नाम और उन के मतों का निर्रेश किया है। वहाँ कौत्स के नाम से मन्त्रों के अर्थहीन होने का विवाद प्रस्तुत कर मन्त्रों की सार्थकता और उन के अध्ययन की उपयोगिता बताई है। वेदाथ करन के लिए यास्क स्वन्द और वैकट माधव ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदाथ करने के नियम भी दिये हैं। वैकटमाधव ने तो वेदार्थ की समस्या को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर वेदाथ का एक नया सम्प्रदाय—ऐतिहासिक-पौराणिक चलाया।

१४०—पिछली शताब्दी में जब पश्चिमी विद्वानों को ऋग्वेद का परिचय मिला तो उन को उसे समझने में बड़ी कठिनाता हुई। उस से पूर्व वे मौखिक सस्कृत से परिचित थे। परन्तु यह भाषा वेद की भाषा से मान्य रहती हुई भी उस से अनेक बातों में भिन्न है। मौभाग्य से उन्हें सायणाचार्य का वेदभाष्य मिल गया और उस की सहायता से ऋग्वेद का अध्ययन चालू हो गया। पहले तो विद्वानों ने समझा कि सायण ने परम्परा के अनुसार अर्थ दिए हैं। अतः विल्सन आदि ने उस के आधार पर अपने अर्थ प्रस्तुत किए।

१४१—परन्तु ज़ीछ ही इस धारणा के विरुद्ध एक प्रतिव्रिया उत्पन्न हुई। इस प्रतिव्रिया के प्रमुख नायक रीथ थे। उन्होंने सायण के बहिष्कार

वा नारा लगाया । उन्हो ने दिखाया कि मायण और यास्क के अथ विश्वसनीय नहीं हैं क्या कि उन का प्रमुख आधार व्याकरण की प्रतिया हैं । सायण ब्रह्मकाल से बहुत दूर के युग में हुए । उन को अविच्छिन्न परम्परा नहीं मिली हो सकती । सायण ने यास्कीय निरुक्त को आधार और प्रमाण बनाकर अपना भाष्य रचा है परन्तु बहुत से मन्त्रा के अर्थ में यास्क स्वयं निश्चयात्मक रूप में नहीं लिख सके हैं और इस कारण वहाँ एक-एक पद के कई-कई अर्थ भी दिए हैं जैसे जातवेदम के पाच अर्थ । उस का कोई प्रामाणिक आधार नहीं था । उस ने बहुत से आचार्यों और वेदाय सम्प्रदायों को उद्धृत किया है जिन में परस्पर महान् मनभेद लक्षित होता है । नामस्थों का व्याख्यान औणवाम ने सत्य असत्य नहीं आग्रायण ने सत्य के प्रणता और स्वयं यास्क ने नामिका से उत्पन्न किया है । जब यास्क सदेह में होते हैं तो वे निवचन का आश्रय लेते हैं । उन के व्याख्यान बहुधा कल्पनामय हैं । यह अवश्य है कि सायण की अपेक्षा यास्क के पास वेदव्याख्यान के अधिक अच्छे और विश्वस्त साधन रहे होंगे ।

१४२—सायण ने अपने भाष्या में कई बार यास्क से भिन्न अर्थ किया है । इन दोनों में से एक ही गुढ़ हो सकता है । अतः या तो यास्क भूल करते हैं अथवा सायण ने परम्परा का उत्खनन किया है । सायण ने एक ही पद के एक ही स्थान पर अथवा विभिन्न स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न व्याख्यान दिए हैं—यथा अमुर दिव्य सत्ता के अर्थ शयुआ का नागक, शक्तिदायक जीवन देनेवाला अनिष्ट का नागक पुरोहित प्राणहारक जलप्रद जल निकाल लेनेवाला आदि दिए हैं ।

१४३—अब सायण और यास्क ऋग्वेद के बहुत से पदों के विषय में निश्चित ज्ञान से वञ्चित थे । इस कारण उन अर्थों को सम्भावना प्रकरण और समान वाक्यों से पुष्ट होकर ही स्वीकार किया जा सकता है ।

१४४—इस प्रकार सायण और यास्क के अर्थों का निरस्कार और

बहिष्कार कर के भाषाविज्ञान के प्रवक्त रौय ने आलोचनात्मक शैली का प्रतिपादन किया । उन्होने प्रकरण व्याकरण और निर्वचन की दृष्टि में रूप और भाव में समान समस्त पदा की सूक्ष्म तुलना रूप अन्त साक्षी पर अर्थनिर्णय का माग निकाला । इस में लौकिक सस्कृत में तुलना करते हुए वैदिक भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन और भाषाविज्ञान तथा अवैस्ता में प्राप्त सामग्री का प्रयोग स्वीकार किया । इस शैली के क्रियात्मक प्रयोग में रौय ने भारतीय परम्परा की साक्षियों की उपेक्षा की और निर्वचन पर विशेष बल दिया है ।

१४५—रौय की इस शैली के विरुद्ध भी एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई । पिण्डल, गण्डनर और मीग आदि ने वैदिक सूक्तों को विशुद्ध भारतीय माना और उन के अर्थ को प्रत्यग्वैदिक साहित्य और उस में वर्णित परम विकसित सस्कृति से सम्बद्ध किया ।

१४६—डॉ० मैकडोनल लिखते हैं कि आधुनिक समालोचनात्मक धर्माध्यायी का केवल वही सामग्री उपलब्ध नहीं है जो परम्परागत शैली के पण्डितों को मुलभर्थाजिम पर बहुशोध की तुलनात्मक और ऐतिहासिक शैली का प्रयोग कर सकता है, प्रत्युत आज उस के पास ऐसी बहुमूल्य सहायक सामग्री है जो प्राचीन परम्परा को उपलब्ध नहीं थी । यह सामग्री अवैस्ता, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक धर्म और पुराण (माइथोलॉजी) तथा नृवशास्त्र (ऐथ्नोलॉजी) है । यह आशा की जाती है कि आलोचनात्मक शैली और उपलब्ध समस्त सामग्री के निष्पक्ष प्रयोग से ऋग्वेद के अधिकांश भाग की अस्पष्टता और दुर्बोधता दूर हो जायेगी । ”

१४७—यह नई शैली कर्मप्रधान (ऑब्जेक्टिव) अभीष्ट है, परन्तु क्रियात्मक प्रयोग में यह व्यक्तित्व प्रधान है । वस्तुतः आधुनिक वेदाध्ययन

में व्यक्तित्व का वनिपय सीमाशा में मुग़ी छुट्टी है। इस में वैदिक विषया व व्याख्यान विद्वाना न अपनी अपनी भावनाशा के अनुस्य किए हैं। डा० आर० एन० दाण्कर न बहुत ठीक कहा है कि वदाध्ययन में विद्वाना न वद की उत्पत्ति और स्वरूप के सम्बध में धारणाशा के अनुस्य विभिन्न गीश्या का प्रयोग किया है। उदाहरण के गिए ए० वगने वद और व्याख्यान में अयोयाथय सम्बध मानत हैं। अरविदधीष का विचार है कि वेद रहस्यवादी और प्रतीका मक रचना है। जे० हौवेर वेद का अथ अवस्ता के रहस्यवाता और दानिक व्याख्यान द्वारा करना चाहत हैं। आ० कु० म्बामा वेताध्ययन में रहस्यवादी अध्ययन और समार की रहस्यवादी रचनाशा का पूषणान विगप आवयक समधन है। व इस अध्ययन में उपनिषदा का विगप महत्व स्वीकार करते हैं। डा० वा० ग० अग्रवाल अध्यामविद्या के अनुसार वेताथ करना चाहत हैं। डा० फनहसिह न दानिक पष्ठभूमि पर व्याख्यान किया है।

१४८—तुनात्मक भाषाविगान विभिन्न भाषा० भाषाशा में समान पदा की तुना कर क उन के समान भावा का अध्ययन करता है और उन समान भावा की मूठ अथ मान कर उन के आधार पर वदाय करता है। उदाहरण के गिए म० अग्नि गैटिन इग्निस म० वरण और ग्रीक आरेनाम के अथ त्रमग आग और वरण ही हा सकत हैं। परन्तु य निष्य तभी ययाय और प्रामाणिक हो सकत है जब मद दगा और जातिया में एक मी अनुकू प्राकृतिक धामिक सामाजिक राजनतिक दानिक—सक्षप में मासृनिक परिस्थितिया में भाषा का विकास हुआ हा। वह भाषा का विकास भा एक निश्चित स्तर पर निश्चित अवधि में निश्चित नियमा क अनुसार हुआ हा। अथवा भाषाविगान के समस्त निष्य कथनामात्र रहेंग। यदि व परम्परागत अर्थों का पुष् वग्न हैं ना ठीक अथवा वे त्याग्य ही हैं। परन्तु वस्तुस्थिति एमी नहीं है। भाषाशा क विकास का भौतिक और मासृनिक स्थितिया और गनिया समान नहा हैं। गता के अर्थों का

सम्पत्ति में ह्रास और वृद्धि होते हैं। नये अर्थों का विशेष परिस्थितियों में शब्द के प्रयोग से पूर्व एक भाषा में विकसित हो जाता है। दूसरी भाषा में वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हो नहीं हुईं तो वह अर्थ वहाँ मिल ही नहीं सकता।

१४९—भाषाविज्ञान का वेदार्थ विषय में प्रयोग भी बड़े अनुचित रूप में किया गया है। प्रो० राजवाड़े और डा० प्राणनाथ का भाषा विज्ञान के आधार पर वेदमन्त्रों का अर्थ उपहासास्पद ही कहा जा सकता है। भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर वेदमन्त्रों के मूलरूप के निर्माण का पादरी एस्टलर का प्रयास ठीक ऐसा ही है जैसा कि यह कहा जाए कि तुलसीदास और शेक्सपियर, कालिदास और गेटे आदि महाकवियों की भाषा में बहुत विकार आ गया है, उस को समझने के लिए उस का मूल स्वरूप निर्माण करना आवश्यक है।

१५०—वेद के पद परम कृत्रिम हैं। वे साहित्यिक नहीं। उन की परिभाषाएँ भाषाविज्ञान से नहीं सुलझ सकती। उदाहरण के लिए मृत्यु के अपैण्डिसाइटिस नामक रोग, क्षीर के फटे दूध वर पानी, मण्डूक के प्राण, मिथु के धमती, वरुण के वराम और सविता के यदुत् अथ भाषाविज्ञान देने में असमर्थ रहा है। वेद में 'एक पद का एक ही अर्थ हो सकता है' के भाषाविज्ञान के नियम ने बड़ी समस्याएँ उत्पन्न की हैं। इस का समझने के लिए वृथ पद के प्रयोगों पर दृष्टि डाली जा सकती है।

१५१—डा० वूलनर के मत में भाषाविज्ञान से और तुलनात्मक शैली पर अर्थ करने के लिए ज्योतिष, भूगर्भ विद्या, मानवविज्ञान प्रागितिहास, लोक साहित्य, पुरातत्त्व और भाषाशास्त्र के निष्कर्षों और उन के आधारों का साक्षात् ज्ञान परम अनिवार्य बताया है। परन्तु प्रयाग में इस सिद्धान्त का स्थान नगण्य है।

१५२—आधुनिक शैली में भारतीय परम्परा की धार उपेक्षा की जाती है। इस कारण मन्त्रों और पदों से असम्बद्ध भावा की उन में कल्पना की गई

है। वेद का इन्द्र ईरान का हस्तम बना दिया गया है, इन्द्रमेना नल और दमयन्ती को पुत्री और जिह्नदेवा लिङ्गपूजको का नाम।^{१५३}

१५३—डा० देगमुन्ड ने दिखाया है कि अर्वेस्ता^{१५४} प्रत्यर्वेदिक ग्रन्थ है। उस का कोई अंग अपरिचित रूप में—मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। पिछला ईरानी धर्म वेद में उपलब्ध भारतीय-ईरानी धर्म से भिन्न है। अर्वेस्ता में इसी पिछले धर्म और अर्वाचीन सामग्री की प्रधानता है। अर्वेस्ता की भाषा में भी अन्तर आ गया है। वैदिक देव और अमुर अर्वे० के दैत्य और अहुर से भिन्न ही कहे जा सकने हैं। वेद में अर्वेस्ता के अहुरमज्दा के समान कोई देवता नहीं है। यहाँ वैदिक छी और वरुण नहीं के बराबर हैं। अर्वेस्ता में कोई ऐमा वाक्य नहीं जो पूरा मन्त्र हो। भाषाविज्ञान के आधार पर विभिन्न कल्पनाओं को जन्म मिला है। जरधुष्ट्र जरदष्टि, जरद्-उष्ट्र, जरत्-स्वष्टा से सम्बद्ध किया गया है। वैसे भी अर्वेस्ता का अर्थ भी अनिश्चित प्रायः है। स्वयं अर्वेस्ता के अर्थ करने के लिए वेदाध्ययन आवश्यक माना गया है।

१५४—तुलनात्मक व्याख्यान, मानव और धर्म विज्ञानों का लक्ष्य सब धर्मों में समानता और विषमताओं के कारणों की खोज करना है। इन में वेदार्थ गौण स्थान रखता है। साथ ही यहाँ वेद को किसी भावविशेष की खोजने के लिए पट्टा और व्याख्यान किया जाता है। वह निष्पक्ष अध्ययन

७५ देवों मीएमडी०, डी मीयड ऑफ इण्टरप्रेटेशन ऑफ दी वेदाङ्ग।

७६. यह पारमिया की धर्म पुस्तक है और उन को इसी प्रकार मान्य है जैसे हिन्दुओं को वेद। यह ईरानी धर्म संस्थापक जरधुष्ट्र की रचना मानी जाती है। इस की भाषा वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। भाषा में भी दोनों में महान् साम्य प्रतिपादित किया गया है।

नहीं है। उदाहरण के लिए वदिक ऋग और अत का एक मानना तथ्या का तिरस्कार करना है।

१५५—इतिहास और पुराण को भी इतिहास-पुराणाभ्या वेद समुपबहयत्। विभत्यल्पश्रुताद वेदो मामयप्रहरिष्यति ॥” के लेख के आधार पर वेदाथ म महायक माना गया है। निष्कन में इतिहास और आख्यान पद समानाथक है। अथर्ववेद में पुराण सृष्टिविद्या का द्योनक है। यदि इम पद्य म य अथ अभीष्ट है तब ठीक है। परन्तु मामा-यत पुराण से १८ पुराण और इतिहास से उन म तथा अयन वर्णित तौकिक इतिहास समझा जाता है। उन से वेदाथ असम्बद्ध और जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋ० १।३।१।११ म ऋषि हिरण्यस्तूप अपन से छै पीडिया के पश्चान होनै वाले आय का वर्णन करने हैं। आख्याना की वैदिक पृष्ठभूमि से भी वेदाथ म कोई महायता नहीं मिलती है। हा यह सम्भव है कि पौराणिक आख्यानों का भाव खोला जा सके।^१

१५६—प० चन्द्रमणि पालीरत्न ने पाली भाषा की महामता से वेदाथ करने का सुचाव दिया है। परन्तु उन के समस्त उदाहरणा म कोई एसा नहीं जो वेदाथ पर कोई नवीन प्रकाश डालता हो। वस्तुतः यह भाषाविज्ञान के अन्तर्गत हा है। अत इस के निष्कप पापक प्रमाण के रूप में परम सहायक हो सकत हैं।

७७ वसिष्ठ धर्मसूत्र २।३।६ ।

७८ देवो सुधीरकुमार गुप्त—ऋग्वेद में इतिहास नहीं ऋग्वेद का धर्म म सकलित ।

७९ हमारी भेषदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उस का सांस्कृतिक सदेग में कुछ पौराणिक आख्याना का व्याख्यान दिया गया है।

८० देखो चन्द्रमणि वेदाथ करने की विधि ।

१५७ कुछ विद्वानों का विचार है कि वेदमंत्रों का प्रधान लक्ष्य यज्ञ में विनियोग है। अतः मूलतः उन का याज्ञिक व्याख्यान अभिप्रेत है। निरुक्त में भी ऐसे दो सम्प्रदाया—पूर्व याज्ञिक और याज्ञिकों का निर्देश है। दोनों सम्प्रदायों में यह अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है कि पूर्व याज्ञिकों के व्याख्यानो में कर्मकाण्ड का पुट पर्याप्त कम है। अतः यज्ञ 'हवन आदि' वेदमंत्रों का प्रमुख विषय या लक्ष्य नहीं। वास्तव में वेद में यज्ञ पद बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वह प्रत्येक कल्याणकारी ज्ञान, कर्म और भाव आदि का द्योतक है।

१५८—ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में वेदार्थ और ऋषियों की अभीष्ट वेदार्थशैली पर पुष्कल साम्यी मिलती है। इन अंशों में उपलब्ध पर्यायवाची पदों के समानार्थक होने का आधार निर्वचन है। वहाँ स्वतन्त्र रूप में भी वृत्तिपर्यन्त निर्वचन दिये गये हैं। ऋषि, देवता और छंदों के नाम साधारण पद हैं, व्यक्तिवाचक मझाएँ नहीं हैं। वहाँ ममस्त देवा में एवता है। सर्वत्र एक सत् की ही भावना पाई जाती है। शास्ताओं में यह शैली अधुणा रूप में पाई जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में इस शैली का विस्तार और क्रियात्मक प्रयोग दिया गया है। उपनिषदों, पदपाठ, वेदांग, अनु-क्रमणिका, ११ दर्शनों और स्मृतियों में भी यही शैली परिलक्षित होती है।

१५९—परम्परा की अविच्छिन्नता भी एक विचित्र पद समूह है। आज भी रहस्यवादी कविताओं के भी एक से अधिक अर्थ निकलने हैं। किस भावना को ले कर कवि ने रचना की है, यह बात ममस्त पाठकों को ज्ञात नहीं होती है। इस का यह अर्थ नहीं कि अर्थों की परम्परा विच्छिन्न हो गई है। विभिन्न विद्वान् अपनी-अपनी भावनाओं से अनुप्राणित हो कर अर्थ करते हैं और इन अर्थों का विस्तार और प्रसार उन की शिष्य परम्परा से होता रहता है। कवि स्वयं व्याख्या नहीं करते हैं। यदि करते हैं तो श्रोताओं की ग्रहण और विस्तार शक्ति के अनुरूप काव्यार्थ का विकास और ह्रास होता रहता है। यही स्थिति प्राचीन साहित्य, विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में

उल्लब्ध वेद व्याख्यानों की है। वहाँ विभिन्न आचार्यों के विभिन्न दृष्टियों से अर्थ मिलते हैं। आदि में ही वेद को परम कृत्रिम रचना बनाया गया। उस की परिभाषाओं को उस से सम्बन्धित निकटतम साहित्य से ही जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए हिरण्यपाणि—ज्योतिर्मय, नासत्यो=नासिकाप्रभवौ=प्राण और अपान के भावों को ब्राह्मण ग्रन्थ ही स्पष्ट करते हैं।

१६०—अत वेदमन्त्रो मे प्राप्त वेदार्थ शैली—जिम का शास्त्रा सहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यका, उपनिषदा, निरुक्त, दत्तन, स्मृति, अनुक्रमणियों और वेदांगा में विस्तार किया गया है, तथा जो निर्वचन प्रधान है—ही अवलम्बनीय है। शेष सब मामग्री पोषक प्रमाण के रूप में ही प्रयोज्य है। बेंकट माधव ने एक नई शैली—ऐतिहासिक पौराणिक का सूत्रपात किया है। अत इन के भाष्य का प्रयोग परम सावधानी की अपेक्षा रखता है।

प्रस्तुत संग्रह के देवताओं का स्वरूप

विष्णु का स्वरूप

१६१—वेद की व्याख्यान शैली के अनुरूप विष्णु आदि देवताओं का स्वरूप भी बदल जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने विष्णु को यज्ञ, सोम अन्न, वीर्य, प्रादेशमात्र गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सब देवा का द्वाररक्षक, आशाशा (=दिशाओं) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, धोत्र, पुरुष और यूप आदि समझा है। दयानन्द सरस्वती इसे परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि, विद्युत्, शिल्पविद्याव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, सेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ समझते हैं। सामान्यतः इसे √विष् व्याप्त होना से व्युत्पन्न किया जाता है।^{८१}

१६२—परन्तु आधुनिका की दृष्टि एकदम भिन्न है। इस दृष्टि में ऋग्वेद में विष्णु का स्थान गौण है। इस की स्तुति केवल पाँच सूक्तों में की गई है। इस के पुरुषविघ्न रूप और वर्णन भी अल्प है। वह तीन पद चलता है। वह विशालकाय युवा है, बच्चा नहीं है। इस का प्रमुख कर्म तीन पदक्रमण है। इसी कर्म के लिए उसे उरुक्रम (विस्तृत पदा वाला) और उरुगाय (दूरदेशगामी) कहा गया है। इन तीन चरणा से वह समस्त पार्थिव लोको को पार कर लेता है—‘पार्थिवानि विममे रजामि’^{८२}। इस के दो पद मानवा को दिखाई देते हैं, तीसरा उच्चतम पद पक्षियों के उड़ान और मनुष्यों की पहुँच के परे है। इस का परम पद सुलोक में नेत्रवत् जमा हुआ है। यह परम प्रकाशमान है—‘परममवभाति भूरि’। यह पद उस का

प्रिय निवाम है—तदस्य प्रियमभि पाथ' । पुण्यात्माएँ और देवता यहाँ आनन्दमग्न रहते हैं—नरो यत्र देवयवो मदन्ति । विष्णु के ये तीन पद मूर्त्य की तर्त्ता लोका—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में गति का वर्णन करते हैं ।

१६२ अ—विष्णु चक्र के समान अपने ९० घोंडा (=दिना) को उन के चार नामा (=चार ऋतुओं) के साथ घुमाता है । इस प्रकार वह वर्ष के ३६० दिना का नियामक है । आदि में यह मूर्त्य की गति का ही पुरुषविध रूप रहा होगा । विष्णु इन पदों को जनहित के निमित्त चलता है । इन से मनुष्या की स्थिति बनी रहती है और रहने के लिए पृथिवी रूप घर मिलता है ।

१६३—विष्णु के गौण रूपा में से प्रमुख कर्म उम की इन्द्र से मैत्री है । वह बहुधा इन्द्र की वृत्रवध में सहायता करता है । विष्णु सूक्तों में केवल इन्द्र ही निपात देवता है । एक सूक्त में दोनों की सम्मिलित स्तुति की गई है । इन्द्र का महायक होने के नाते विष्णु की इन्द्र के साथी मरुतों के साथ एक सूक्त में स्तुति की गई है ।

१६४—इस सग्रह में सकलित सूक्त में टिप्पणिया के अनुसार विष्णु सृष्टि के पहले भी विद्यमान एक मन' है । वह सृष्टि रचना के लिए प्रकृति के परमाणुओं का स्थूल और रजोगुण प्रधान बनाता है—'य पायिद्वानि विममे रजामि । इन गतिशील बने हुए परमाणुओं को वह जीवात्मा के सम्पर्क में लाता है—यो अस्वभायदुत्तर सधस्यम् । वह प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणा में सब कुछ का व्याप्त कर देता है—'विषक्रमणस्त्रे-धोरुगाय' । तथा 'यस्यांरुपु त्रिषु विक्रमणेष्वधिश्रियन्ति भुवनानि विश्वा ।' वह खोजते योग्य (मृम), सौम्य (न भीम), वाणीरूप (कुचर) वह हृदया में स्थित है (गिरिष्ठा) । उस की प्राप्ति गुरु और उपदेशका से ज्ञान प्राप्त कर के हो सकती है—'ता वा वास्तून्युत्तममि गमध्वं अत्राह तदु-रगायस्य परम पदमवभाति भूरि ॥'

इन्द्र का स्वरूप

१६५—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्द्र को परमेश्वर, सूर्य, वायु, विद्युदादिपरमैश्वर्ययुक्त विद्वान्, विद्वान् ममाध्यक्ष, जीव, राजा, मेनाध्यक्ष, ऐश्वर्यं प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला पुरुष, न्यायाधीश, शूरवीर, योधा, प्राण, दुष्ट दायुओं का नाशक, दुःखों का नाशक, अग्नि, स्तनयितृ, पृथिवी पर राज्य देने वाला, ऐश्वर्यप्राप्ति, विद्युद्वर्षित शस्त्र आदि समझा है। ब्राह्मण ग्रंथों में इसे तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, धत्र, अशनि, ब्रह्म, प्रजापति, देवलोक, वीर्य, शिशु, उद्गाता, और अश्व आदि कहा है।

१६६—इस की व्युत्पत्तियाँ अनेकविध हैं। सब में √इन्द्र धातु से व्युत्पत्ति ही अधिक आदरणीय है।^{५१}

१६७—आधुनिक दृष्टि से यह भी देवता ऋग्वेद में सर्वप्रमुख हैं। इस के मूलतः मय में अधिक हैं। यह वैदिक आयों का राष्ट्रीय देवता है। यह मय देवताओं से अधिक पुरुषविध वर्णनों से युक्त किया गया है। आख्यायिक कल्पनाएँ भी इसी के भूतों में सर्वाधिक समृद्ध हैं। मूलतः यह घोर तूफानी वर्षा और गर्जन का देवता है। यह अन्धकार के राक्षस का हनन कर के जलों और प्रकाश की किरणों को मुक्त करता है। अपने गौण रूप में यह युद्ध का देवता है और आयों को अनायों से युद्ध में सहायता दे कर उन्हें विजय दिलाता है।

१६८—उस के शारीरिक अंगों का बहुधा वर्णन किया गया है। सोम पीकर वह अपने जवड़ों और दमयु को गति देता है। उस के पेट का भी बहुधा वर्णन किया गया है। उसका रंग हरा (हरि) है। उस के बाल

और डाढ़ी मूछ भी हरे हैं। वह वज्रबाहु और वज्रहस्त है। यह वज्र बिजली ही है। वज्र ही इन्द्र का एकमात्र आयुध है। इस वज्र को त्वष्टा ने लोहे (आयस) का बनाया था। यह सुनहरी, तीक्ष्ण और अनेकों धाराओं वाला है। कभी-कभी इन्द्र को धनुष और बाण से युक्त भी कहा गया है। वह अकुण भी रखता है।

१६९—उम का रथ सुवर्णमय है। उस में दो घोड़े (हरि) जोते जाते हैं। वह रथप्रा योधा है। य रथ और घोड़े ऋभुओं ने बनाए थे।

१७०—साम इन्द्र का अभिमत पेय पदार्थ है। इस के बराबर और कोई देवता साम नहीं पीता। इसी लिए यह सोमपा है। सोम उसे युद्धों के लिए उत्साह और शक्ति देता है। वृत्र को बध करने के लिए वह तीन कद्रू (तालाव) सोम पी जाता है। एक सूक्त (१०।११९) में सोम की मस्ती में इन्द्र अपनी शक्ति और महिमा की उदघोषणा करता है।

१७१—बहुधा उसे उत्पन्न हुआ कहा गया है। दो सूक्तों में उस के जन्म का वर्णन किया गया है। उस का पिता द्यौ मालूम होता है। कुछ मन्त्रों में वह त्वष्टा प्रतीत होता है। अग्नि और पूषण इन्द्र के भाई हैं। उस की पत्नी उद्राणी है। मरुत इन्द्र के प्रमुख सहायक हैं। वह इसी लिए मरुत्वान इन्द्र कहलाता है। युगों में अग्नि विष्णु वायु सोम, वरुण, बृहस्पति पूषा और विष्णु के साथ इन्द्र की स्तुति की गई है।

१७२—इन्द्र बृहदाकार है। वह दस गुना पृथिवी से भी अधिक बड़ा है। देवता और मनुष्य उम की सामर्थ्य की सीमा को नहीं पहुँच पाते हैं। कोई देवता उम के समान नहीं है। इसी कारण उसे शक्र शचीवान शचीपति और शतक्रतु कहा गया है।

१७३—सोमपान से समर्थ हो कर मरुतों के साथ वह अनावृष्टि के प्रमुख अमुर वृत्र पर आक्रमण करता है। वृत्र को बहुधा अहि भी कहा

गया है। इस युद्ध के समय छुलाक और पृथिवीलाक काँप उठते हैं। वह वृत्र को वज्र से मार कर अप्मृजित् कहलाता है। यह युद्ध पुन पुन होता है। इस के फलस्वरूप जल मुक्त हो जाने है। ये जल बहुधा पार्थिव है। कभी-कभी आकाशस्य और छुलाकस्य भी बताए गए हैं। बादल ही पर्वत, अद्रि या गिरि हैं जहाँ वृत्र रहता है। जल का गो भी कहा गया है और जल मुक्त बादल का भी। बादल को ही उत्स कवन्व और काग कहा गया है। वे आकाशीय अमुरा के पुर हैं। ये पुर गतिशील हैं शारदी, लाह या पत्थर के बने हुए और ९०, ९९ या १०० हैं। इन्द्र इन्हें नष्ट करता है। इन कर्मों के कारण वह धूमिद् और वृत्रहन् कहलाता है।

१७४—वृत्रवध से प्रवानप्राप्ति का भी सम्बन्ध बताया गया है। वृत्र का मार कर जला को मुक्त कर के इन्द्र सूर्य को आकाश में ऊँचा चमकाता है। अनेक बार वृत्र के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। केवल इन्द्र को प्रकाश लाने वाला ही कहा है। वह उपम् और सूर्य का उत्पन्न करता है और इन से अन्धकार का अनावृत्त कर देता है।

१७५—इन्द्र अनेक महान् सृष्टिकर्मों का सम्पादक भी है। वह चञ्चल पर्वता और पृथिवी का स्थिर करता है—‘य पृथिवी व्यथमानाम दूहद् य पर्वतान् प्रवृषिर्ता अरम्णान्।’ वह दृति के समान घुलने और पृथिवीलाक को पृथक्-पृथक् धारण करता है। उस ने एक क्षण में अमन् को सन् बना दिया। कई बार छुलाक और पृथिवीलाक के पृथक्करण और धारण का वृत्रवध का परिणाम भी बताया गया है।

१७६—याधा इन्द्र की बहुधा स्तुति करत हैं—‘य चन्द्रमी सयनी विह्वयेते। समान चिद्रयमातस्थिवामा नाना हवन।’ यह आर्यवण को रक्षा करता है।—‘आय वर्णयावन्’ और दाम वष का वर्णभूत करता है—‘दास वर्णमधर गुहाक्’। उस ने ५० ००० वृष्य वर्णों का वध किया, दस्युआ को आयों के अधीन कर के उन्हें भूमि दी।

१७७—इन्द्र भक्ताकारक्षक, महायक और मित्र है—‘य मुन्वन्तम-
वति य पचन्त य दासन्त य दाशमानमूती’। वह उन्हें धन देता है—‘य
मुन्वने पचने वाज ददंषि ।’ इसी लिए वह मधवा है।

१७८—वह उपस् के रथ का भजक है। वह सूर्य के घोड़ा को रोकने-
वाला है। वह मोम को जोतता है। श्येन उमी के लिए स्वर्ग में मोम
लाना है।

१७९—ऋग्वेद में मुदास आदि के लिए पार्थिव शत्रुआ से युद्ध करने की
कथाएँ भी इन्द्र से सम्बद्ध की गई हैं।

१८०—इन्द्र के विशेष गुण प्राकृतिक अणु पर शासन और भौतिक
उत्कर्ष है। वह उत्साही कर्मों में उग्र दुर्धर्ष योधा, मानव जाति को खुले
मन से समृद्धि देने वाला है। साथ ही वह इन्द्रियामक्त और कुछ दृष्टिदा से
अनैतिक भी है। वह अत्यधिक खाने-पीने वाला है। अपने ही पिता त्वष्टृ
का वध करता है। वह वरुण में भिन्न स्वभाव का है। वरुण ऋग्वेद में
शान्ति, ऋत और व्रता का व्यवस्थापक है।

१८१—इन्द्र प्राग्भारतीय है क्यों कि अवैस्ता में यह एक राक्षस है।
वहाँ भी वेरेवघ्न (=वृत्रहन्) विजय का देवता है यद्यपि वह इन्द्र से
सम्बन्धित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत ईरानी काल में वैदिक
इन्द्र के अनुरूप एक वृत्रहन्ता देवता था।

१८२—इस मग्नह के मूक्त में इन्द्र विष्णु, और पुरुष के अनुरूप स्रष्टा
और धर्ता के रूप में वर्णित किया गया है। वह सृष्टि के पहले से विद्यमान
है। मनस्वी और अपनी सामर्थ्य से देवों को प्रकाश देने वाला है—‘देव देवान्
ऋतुना पर्यभूषन्’। वह सृष्टि के पहले के प्रकाश के अवरोधक अन्धकार
को नष्ट कर के समस्त परमाणुओं में गति लाना है और सृष्टि रचना करता
है—‘येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दाम वर्णमघर गुहाफ’। वह चुल्लोक,

पृथिवीलाव, जल जादि, चारा वर्णों और समस्त प्राणिया का शासक है। जा पापी और नास्तिक हैं उन्हें उनके पुण्या के क्षय द्वारा धीरे धीरे नष्ट करता है—‘य दश्वना मह्येना दधानानमन्यमानान्छवा जघान । वह ही वनस्पतिया को उगाता और बढ़ाता है—‘यो रौहिणमस्फुरद् ।’

पुरुष का स्वरूप

१८३—यह पुरुष सूक्त का देवता है। यह सूक्त दार्शनिक है और मूर्तिरचना विषयक छ सूक्तों में से एक है। इस में देवता मूर्ति यज्ञ करत है। इस यज्ञ की सामग्री पुरुष स्वयं है। यहा मूर्ति को यज्ञ के रूप में वन्दित किया गया है जिम में पुरुष ही बलि का पंगु है। उस के शरीर में काटे गये अंग ब्रह्माण्ड के अंग बन जात है।

१८४—इस सूक्त के भाषा और विषय स्पष्ट इंगित करत है कि यह सूक्त अर्वाचीन है। इस का तीना वेदा का ज्ञान है। यह उन का नाम लेता है और ऋग्वेद में पहली बार चारा वर्णों का उल्लेख करता है। इस में धार्मिक दृष्टि भी प्राचीन भागा से भिन्न है। यह विराट् वादी है—‘पुरुष एवेद सव यद्भूत यच्च भव्यम्’।

१८५—इस मन्त्र की टिप्पणिया के अनुसार पुरुष बहुविध शक्तिया से युक्त है। वह धारक और ग्रसन शक्तिया से मसार में व्याप्त रहता है। यह ब्रह्माण्ड उस का चतुर्थांश है। तीन चौथाई भाग अमर और मानव की पहुँच से बाहर है। पुरुष ने विराट् उत्पन्न हाता है परन्तु ज्ञान में श्रेष्ठ पुरुष ही रहता है—विराजो अधि पूर्य । पुरुष मूर्ति की साधक शक्तिया—जाद और प्रकृति के द्वारा अपने का साधन बना कर मूर्ति करता है। उसी से सब पंगु आदि भौतिक पदार्थ और ऋग्वेदादि ज्ञानमय पदार्थों की उत्पत्ति हाती है। जब उस ने यह मूर्ति रचा तो विभिन्न, शक्तिया के कारण उस के नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य, शूद्र, ब्रह्मा, भूय, इन्द्र, अग्नि,

वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि और दिन हो गये । इस यज्ञ में जो भावनाएँ और शक्तियाँ थी वे ही ससार की धारक और आनन्द का स्रोत हैं—

‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाक महिमान मचन्त
यत्र पूर्वं साध्या सन्ति देवा ॥’

ऋ० १।१५४—विष्णुसूक्तम्

अपिः—दीर्घतमाः । देवता—विष्णुः । छन्दः—त्रिष्टुप् ।
स्वरः—धैवतः ।

सहितापाठ

पदपाठ

१. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं	विष्णोः।नु।कम्।वीर्याणि।प्र।
यः पार्थिवानि निमुमे रजांसि ।	वोचम्।यः।पार्थिवानि।निमुमे
यो अस्कभायदुत्तरं मुधस्थं	रजांसि।यः।अस्कभायत्।उत्-
त्रिचक्रमागस्त्रेधोरुगायः ॥१॥	त्तरम्।मुधस्थम्।त्रिचक्र-
	मायः।त्रेधा।उरुगायः ॥१॥

मायणभाष्यम्—“विष्णोर्नु कम्” इति षड्-कच षड्विंश सूक्तं दीर्घतमसं त्रैष्टुभ वैष्णवम् । अनानुक्रमगिरा—“विष्णो षड् वैष्णव हि” इति । अभिस्तुव षड्विंशत्येव तृतीयसवने स्तोमबुद्धान्छात्राकस्य स्तोमातिशयनार्थम् इदमादि-सूक्तद्वयं विनियुक्तम् । ‘स्तोमं वधमाने’ इति खण्डे सूत्रितम्—“विष्णोर्नु कम् इति सूक्तं परो मात्रयेत्यच्छात्राकः” (आश्व० श्रौ० ७।९) इति । तथा तृतीयसवने सोमातिरेक उत्तरोत्तरस्वरूपगन्तव्या आतिरात्रात् ततोऽप्यतिरेके तदर्थमेव शस्त्रं मुपजनयितव्यम् । तत्रैतदव सूक्तम् । “सोमातिरेके” इति खण्डे सूत्रितम्—“सहो इन्द्रो नृवद्विष्णोर्नु कम्” (आश्व० श्रौ० ६।७) इति । आश्रिमादृतशस्त्रे आद्या विनियुक्ता । “अथ यजेतम्” इति खण्डे सूत्रितम्—“विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं तन्नु तन्वत्रजसो भानुमन्विहि” (आश्व० श्रौ० ५।२०) इति ॥

हे नरा विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कमति-
शीघ्रं प्रयोचम् । प्रव्रवीमि । अत्र यद्यपि नुमिति पदद्वयं तथापि, यास्नेन
“नवोत्तराणि पदानि” (निध० ३।१२) इत्युक्तत्वात्, शास्त्रान्तर एकत्वेन पाठाच्च,
नु इत्येतस्मिन्नेवायं नु कमिति पदद्वयम् । कानि तानीति तत्राह । यो विष्णु
पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रज्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रया-
भिमानान्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेपेण निर्ममे । अत्र
त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः । तथा च मन्त्रान्तरम्, “यदिन्द्रामी अम-
मस्या पृथिव्या मध्यमस्या परमस्यामुत स्थः” (ऋ० १।१०८।९) इति ।
तैत्तिरीयेऽपि—“योऽस्या पृथिव्यामभ्यायुपा” इत्युपक्रम्य “यो द्वितीयस्या तृतीयस्या
पृथिव्याम्” (तै० स० १।२।१२।१) इति । तस्माद्लोकत्रयस्य पृथिवीशब्द-
वाच्यत्वम् । किञ्च यच्च विष्णुरुत्तरमुद्रततरमतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं
लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरिक्षमस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान् ।
निर्मितवानित्यर्थः । अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं
भवति । यद्वा । यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या
अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान् । रजःशब्दो लोकवाची,
“लोका रजात्युच्यन्ते” (निरु० ४।१९) इति यास्नेनोक्तत्वात् । किञ्च
यच्चोत्तरमुद्रततरमुत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवास-
योग्यं भूरादिलोकसप्तक्रमस्कभायत् स्तम्भितवान् । सृष्टवानित्यर्थः ।

स्कम्मेः ‘स्तम्भुस्तम्भु’ इति ग्रहितस्य स्तः ‘छन्दसि शायजपि’ (पा० ३।१।
८४) इति व्यत्ययेन शायजादेशः । अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि
रजांसि लोकान् विममे । भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः । भूम्यामुपार्जितवर्म-
भोगार्थत्वादितरलोमानां तत्कारणत्वम् । किञ्च यच्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां
लोकानामुपरिभूतम् । अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वम् । सधस्थमुपासकानां
सहस्थानं सत्यलोमस्कभायन् । स्तम्भितवान् । ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः ।
किं कुर्वन् । त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान् विविधं क्रम-
माणः । विष्णोस्तेषां क्रमम् “इदं विष्णुविचक्रमे” (ऋ० १।२२।१७)
इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम् । अत एवोक्त्यायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः । अति

प्रभूतं गीयमानो वा । य एव कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्र
बोचम् ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—(म) [बु कम्] पूर्ण रूप से (और उत्तमता न
माय) [विष्णो] (उम) (व्यापक) विष्णु (नामक परमात्मा) व
[वीर्याणि] महत्त्वपूर्ण कर्मों का [प्र बोचम्] घोषणा करता हूँ [य] जिस ने
[पार्थिवानि] (विस्तृत) पृथिवी में सम्बन्धित [रजामि] लोगों का [चिममे]
निर्माण किया है (और) [त्रेधा] तीन प्रकार से [विचक्रमण] बारम्बार
गति करने वाले [उरगाय] दूर दूर गामो (अर्थात्—सर्वव्यापक) [य]
जिस ने [उत्तरम्] परे विद्यमान (उत्तम सुखसाधक) [सद्यस्थम्] मिलन के
स्थान को [अस्कभायत्] स्थिर किया है ।

टिप्पणियाँ—१ विष्णो—वैदिक विद्वानों ने इस पद की व्युत्पत्ति विष्णु
ने स्वरूप के विषय में अपनी-अपनी विचारधाराओं के अनुरूप की है । ओल्डे-
न्बर्ग इसे 'विस्तृत उद्यम करने' के अर्थ में वि + स्तु से, ब्लूमफील्ड 'उच्चतम
चोरी पर चढ़ने वाला' अर्थ में वि + स्तु (सानु-चोटी से) से आर मेक्डोनाल्ड
✓विद् उत्पत्ती होना, व्यवसायी होना से व्युत्पन्न करते हैं । सायन ने ✓विद्
व्याप्त करना और कोषीतकि ब्राह्मण ने ✓विद् प्रवेश करना में व्युत्पन्न किया
है । (देखो वै० ६६३) । यास्क ने नि० १२।१८ में विष्णु को 'प्रिपित' कह
कर ✓विद् या वि + ✓अद् से व्युत्पन्न किया है । ऐया० (१४४) ने
'प्रिपित' को वि + ✓सि का रूप होन की कल्पना की है, परन्तु यास्क का
व्युत्पत्तियों की दृष्टि में यह कल्पना अनाश्रयक है । ग्रामी दयानन्द मरस्वता
ने इस व्याख्यार्थन ✓विद् से और पठनामो में पाठ के आधार पर गन्धर्वन्
✓विद् से व्युत्पन्न माना है । वस्तुतः व्याप्ति-अर्थ गति-अर्थ का ही रूप है,
और प्रवेश करना, चढ़ना, उत्पत्ती होना आदि भा । अतः दस० की दूसरी
शक्ति समीचीन प्रतीत होता है ।

(११) सामान्यतः 'विष्णु' का अर्थ 'एक दिव्य शक्ति-सम्पन्न अदृष्ट सत्ता
का द्योतक देवताविशेष' समझा जाता है । माध्यमार्थ ने कही कहीं पर इनका
अर्थ 'परमात्मा' भी किया है । दस० ने परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि,

विद्युत्, शिल्पविश्राव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जल, व्यान, तेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ अर्थ किए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ, सोम, अन्न, वीर्य, प्रादेशमान गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सब देवता, देवों का द्वारधर, आग्नाओं (= दिशाओं) का पति, यज्ञ व दुरिष्ट का रक्षक, भोज, पुरुष, यूप आदि अर्थ पाए जाते हैं।

२ तु कम्—सायण ने इस का अर्थ 'शीघ्र' और मैक्डोनेल ने 'अन' किया है। वात्स ने नि० १।४ में 'तु' को बहुविध अर्थों वाला और नि० १।९ में कम् को पदपूरण माना है। निघ० ३।१२।२ में तुक्म् को सर्वपद का अर्थ में उत्तरपद कहा गया है। यह तुक्म् पूर्वोक्त नि० १।४ और १।९ के तु और कम् से स्वरभेद के कारण भिन्न है। प्रकृत मन्त्र में यही पाठ है। अतः पदवार का इन का पृथक्करण और सायण आदि का अथ स्वर की दृष्टि में विचारणीय है। वेभाष० १३।३६ के अनुसार यह पद 'तर्ध' 'उत्तर' आर 'पद' का अर्थों का द्योतक है। अतः अनुवाद में 'पूर्वरूप' से और उत्तमता का साथ' अर्थ ग्रहण किया गया है। दस ने 'तु' का सव — 'तुस्त' और 'कम्' का 'स्त' अर्थ किया है। परन्तु निघ० ३।६।२० में मुख्यवाचक 'कम्' उदात्त है, अनुदात्त नही।

३ वीर्षाणि—यहाँ पर 'याँ' में प्रतीयमान स्वतन्त्र स्वरित है। छन्द की दृष्टि में इस का उच्चारण वीरि-आणि अभीष्ट है। सम्भवतः यह मूलशब्द था और सन्धि से पहले यहाँ पर सामान्य स्वरित था। सन्धि होने पर उदात्त 'रि' और अनुदात्त 'आ' का एक हो जाने से यहाँ स्वतन्त्र स्वरित लिखा देने लगा। वेद में अधिकांश स्वतन्त्र स्वरित इस प्रकार के ही हैं।

४ प्र वीचम्—प्र + √ वृ या √ वच् + लुट् उत्तम पु० एच य०। अट् का लोप हो रहा है। आधुनिक परिभाषा में यद् √ वच् से इज्जाक्त्व (निश्चयद्योतक) लुट् है। भाषावैज्ञानिकों का मत म √ वोच् एक स्वतन्त्र धातु है।

५ पार्थिवानि—पृथिव्या इमानि इति। सा० के विचार में यहाँ पर १. पृथिवी का नाचे का सात लोक। २. भूरादि पृथिवीनिमित्तक तीन लोक अथवा

३. पृथिवी आदि तीनों लोकों के अभिमानी देवता—अग्नि, वायु और आदिन्य अभिप्रेत हैं, मैक्डोनल्ड के विचार में 'पृथिवी और समीपस्थ वायुलोक और मही-धर के विचार में 'पार्थिव परमाणु' । अगले पाद में 'उत्तर सधस्थ' के दृष्टीकरण की दृष्टि में सायण का अर्थ स्वतः ही अप्रागमिक हो जाता है । वायुलोक की योजना पार्थिव रजस् और उत्तरसधस्थ से समान रूप में की जा सकती है ।

(ii) इस सूक्त में विष्णु के रूप में एकं सत् (= ईश्वर) के सृष्टिकर्म, उस के उपादानों, विष्णुलोक आदि का वर्णन है । अतः यहाँ 'पार्थिव रजस्' से प्रकृति के परमाणुओं के स्थूल और रजोगुणप्रधान हो जाने का उल्लेख है । तु. क.—'रजाजुपे जन्मनि सत्त्ववृत्तये प्रजानां पालने' । (कादम्परी १) । उत्तर (—उत्कृष्ट) सधस्थ से (प्रकृति) से सम्पर्क प्राप्त करने वाले 'जीव' का वर्णन किया गया है ।

१. विस्तृते—नि + √ मा + लिट् प्रथम पु० एक व०) । √ मा धातु का अर्थ नापना भी है और निर्माण करना भी । सायण आदि भारतीय विद्वान् इस का अर्थ 'निर्माण करना' लेते हैं । परन्तु आधुनिक विद्वान् कतिपय ऐसे स्थलों की दृष्टि में जहाँ ब्रुलोक और पृथिवीलोक में सूर्य के द्योत हो जाने का वर्णन पाया जाता है । जैसे—इमामू धामुरस्य श्रुतस्यमर्हा माया यरुणस्य प्र वोचम् मानेनेव तस्थिर्वो अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवी सूर्येण ॥ ३० ५।८५।५ इस का अर्थ मापना करते हैं । शतपथ ब्राह्मण में इस के अर्थ 'अभ्यवतनोति—विस्तार करता है' से भी यही अर्थ प्राप्त होता है । श्री पीटर्सन ने लिखा है कि मन्त्र ३ में क पदों 'विममे त्रिभिर्ऋषिदेभिः' में विष्णु के तीन पदों से 'सधस्थ' का निर्माण संभव नहीं । परन्तु यह कटिना सूर्य के तीन आक्रमणों पृथिवी, अन्तरिक्ष और ब्रुलोक की दृष्टि में आती है । निमिः पदेभिः का सत्त्व, रजस् और तमस् अर्थ करने पर यह समस्या समाप्त हो जाती है ।

७. यो अस्कंभायत्—वेद में बहुधा पदान्त ए ओ के पश्चात् 'अ' को पूर्ण-रूप नहीं होता है । पीछे के साहित्य और भाषा में यह पररूप क्रमशः नियत हो गया है । पूर्णरूप के इस अभाव को बहुधा मन्त्रों की प्राचीनता का श्रेष्ठ

और पृथक् रूप वाले प्रयोगों को अवाचीनता का द्योतक माना जाता है। पण्डितों ही प्रकार के प्रयोग अनेक बार वदामण्डलों में भी साध-साध पाए जाते हैं।

८ अस्त्वभायत्— $\sqrt{\text{स्त्वम्}} + \text{लट् प्रथम पु० एक व०}।$

९ उत्तरम्—पञ्कार न इस उव्त्तरम् माना है। इस से शत होता है कि उपसर्ग भी मरा और विभाषण के रूप में प्रयुक्त होते थे, अन्यथा उत् के साथ तरप और तमप् का प्रयोग सम्भव नहीं था। वेमाप० ४।२१-३० ६।५८ वैश्व० ३००-३१०, नि२० के ऐकपात्रक में उपसर्गों और लपता का पात्र और उस पर वमाप० ३०।२७-२८ भी देखें।

(11) श० ८।६।३।२३ और ९।२।३।३ में उत्तर सधस्थम् का अर्थ 'द्या' दिया है। सा० ने इस (१) अतिवृत्ताण अन्तारप, (२) पुण्यशालों के एक साथ रहने योग्य भू आत् सात लोक (३) सयलोक का द्योतक माना है। श्री मैक्डनल ने इस मन्त्र में जगत् के दो विभागों का वर्णन मान कर इस का अर्थ 'सगला' किया है। आनाग के धारण की क्रिया को सवत्, आम्र और अय देवताओं से भी सम्बद्ध किया गया है।

(11) इस मन्त्र में साष्ट के तीन मूल कारणों का वर्णन किया गया है—
वण्णु पापिगुरुस् और उत्तरसधस्थ। अतः यह उत्तरसधस्थ 'जान' है।

१० सधस्थम्—सह स्थानम् सधस्थम्। तु कु सधमान्तरयोदृष्टि।
यद में 'सह' के आगे 'स्थ' आने पर 'सह' को 'सध' हो जाता है।

११ विचित्रमाण—वि + $\sqrt{\text{क्रम}} + \text{कानच्}$ से। सायण और मैक्डनल ने अपन-अपन भाषा के अनुरूप इस के अर्थ क्रमशः 'अनेक प्रकार से आक्रान्त करता हुआ' और 'पग भरे' किए हैं। $\sqrt{\text{क्रम}}$ शययक है। वि + $\sqrt{\text{क्रम}}$ का अर्थ है—विशेष गति करत हुए, तब का माहमा से गतिशाल हो कर साष्ट रचन करत हुए।

१२ त्रधा—छा की दृष्टि में इस का उच्चारण त-य-धा होगा। आनैल् नायथा पढ़ते हैं। मैक्डनल ने इस का अर्थ—'तान वार' अर्थात्

‘तीन (पद)’ किया है । ऊपर प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में इस का अर्थ ‘सत्त्व, रजस्, और तमस्—इन तीन गुणों से विशिष्ट’ करना उचित होगा ।

१३ उरुगाय—सा०—बहुतो से स्तुति किया गया, पुष्कलकीर्ति वाला । मैकडोनल—विस्तृत पद वाला । पीदसंन—दूर गन्ता । एक अन्य मन्त्र में सा० ने बहुतो से स्तुति करने योग्य, प्रभूत यश वाला, शत्रुओं को कलाने वाला अर्थों के साथ ‘बहुत से देशों में जाने वाला’ अर्थ भी दिया है । ये अर्थ सूर्य के तीन क्रमों पर लागू होते हैं, सृष्टिरचना पर नहीं । अतः यहाँ पर त्रितीर्ण आच्छादक (उरु = ✓ उर्ण या ✓ ष्ट से) गति = शक्ति (—गाय) वाला अर्थ उपयुक्त रहेगा । तु. क. तु० उयेनाभ्यपिहित यदार्मात् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् । ऋ० १०।१२९।३ तथा विमापरीवः कुहपम्य शर्मन् । वही, मन्त्र १ ।

संहितापाठ.

पदपाठः ^{स्तुति}

२. प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण	प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण ।
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।	मृगः । नृ । भीमः । कुचरः । गिरि-
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्व्	ऽस्थाः । यस्य । उरुषु । त्रिषु ।
अधिक्षियन्ति भुवनानि विथा ॥ २ ॥	विक्ष्रमणेषु । अधिक्षियन्ति ।
	भुवनानि । विश्वा ॥ २ ॥

सायणभाष्यम्—तृतीयमवने सोमातिरेक एव शस्त्रमुपब्रजनयितव्यम् । तत्र ‘प्र तत्’ इत्यशमनरूपस्तुतः । “सोमातिरेके” इति सण्डे सूत्रितम्—“प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण स्रोत्रियानुरुषौ” (आश्व० श्रौ० ६।७) इति । ‘वाजपेयेनाधिपत्य काम’ इति सण्डे सूत्रितम् “—प्र तते अथ शिपिविष्ट नाम (ऋ० ७।१००।१) प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण” (आश्व० श्रौ० १।९) इति ॥

यस्येति यस्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते । स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीर्यकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते । स्तूयते सर्वे । कर्मणि व्यत्ययेन शप् । वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः । मृगो न सिंहादिरिव । यथा स्वविरोधिनो मृगायिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादि-

कर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठा पर्वतादुन्नतप्रदेशस्थायी सर्वे स्तूयते ।
 आस्तात्रेण नरुक्तम्—“मृगो न भाम कुचरो गिरिष्ठा । मृग इव भाम कुचरो
 गिरिष्ठा मृगो माध्वेगातकमणो भीमो क्रिय यस्माद् माध्वोऽप्यतस्मादेव । कुचर
 इति चरात कम कु सतम् । अथ चटवतामभान कवाय न चरेताति वा । गिरिष्ठा
 गिरिस्थायी । गिर पर्वत समद्रीणो भवात् । पर्ववान् पर्वत । पर्व पुन पृष्ठात
 प्रीणावेवा” (निद० १।२०) इति ॥ तद्वदयमपि मृगोऽन्वेष्टा शत्रूणां भीमो
 भयानक सर्वेषां भीत्यपादानभूत । परमेश्वराद् भीति ‘भावात्माद् वा न
 पवन’ (तै० आ० ८।८।१) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धा । किञ्च कुचर शत्रु
 वधादिकुन्तितकर्मकर्ता कुषु सर्वासु भूमिषु लोचत्रये सञ्चारी वा तथा
 गिरिष्ठा गिरिषुच्छिन्नलोफस्थायी । यद्वा । गिरि मन्त्रादिरूपाया वाचि
 सर्वदा वर्तमान । ईशोऽय स्वमहिम्ना स्तूयते । किञ्च यस्य विष्णोरुत्पु
 विस्तीर्णेषु त्रिसङ्ख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि
 भूतनातान्यधिक्षियन्त्याश्रित्य निवसन्ति स विष्णु स्तूयते ॥ ० ॥

हिन्दी अनुवाद—[भीम] भयानक [कुचर] नियम रखलो पर बिच
 रण करन वाले [गिरिष्ठा] पर्वता म रहने वाले [मृग] सिंह क [न]
 समान [कुचर] ताना लोकों म व्याप्त [गिरिष्ठा] मञ्जो म वर्गित [तत्]
 वह [विष्णु] विष्णु [वीर्येण] अपन बीर कर्मों क कारण [म स्वते] स्नात
 किया जाता है [यस्य] जिस क [उरषु] विस्तृत [त्रिषु] तीन [विक्रमणेषु]
 पदा म [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] लोक [अधिक्षियन्ति] विद्यमान
 रहते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१ प्र—वेद म उपमार्गों को क्रिया से उद्बुधा पृथक् प्रयुक्त किया
 गया है । तु० क० व्याहताश्च ।

२ तत्—यहाँ पुल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया गया
 है । तु० क० ११ ययो बहुलम् । आधुनिक व्याख्यान में यह पद एव समस्या
 है । साइवेनाजग ल्हाइडर क अनुवाद म इसे वीर्येण का प्रयोग बनाया गया है
 आर तृताथान्त माना गया है—विष्णु इस बीर कर्म क लिए प्रशंसा को प्राप्त
 होता है । “प्राचीन ऋचाओं में विष्णु का एक ही बारम्बार वर्णित हुआ है—

वह तीन पदों में समस्त ब्रह्माण्ड का लघन, स्वर्गलोकों का दृढ करना, और उस के तृतीय पद में समस्त प्राणियों के रहने के लिए विस्तृत स्थान की सत्ता का धारण करना है (ऋ० ६।६९।५)। वह स्वयं ऊपर विष्णुलोक में रहता है जहाँ उस पर साय पुण्य आत्माएँ निवास करती हैं”। (—मा० ला०)। आसमैन इसे स्ववते का कर्म मान कर ‘इस वीर कर्म को करना स्वीकार करता है’ अर्थ देते हैं। ये वीर्येण का अर्थ ‘सामर्थ्य’ करते हैं। पीटर्मन वीर्येण को क्रियाविरोधण और स्ववते को कर्तृवाच्य मान कर ‘विष्णु प्रशंसा करता है और इस का मघोप विक्त्यन करता है’ अर्थ करते हैं। मेरुडोनल इसे प्रथम मन्त्र के वीर्याणि का निर्देशक द्वितीयान्त रूप मानते हैं।

(११) परन्तु इस मन्त्र में प्रतद्विष्णु आदि अगले वाक्य यश्योर्यु आदि का प्रधान वाक्य है। यत्तदोनित्यम् की दृष्टि में तत् का भाव में ही हो सफ़ता है, अन्य नहीं।

(१११) मन्त्र में जो कर्मवाच्य का प्रयोग मानना अस्वाभाविक नहीं। ऋग्वेद के मन्त्रों—आ भर। होतर्विभ्यासह रयिं त्वातृभ्य स्ववसे च न उतैधि पृस्तु नो वृधे (५. १०. ७), तया यत् मन्त्रे सधवार वारात्रिवरुचन नहुपा शबिष्ठ (६।२६।७) और एवा हि वार मन्त्रे सदावृधे (८।२४।१६) में ‘मन्त्र’ का कर्मवाच्य में प्रयोग प्रत्यक्ष ही है।

(१२) वीर्येण में पिछले मन्त्र के वीर्याणि का निर्देश है। समस्त सृष्टि-रचना एक ही कर्म है। अतः एक वचन का प्रयोग किया गया है। उस के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों को दृष्टि में रख कर पिछले मन्त्र में नहुवचन का प्रयोग किया गया है। इस पद में स्वर का स्थिति पहले मन्त्र के ‘वीर्याणि’ के समान ही है।

३. सृगो न भीम —श्री पीटर्मन लिखते हैं कि यह उपमाविष्णु का सामान्य स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है, इस का सम्बन्ध द्युलोक का सानु पर पैर रखने वाले और अथ अपने वार कर्म की घोषणा करने वाले विष्णु से सम्बन्धित है। वह पर्यंतों पर निचरण करने वाले मयानक सिंह का समान (गरजन करता) है।

मृग का प्राचीनतम अर्थ एक हिंसक या आरण्यक पशु है जैसा मृगेन्द्र पद में व्यक्त होता है ।

(ii) श्री मैकडोनल का कहना है कि यद्यपि सायण ने मृगः का अर्थ मिह आदि हिंसक पशु किया है और यद्यपि 'मीम' सिंह और वृषभ दोनों के ही विशेषण के रूप में आया है, तथापि गिरिष्ठाः तीन-चार बार वृषभ के विशेषण के रूप में तो आया है, मिह के विशेषण के रूप में कभी नहीं आया है । अगले मन्त्र में विष्णु को 'पर्वतनिवासी बैल' (गिरिनिविष्ट वृष्णे) कहा गया है । अतः यह उपमा सिंह की अपेक्षा बैल की ओर निर्देश करती है ।

(iii) वस्तुस्थिति कुछ अन्य प्रतीत होती है । यास्क ने 'न' को उपमा-वाचक माना है । यही यहाँ भ्रान्ति है । 'न' को 'मीमः' के साथ लगा कर 'न भयंर = सौम्य' अर्थ करने और मृगः आदि को विष्णु के विशेषण मान लेने पर कोई समस्या नहीं रहती है । मृगः—√मृग् खोजना से । खोजा जाने वाला, खोजने योग्य । देखो अश्वि० । अथवा √मृब् जाना से (यास्क) । अतः गतिशील । कामना रूपी जीव के मन में पढ़ने से विष्णु गतिशील हो जाता है और उस से सृष्टि होती है । देखो ऋ० १०।१११ ।

४. कुचुर — का प्रयोग केवल एक और मन्त्र (ऋ० १०।१८०।२) में आता है । वहाँ पर यह सारा वाक्य इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है । यास्क ने इस के अर्थ (१) कुत्सित कर्म करने वाला (२) यह कहा नहीं जाता [कु (या क्व) + √चर से] किए हैं । सायण ने दूसरा अर्थ 'तीनों लोरों (कु = पृथिवी से) में घूमने वाला' किया है ।

(ii) पदभार ने इसे अग्रहीत नहीं किया है । श्री मैकडोनल का विचार है कि 'कु' स्वतन्त्र पद के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है । अतः अग्रहीत है । परन्तु 'कुचित्' (ऋ० ९।८३।८; १०. १४५; १३. ११) के 'कृ' का स्वतन्त्र प्रयोग ऋग्वेद में नहीं मिलता है, फिर भी इसे अग्रहीत किया गया है । सम्भवतः पदभार इसे कु + चर और √कुच् (शब्द कृष्णा) + अग्न (द्वाप० ८।६२) —दोनों प्रकार से छिन्न करके अर्थ करना चाहते हैं, अथवा पिठला निर्वचन ही उन्हें अभीष्ट था । अतः शब्दवारी ।

(111) ऋ० १०।१२९।४ म कहा है कि सृष्टि की रचना क समय सर्वप्रथम परमात्मा के मन म सृष्टि करने की इच्छा हुई और यह इच्छा ही उस के मन में सृष्टि का मूल यज्ञमय बाज (= रेतस) बनी । इस रेतस् रूपी तप से उस म तेज और गति उत्पन्न हुई । इस गति म ही गन्ध भी उत्पन्न हुआ (तु कुण्डल्यमा भ्रवति का निष० म गतस्मा धातुआ म पाठ) । ब्रह्म (= विष्णु) की वाङ्मय रूप म भी कल्पना की गई है । देखो वाङ्मय तथा वाङ्कण्डन और वैष्ण० म वाङ्मय ।

५ गिरिष्ठा — सा० ने (१) उन्नत शिर का निवाता, (२) मग्न मन्त्रा मन्त्रांगी में स्थित अथ किए हैं । उपरांत दशानक द्वाष्ट म गिर—गर्त्त हृदय गुहा मन । अतः अपने मन म रेतस रूप म स्थित । यद्यपि ईश्वर मन आदि स हीन है, परन्तु तानिक प्रणाली पर समस्तान क लिए अलंकार बनाया गया है । वह स्वय ही मन है और स्वय ही रेतम् ।

६ त्रिपु विक्रमणु—सा० आत्मान यन्त्र में । प्रथम मात्र क समान यहा भी त्रावध गुण सत्त्व, रजस और तमस् का निर्देश है । इन्हीं तान गुणों में समस्त प्राणलोक स्थित है ।

७ विश्वा—विश्वान । वेद म अनेक बार नपुमक लिंग प्रथमा और द्विताया के बहुवचन की इ (= शि) का लोप दिखाई पड़ता है ।

सहितापाठ

पदपाठ

३. प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म	प्र । विष्णवेः शूषम् । एतु । मन्म ।
गिरिष्ठिते उरुगोयाय (विष्णवे)	गिरिऽक्षिते । उरुऽगोयाय । वृष्णे ।
य दं दीर्घं प्रयतं सधस्थम्	यः । इदम् । दीर्घम् । प्रयतम् ।
एकौ विममे त्रिमिरित्पदेभिः ॥३॥	सधऽस्थम् । एकः । त्रिऽममे ।
	त्रिऽभिः । इत् । पदेभिः ॥३॥

सायणभाष्यम्—विष्णवे सर्व यापकाय शूषमस्मत्कृत्यान्निजन्य बल महत्त्व मन्म मनन सोत्र मननीय शूष बल वा विष्णुमेतु । प्राप्नोतु । कमग

सम्प्रदानत्वाच्चतुर्था । कीदृशाय । गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते ।
उरुगायाय बहुभिर्गायमानाय । वृष्णे वधिंत्रे कामानाम् । एवम्सहानुभायं
शृपं प्राप्नोतु । कोऽस्य विशेष इत्युच्यते । यो विष्णुरिदं प्रसिद्धं दृश्यमानं
दीर्घमतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं सहस्थानं लोमत्रयमेक इदेक एवा-
द्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान् ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[गिरिक्षिते] मन्त्रों में वर्णित [उरुगायाय] दूरदेश
गामी (अर्थात्—सर्वाप्यारक) [वृष्णे] वीर्य-सेचक [विष्णवे] (उस)
विष्णु को (मेरा) [शृपम्] स्फूर्तिदायक [मन्म] (मननीय) स्तोत्र
[म एतु] पहुँचे [यः] जिस [एक] अनेके ने [त्रिभिः] [तीन] [पदेभिः]
पदों से [इत्] ही [इदम्] इस [दीर्घम्] विस्तृत [प्रयतम्] स्थिर [सध-
स्थम्] (प्राणियों के) निवास स्थान को [विममे] निर्माण किया है ॥ ३ ॥

टिप्पणियाँ—१. शृपम्—ऊन्द की पूर्ति के लिए 'शृ' को 'शृ-ऊ' पढ़ना
आवश्यक है । निघं० म यास्क ने और सा० ने इस के दो अर्थ—उल और
मुख माने हैं । टस० ने सर्वत्र उल-अर्थ ग्रहण किया है । केवल एक मन्त्र
में रिकल्प में 'मुख'-अर्थ भी दिया है । नि० २ । २४ में इस के सदृश
पद शृपम् को ✓ शृप् मुखाना से० युत्पन्न किया गया है । अनेकता में इस के
अनुरूप पद 'हुम्क'—मूत्रा हुआ है । रीथ इसे स्वस् से निष्पन्न मानते हैं और
वहाँ तथा अन्य चार ऋचाओं में इसे 'सीटी बजाना, (अव्यक्त) शब्द करना,
ठन्-ठन् का शब्द करना' अर्थ में विशेषण मानते हैं । इन में से एक मन्त्र
(ऋ० १० । ५४ । ६) में सा० ने 'शृप मन्म' का अर्थ 'शृप बल शशृणा
शोषकत्वाद् बलकर मन्म मननीयं स्तोत्रम्' दूने (१०. ६. ४) में 'शृपेभिः
अर्चैः का 'शृपेभिर्हविल्लक्षणवत् । बलनिमित्तैर्हविर्मित्यर्थः । अर्चैः स्तोत्रैश्च ।
अतः सायणीय व्याख्यान की दृष्टि में श्री पीटर्मन 'शृपम्' के विशेषण होने को
सन्दिग्ध समझते हैं । अन्यत्र (३. ७. ६ में) 'अनुघाय शृपम्' का 'अनुपुष्यमाण
मुखम्' और 'स्तोम शृपम्' (६।१०।२) का 'स्तोत्रं मुखकरम्' अर्थ किया है । अन्य
दो ऋचाओं में रीथ 'शृपम्' को 'नाक से घर्षण शब्द करना, तेजस्वी वीर्यवान्
माहसी' अर्थों में विशेषण मानते हैं । इन दोनों स्थलों (ऋ० ३।४९।२; ९।७।२)

में सा० ने इस का अर्थ 'शोषक बल' और 'शोषक बलवान्' किया है। ल्यून्गि ने इस का अर्थ 'शक्ति के लिए' (अर्थात् सामर्थ्य प्रदान करने के लिए) किया है।

(11) स्तोता अपने इष्ट देव की ओर स्तुति करता है उस सम्प्रधानतया स्तुति, सामर्थ्य आमतोप आदि सुख उस स्ताता को ही प्राप्त होते हैं, स्तुत देव पर उस का प्रभाव विचारणीय है। विष्णु ऋग्वेद का आनीदवात स्वधया तदेकम् (ऋ १०।१२९।२) और 'एक सत्' (ऋ १।१६४।४६) ही है। उस के मनस्तोष का प्रभ ही उपस्थित नहीं होता। अतः यहाँ पर 'पापों दुर्बान्ना आ स्वार्थ आदि का शोषन—नाशक और इस प्रकार सद्भाव का सृजन करने वाला बल और सुवर्णायक स्तान भाव अन्वित है। इस भाव का गीता में 'यज्ञायात् कमणोऽचन लोकोऽय नमब्रन्धन ' तथा—'सहयज्ञा प्रज्ञा सद्वा पुरोवाच प्रज्ञा पत । अनन प्रसादप्यधमप बोऽरिवष्कामधुक् ॥ देवान् भाययतानेन त देवा भावयन्तु व । परस्पर भावयन्त अथ परमवाक्यथ ॥' कह कर व्यक्त किया है।

२ उद्गायार्थ—दूसरे मन्त्र के 'मृगो न भाम कुचरा गिरिष्ठा' से तुलना करने पर इस की समता कुचर (सायक का अर्थ) से होती है। उधर एकमात्र विष्णु का विशेषण 'उरुक्रम —(ग०—महागति) है। अतः मैक्डोनाल्ड इस ✓ गा जाना से लेकर इस का अर्थ 'लम्बे पग भरन वाला' करते हैं। पीछे मन्त्र १ में उरुगाय पर भाष्यार्थ देखें।

३ वृष्ण—श्री मैक्ममूलर लिखते हैं कि वृष्ण एक ऐसा पद है जिस का टीक-टाक अर्थ करना असम्भव है। यह वेदमन्त्रों में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। याद एक बार उन सब भावों को जान लिया जाए बिना का यह प्रकाशन करता है तो इस के भाव को सामान्य किन्तु अस्पष्ट रूप में समझने में कोई कठिनाई न रहगा। यह ✓ वृष्ण—वार्थ सचन करना से बना है। इस का मूल अर्थ 'नर' था। यह शक्ति, प्राधान्य, श्रद्धा विशिष्टता, प्रातण का द्योतक है। बहुधा यह पुरुष के कामासक्ति पद को प्रकाशित करता है। फिर इस का अर्थ अमाश्वार्थ, उपजाऊ और जल्युक्त हो गया। यह 'वीर, बली' के अर्थ में अवशः पण पद भी है, देवताओं का नाम और प्रशंसावाचक पद भी।

(ii) सा० ने इस का अर्थ 'कामनाओं की वर्षा करने वाला' और दस० ने 'अनन्त वीर्य वाला' किया है। इस पद में सृष्टि के पूर्व असत् रूप से मत् की उत्पत्ति के निमित्त ब्रह्म के द्वारा तप की महिमा कामनारूप रेतस् के अपने में ही स्थापन करने का निर्देश उपलब्ध होता है। इस अनन्त रेतस्—वीर्य से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और प्राणियों की दृष्टाएं पूर्ण होती हैं। यही अर्थ यहा अभिप्रेत है।

४. इदं दीर्घं प्रयत्नं सुधस्यम्—मैक्डोनल इस से मन्त्र १ के 'उत्तरं सधस्यम्' के प्रतिपक्ष में 'पृथिवी' का भार ग्रहण करते हैं, सा० 'लोकत्रय' का और दस० 'बड़ा हुआ उत्तम यज्ञसाध्य सिद्धान्तावयवों से एक स्थान' का, ऋ० १०।१२१।^५—यिन द्यौरुमा पृथिवी च दृढहा येन स्वः स्तभितं येन नानः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः' की दृष्टि में यहा इस पदसमूह का अर्थ 'यह समस्त दृश्यमान दृढ सृष्टि' ही है। उत्तरं सधस्यम् में जीवात्मा का निर्देश होने से भी यहा पर पार्थिवपरमाणुजन्य जगत् का बोध ही अभीष्ट है।

५. एकः—विष्णु—ईश्वर अकेला ही समस्त सृष्टि का उत्पादक है, वह दूसरे किसी प्राणी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है।

६. त्रिभिः पुदेभिः—दस०—स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म जानने योग्य अक्ष। सा०—तान पग। दस०—का अर्थ ही प्रकरणोपयोगी प्रतीत होता है।

संहितापाठः

पदपाठः

४. यस्य त्री पूर्णामधुना पदान्य्	यस्य । त्री । पूर्णा । मधुना ।
अक्षीयमाणा स्वधया मरदन्ति ।	पदानि । अक्षीयमाणा । स्वधया ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत धाम्	मरदन्ति । यिः । उं । इति । त्रिधातु ।
एको दाधार भुवनानि विधा ॥४॥	पृथिवीम् । उत । धाम् । एकः ।
	दाधार । भुवनानि । विधा ॥४॥

सायणभाष्यम्—यस्य विष्णोर्मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पाठप्रक्षेपणान्यक्षीयमाणाक्षीयमाणानि स्वधयात्रेण

† देखो ऋ० १०।१२९।

मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान् । य उ य एव पृथिवीं प्रत्याता भूमिं
 द्यामुत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि
 चतुर्दश लोकाश्च । यद्वा । पृथिवीशब्देनाधोऽर्तान्यतलवितलादिसप्तभुव-
 नान्युपात्तानि । दशब्देन तद्वयान्तररूपाणि भूरादिमप्तभुवनानि । एष
 चतुर्दश लोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि ।
 त्रिधातु । त्रयाणां धानूनां समाहारस्त्रिधातु । पृथिव्यप्तेजोरुपधातुत्रय
 त्रिशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान् । तुजादित्वाभ्यासस्य दीर्घवम् ।
 उत्पादितवानित्यर्थः । छन्दोगारण्यक—“तत्तज्जोऽमृजत तद्भ्रमसृजत ता आप
 ऐक्षतः’ इति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा ‘हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतास्तासां त्रिवृतं त्रिवृ-
 तमेकैकां करवाणि” (छा० उ० ६।२।३४) इत्यादिना त्रिवृत्करणसृष्टिरुपपन्नता ।
 यद्वा । त्रिधातु कालत्रय गुणत्रय वा दाधारेत्यन्ययः ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्य] जिस (विष्णु) क [मधुना] सहद (आग्नि
 मधुर गुण वाले पदार्थों) से [पूर्णों] भरे हुए [त्री] तीन [पदानि] पद
 [अक्षीयमाणा] प्रिनागरहित होते हुए [स्वधया] (दिव्य) अत्र से [मदन्ति]
 वृत्त करते हैं (आर) [उ] निश्चय से [य] जो [एक] अरुण हा
 [त्रिधातु] तीन धातुओं से [पृथिवीम्] पृथिवी [उत] और [द्याम्] द्युलोक
 (आर) [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] लोकों को [दाधार] धारण किए
 हुए हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणिया—१ मधुना—मधु (नपु०) तृतीया एक व० । ना०—मधुर
 १।दिव्य अमृत से । दम०—मधुर आदि गुण से । राथ—मिठास, तीनों लोकों में
 प्राप्त होने वाले सुख और भोग विष्णु से ही प्रवाहित होते हैं । इने ‘स्वधया’
 का विशेषण भी प्रयोग जा सकता है—मधुर दिव्य अत्र से । नपु० का प्रयोग
 व्यत्यय से छालिग व लिए किया गया है ।

(११) ब्राह्मण ग्रन्था में मधु क अर्थों में प्राण, रस, ओषधिया का परम रस,
 ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ज्ञान (श० ११।५।४।१८), यह सब कुंठ
 (श० ३।७।१।११) और अत्र आदि दिए हैं । इस मन्त्र में पदानि’ व अप
 व अनुरूप अर्थ किया जा सकता है । यदि पद का अर्थ ‘पद’ ही मान लें,

तो भी शब्द से मरे हुए पदों का भाव 'पदों से नापे गए लोक' होगा क्यों कि स्वयं पदों का मधुपूर्ण होने का कोई अर्थ नहीं है। अतः मधु का 'प्राण' अर्थ उचित प्रतीत होता है। प्राण = शाक्त से युक्त। श्री मै० आ० ने पदानि का भाव 'पदों में रहने वाले प्राणी' लिया है। पाठ्यपुस्तिका के लिए पदान्यधीय० को पदानि अनीय० पढ़ना होगा।

२ त्री, पूर्णा—दोनों क्रमशः त्राणि और पूगानि के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

३ अक्षरमाणा—अप्रायमाणा। मै० बिना किसी कमा के। कर्मधारय समासों में नन् का 'अ' सग उदात्त होता है। ऐसे समास पदवाच में अनव ग्रहीत रहते हैं।

४ स्वधर्मा—सा०—अत्रेण। दस०—अपने अपने रूप के धारण करने वाला लिया है।

(11) लौकिक संस्कृत में स्वधा के अर्थ पितरों को दी गई आहुति के अन्त में उच्चारित पद, पितरों को प्रदत्त अन्न, माया या सासारिक भ्रान्ति के पुरुषबध रूप का नाम और एक अप्सरा का नाम मिलते हैं। श्री वेदमन्त्रों में प्रयुक्त स्वधा शब्द का परिचय नहीं था कि कि प्रो० वेनफी ने ग्राक सेयोस्, जमन सिन्हे ओएचएस० सिन्हा, गोभिल सिन्हा के आधार पर एक सदा 'स्वधा' की खोज का जो वैदिक साहित्य में मिल गई। प्रो० मैक्समूलर के मत में इस पद का मूल अर्थ—जिन्हीं का अपना स्थान था और पीछे 'अपना स्वभाव' हो गया।

(111) परन्तु शोध की योजना भिन्न है। उन का विचार है कि भारत में स्वधा का वैदिक अर्थ अत्यन्त भ्रष्ट हो चुका है। शोध ने तीन मन्त्रों—ऋ० ४. ३. ३१६. ४।५. २१६. ४।३१। में (१) रीति-रिवाज, शासन, ऋ० १।१०. १। ५. ६।१।८, ८।३२।६, १०।१२. १।२, १।८६।१० में (२) परिचित स्थान घर, ऋ० ७।८।३, १।१६. ५।५. ६, १।२१३।१० में (३) सामान्य अवस्था, आराम, कल्याण, सन्तोष, ऋ० १।६।४. ३३।११, ६।१६. १।५ आदि तथा प्रकृत मन्त्र में (४) सामान्य रूप में स्वच्छता से, इच्छानुसार, निर्निष्ठ, स्वाभाविक रूप में अर्थ लिए हैं। इस मन्त्र के समान अन्य भी कई मन्त्रों में इस का प्रयोग 'मन्त्रिता' के साथ हुआ है। शोध के मत में मधुर पय, इमिस्, पितरों को

प्रदत्त आहुति अर्थों वाला पद उपरोक्त स्वधापद से भिन्न है। इस दूसरे स्वधा को ही निधण्डु में उदक के नामा म पढ़ा गया है आर नि० ७।२५ म अत्र वाचक माना है। रीत्य यह भी मानते हैं कि प्रकृत मन्त्र की स्वधापद अन्य मन्त्र—ऋ० १०।१४।६ के स्वधवात्ये मर्दांत में मिलकुल भिन्न है। प्रकृत मन्त्र में स्वधया क्रिया विशेषण है, जिस का अर्थ—प्रसन्नता से, स्वार्थीन रूप से हैं। दूसरा पद मन्त्र है—हविषा क माथ। अगर भी राथ की इस कटपना को ठीक मान लिया जाए, तो दोनों मन्त्रों की रचना का बीच में समय का बड़ा अन्तर रहा होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ—रस और शरद् भी दिए हैं।

५ उ—मै०—भी। दत्त०—पादपूरण। सा०—एव=ही।

(11) इस मन्त्र में विष्णु के दो वीर कर्मों का वर्णन किया गया है—१. विष्णु का पदों का अक्षुण्ण रूप में मधु से पूर्ण स्वधा से आनन्दित होना २. तीन प्रकार से पृथिवी, बुलोक और समस्त लोकों का धारण करना। अतः यहाँ समुच्चय-बोधक निपात अमाष्ट होने से 'उ' का अर्थ 'और' करना उचित होगा। पद-पाठ म इस का आगे 'इति' लगा कर इसे सानुनासिक कर दिया जाता है।

६ निधातु—मै० अल्लतं है कि इस नपु० रूप को मन्त्र १ न पाठ ४ के स्वधा पद के समान क्रियाविशेषण का रूप में लेना अन्युत्तम रहेगा—तीन प्रकार से, अपने तीन धरण चल कर। यह पृथिवी और बुलोक के रूप में शिथिलता से व्याख्यात तीन लोकों का द्योतक भी हो सकता है। श्री पाठमैन निधातु को पृथिवीमत व्याम् का समानाधिकरण मान कर दोनों को एक ही भाव का द्योतक मानते हैं—पृथिवी और बुलोक ही त्रिविध जगत् है। रीत्य ने ऋ० ४।४२।४—उत निधातु प्रयत्न वि भूम को उद्धृत किया है। गा० ने इस का अर्थ—और परमधर ने व्यात आकाश को तीन प्रकार से विशेष रूप से फैलाया है—पृथिवी आदि तीन लोक बनाया है—त्रिधा है। यहाँ पर सा० का अर्थ—पृथिवी, जल और अग्नि—इन तीन तत्त्वों से विशिष्ट, दत्त० का सत्त्व, रजस् और तमस् आदि धातुओं वाले समस्त लोक-लोकान्तर (= त्रिधा भुवनानि) है। ऋ० ४।४२।४ में भी दत्त० ने यही भाव लिया है। सूक्त के पिछले तीन मन्त्रों की दृष्टि में दत्त० का

व्याख्यान उचित मान्यम पडता है । सा० का अर्थ भी उपयुक्त है । परन्तु उस में पाँच भूतों में केवल तीन का ही निर्देश होता है । इस अर्थ में 'त्रि' को उपलक्षण मानना पड़ेगा । 'त्रि' को उ० ५।६६ ने $\sqrt{}$ तृ पार करना से व्युत्पन्न किया है । इस आधार पर त्रिधातु का अर्थ—पार करने वाली, सब को वश में करने वाली धातु = धारक तत्त्व हो कर यह पृथिवी आदि पञ्च भूतों और सत्त्व, रजस् आदि गुणों और मात्स्य दर्शन के पञ्चतन्मात्रा आदि तत्त्वों का श्रोतक हो जायेगा ।

७, दाधार— $\sqrt{}$ धृ से लिट् प्रथम पु० एक व० । वेद में बहुत से धातुओं के अन्मास या स्वर दीर्घ पाया जाता है । दाधार ब्राह्मण में भी पीछे भी प्रयुक्त हुआ है । पदपाठ में इसे ह्रस्व नहीं लिया जाता है ।

८, भुवन्तानि विश्वा—इस को पृथिवी और शुलोक के साथ तीसरे लोक का श्रोतक भी माना जा सकता है और 'पृथिवी और शुलोक इन की सीमाओं में बन्धे हुए ब्रह्माण्ड के सब लोक' का श्रोतक भी । अन्तर्तो गत्या भाव समान रहेगा ।

संहितापाठ.

पदपाठः

५. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां	तत् । अस्प । प्रियम् । अभि ।
नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।	पाथः । अश्याम् । नरः । यत्र
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्या	देवयवः । मदन्ति । उरुक्रम-
विष्णोः पुदे परमे मध्य	स्य । मः । हि । बन्धुः । इत्या ।
उत्तमः ॥ ५ ॥	विष्णोः । पुदे । परमे । मध्यः
	उत्तमः ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम्—आतिष्याया "तदस्य" इत्येषा प्रधानस्य याज्या । "अपातिष्या" इति गण्डे सूत्रितम्—“इदं विष्णुर्विचक्रमे, तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्” (आश्व० श्रौ० ४।५) इति ॥ अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं

तत् सर्वं सेव्यत्वेन प्रसिद्धम् पाथ । अन्तरिक्षनामैतत्, “पाथोऽन्तरिक्ष
 पथा (नि० २ । २८) व्याख्यातम्” (निरु० ६ । ७) इति यास्मिन्नेति त्वात् ।
 अविनश्वर ब्रह्मलोकमित्यर्थः । अद्याम् । व्याप्नुयाम् । तदेव विशिष्यते ।
 यत्र स्थाने देवयवो देव द्योतनस्वभावात् विष्णुमात्मन इच्छन्तो यज्ञदाना
 दिभिः प्राप्तुमिच्छन्तो नरो मदन्ति सुप्रियमनुभवन्ति । तदस्यामित्य
 न्ययः । पुनरपि तदेव विशेष्यते । उरुक्रमस्यात्यधिकं सर्वं जगदाक्रममा
 णस्य तत्तदात्मना, अतएव विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमं उत्कृष्टं
 निरतिशये केन्द्रमुखात्मके पदे स्थानं मध्यो मधुरस्योत्सो निष्यन्दो
 वर्तते । तदद्याम् । यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभय नास्ति सङ्क
 ल्पमात्रेणामृतशुल्यादिभोगा प्राप्यन्त तादृशमित्यर्थः । ततोऽधिकं
 नास्तीत्याह । इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धु स खलु सर्वेषां सुवृ
 त्तिना बन्धुभूतो हितकरो वा, तस्य पदं प्राप्तवता न पुनरावृत्तेः । ‘न च
 पुनरावृत्तः’ (छा० उ० ८ । ११ । ११) इति श्रुतस्य बन्धुत्वम् । हिंसाद
 मर्षश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—(म) [अस्य] इस (विष्णु) क [तत्] उस [प्रियम्]
 (कल्याणनारक हाने स) अभीष्ट [पाथ] (स्था क) स्थान को [अभि
 भव्याम्] प्राप्त कर सर्व [यत्र] जिनमें [देवयव] कल्याण क इच्छुक [नर]
 मनुष्य [मदन्ति] आनन्द प्राप्त करते हैं । [हि] इन सन्देह [स] वह
 (मैं) [इत्था] इस प्रकार [उरुक्रमस्य] व्यापक गति वाले (विष्णु) का
 [बन्धु] मत्त (रूप मित्र) हूँ । [विष्णो] विष्णु क [परमे] सर्वोत्कृष्ट
 [पदे] (प्राप्तव्य) स्थान में [मध्य] शहर का [उत्स] सरना है ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१ तत्—इसे उ० १ । १३२ म √ तन् स व्युत्पन्न किया
 गया है—तनुते विलुतो भवताव तत् । अतः वह विलुत पाथ, जिस का वर्णन
 अगले पाठ में किया है ।

२ अस्य—उ० ४ । १५७ म ‘इदम्’ को √ इन्द् परमेश्वर्यवान् होना से
 व्युत्पन्न किया गया है—इन्ति परमेश्वर्यहेतुर्भवतीति । निघ० ४ । १ । ६२ म
 ‘अस्य’ को पदनामो म पठ कर इसे गति, प्राप्ति और ज्ञान—अर्थ वाला माना

है। निधं० १। १२। १०१ में 'इदम्' को जल का प्रतीक बताया है। (वेभाप० ३०। २९-३० भी देखें।) अतः यह 'परमैश्वर्यशाली, सर्वव्यापक और कल्याणप्रद विष्णु का चोतन है।

३. प्रियम्—√प्री से। प्रसन्न करने वाला। तु. क. दभा०—यत्न प्रीणाति तत्। अतः कल्याणकारी, अमीष्ट।

४. पायः—√पा रखा करना से। रखा करने वाला। सा०—१. अन्तरिक्ष, २. ऋ० ७। ४७। ३ में—स्थान। दस०—उत्तम। पीटर्सन—घर। मै०—क्षेत्र शासित प्रदेश।

(11) यहाँ पर 'रक्षा, छाया' अर्थ लेना ही पर्याप्त है। तु. च० 'यस्य छायामृतम्'। ऋ० १०। १२१। २।

५. अभि श्रद्धयाम्—मै० इसे√अङ् पहुँचना का दुर्लभकारीय विधिनिष्ठा का रूप मानत है और सा०√अश् व्याप्त होना का निश्चिन्ना उत्तम पुरुष एक व० का रूप। दस० ने इसे प्राप्त्यर्थक माना है।

६. नर.—√नो से। ले जाने वाले। अतः नेता, मनुष्य आदि। परन्तु मनुष्य सशरीर विष्णुलोक में नहीं पहुँचते हैं। वहाँ आत्माओं का ही निवास होता है। 'आत्मा' पद भी√अन् गतव गति करना से बनता है। अतः यहाँ पर भी 'आत्माई' भाव लेना उचित प्रतीत होता है।

७. चर—मै०—विष्णु के तीसरे पद में—स्वर्ग, त्रिम में पितरू यम के साथ मोम पीते हैं। दस में प्रथम पाद के 'प्रियं पायः' का निर्देश मानना अधिक उपयुक्त रहेगा।

८. देवयवः—देवं देवान् का आत्मन इच्छतीति देवयुः। उम का प्रथमा बहुवचन पु०। सा०—देव=शोतनस्वभाव विष्णु। दस०—देव=दिव्य भोग। देव पद भीष्मा रिजिगीया कान्ति गति मोद मद स्वप्न आदि अर्थ वाले √दिव् से निष्पन्न होता है। अतः दस का अर्थ 'कल्याणकारी' भी है। मै०—देवों के मन्त्र। पीटर्सन—देवमीक जन।

१. उद्गमस्य स हि बन्धुरित्था—सा०—‘स हि ऋगुरित्था’—‘नि सन्देह
रूप प्रकार वह विष्णु मन्त्र पुण्यशीले का अमत्र या हितकारी है’ अथ वर ४ इस
निक्षेप वाक्य मानते हैं और ‘विष्णो पदे परम मध्य उम’—‘व्यापक परमेश्वर
४ उद्गम फल सुखामक स्थान म माधुर्य का शरणा है’ को प्रधान वाक्य ।
इस में ‘तद् अस्याम’ की पृवाढ स अनुवृत्तिलाल है ।

(11) राय और ग्रा० ने ‘स हि०’ और ‘विष्णो पदे०’ को पृथक् पृथक्
वाक्य मान कर ‘बड़ा शाक्तशाली गन्ता क मित्रो के समाज है और विष्णु क
उच्चतम निवास म माधुर्य का शरणा है’ अर्थ करते हैं । इस प्रकार रोथ
बन्धु’ को स्वर्ग का समाज—दूसरे पाद क नरो दायक की शोतक
मनुष्याचारक सजा मानत हैं और इस ऋ० १० । ११ । ३ म वर्णित
मुनित्र, बाह्यपद विष्णु क नपात् और विक्रमज पितरा का शोतक मानत हैं ।

(111) ल्यूड्विग का विचार है कि सा० ऋधु और उम को एक मानत
हैं । इस आधार पर उन्हो न अपनी अनुवाद—उस से सम्प्रा धत रहा विकृत
गति बाँटे विष्णु क उच्चतम स्थान म मधु का शरणा है’ दिया है । परन्तु सा०
बन्धु को विष्णु से भिन्न करते हैं, उस स नहा । दसो ऊपर (1) म सा०
की योजना का ध्यान । ल्यूड्विग यह भी कहत हैं कि भक्त की विष्णुभोज
म निवास क लिए कामना का कारण उस लोक म ऋधुभूत मधु क उस
का सत्ता है । सा० विष्णो पदे परम० को पाथ’ का विशेषा मानत हैं और
इस प्रकार क वाशय पत्र का स्वामी होने क कारण ही विष्णु को ऋधु कहत
हैं । अतः ल्यूड्विग का एक मात्र आधार हा भ्रातिपूर्ण है ।

(11४) पात्सन का विचार है कि बन्धु’ म ‘देवता और उम क भक्त ४
नोच क बन्धन का निर्देश हो सकता है—‘निश्चय मे विष्णु का भ्रातृव इस
प्रकार का है कि म भी वहाँ बतने की आशा कर सकू’ । य इस का
पुष्ट म ऋ० ७ । ७२ । १—युवयोर्हि न सरथा विव्याणि गमानो बन्धुस्त तस्य
वित्तम्—देते हैं । इस में बन्धु’ को सख्या का समानार्थक मानते हैं ।

(४) मै० ‘स’ में ‘पाथस्’ का निर्देश मानत हैं और ‘ऋधु’ की
समीपता के कारण नपुंसक लिंग क स्थान म पुल्लिङ्ग का प्रयोग ।

(VI) पित्रल ने उत्सार्द्ध का अनुवाद—‘वितृत गन्ता विष्णु क उच्चतम प्रदेश म नि मन्देह हमार सन्ध है, वहा मधु का जरना है ।’—किया है । वे इत्या का अर्थ—‘वहा’ करते हैं ।

(VII) जैसा हिन्गी अनुवाद म दिखाया गया है यहा पर ‘स हि बधुरि या’ ‘अभि अद्याम्’ के कप्ता—स्तोता मत्त का निर्देशक प्रतात होता है । स्तोता भरणे को विष्णु का कृपापात्र इस लिए समझता है कि उम को विष्णु क उम लोन का प्राप्त करने की लालसा है जिस में कल्याण क इच्छुन आनन्ति होत है और वहा मधु = कल्याण का उत्स = सरना = निरन्तर निवास है । इन लोन को वह विष्णु की कृपा से ही प्राप्त कर सकता है । तु क -नायमामा प्रवचनेन लभ्यो न मवथा न ऋतुना श्रुतेन । यमवैष वृणुत सन लभ्यस्तस्मैप आमा विहृणुते तनु स्वाम् ॥ मुउ० ३।२।३ तथा—उत त्वस्मै तन्व विसन्ने जायेव पत्य उद्यती सुयासा । ऋ० १० । ७१ । ४ ।

१० इत्था—उठ विद्वान् इत्ते ‘अत्र’ से व्युत्पन्न करत है । परतु इदम् + था = इत्था लून वितृतुल रूप है । उ० ४।१५७ में इदम् को √ इन्द् से व्युत्पन्न किया गया है । अत इत्था—इस प्रकार कल्याणरूप ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण ।

११ बन्धु—व्रजाति इति बन्धु (उ० १ । १०) । बन्धक । उभयपक्ष एक दूसरे क स्नेह में फस जाने क कारण मित्र या सम्बन्ध बनत बाटे दोनों ही पक्ष रन्धु कहलाते हैं । मत्त भी विष्णु का कृपा से उम क प्रेम में बध जान के कारण विष्णु का कन्धु है ।

१२ पदे—√ पद् जाना, प्राप्त करना, जानना स । अत गन्तव्य, प्राप्तव्य और दातव्य स्वरूप में । विष्णु का स्थान उम का भरण स्वरूप ही है, क्यों नि वह सर्वग्राहक है—नेवेष्टि विष्टप सर्वमिति विष्णु । वरम्भन्त्रों म वर्गित विष्णु क पद का यही भाव है ।

१३ परमे—परम ‘ईश्वर’ अर्थ का लोचक है । इस √ पृ पूरगायंर धातु म अमच् प्रत्यय लगा कर मो व्युत्पन्न किया जा सकता है । (देखा दपाउ०

५० २८१ पाटि० १) । अतः यह पद पूर्ण उत्कृष्ट निश्चय स पूर्ण करने वाला भावों का द्योतक है ।

११ मधु—मधुन का वैदिक रूप है । उ० १ १८ आर २ । १६ म इस √ मन् म व्युत्पन्न माना गया है—मन्यत विशेषण जानन्ति यस्मिन् म मधु = (उ० १ । १८ पर ऋ०) । मन्यत बुध्यते यजेत वा तत् मधु (= स मधु १ - उ० २ । ११६ पर ऋ०) । श० ७ । ५ । १ । ३ में मधु को स्वर्ग लोक का रूप आर त ३ । ८ १४ । २ में महती देवता का रूप कहा गया है । ग० ३ । ७ । १ । ११ व अनुसार यह सर कुठ मधु है । श० ६ । ४ । ३ । २ म मधु को रस ओर श० १४ । १ । ३ । ३० में प्राण कहा गया है । तै० ३ । २ । ८ । ८ म प्राणों को ब्रह्म कहा गया है ।

१५ उत्स—को उ० ३ । ६८ में √ उन्त् भिगोना से व्युत्पन्न किया गया है—उत्ति क्लियतीत्युन्त् (दभा०) । श० ६ । ७ । ४ । ४ । में आप को उत्स कहा गया है । आप भामि व द्योतक हैं । अतः मधु उत्स का भाव विष्णु = ब्रह्म के स्वरूप, ज्ञान, रस और तत्त्व की व्याप्ति होगा ।

१६ सदस्य—श्री पादमन व विचार म यह मन्त्र आगामी जन्म में सुखप्राप्त क भिक्षास का सूचक है । दूसरे जन्म में सुख का अभिप्राय सामान्यतः स्वर्ग समझा जाता है । ऊपर की त्रिपिण्डियों के अनुसार यहा स्वर्ग निर्देश्य नहीं है प्रत्युत विष्णु व स्वरूप में व्याप्ति = लय अथात् मोन का कथन किया गया है । इस से कमलाद, पुनर्जन्मवाद और सुखदुःख का चारण पूर्व जन्म क कर्मों का फल होना आदि विचारों की सत्ता और व्यापकता का अनुमान किया जा सकता है ।

इच्छाओ के पूरक (विष्णु) का [क्षत्] वह [परमम्] उच्चतम [पदम्] स्थान [भूरि] अत्यधिक [अब माति] जाज्वल्यमान है ॥ ६ ॥

टिप्पणिया—१ ता—तानि का वैदिक रूप । √तन् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण इस का भाव—वे प्रसिद्ध सुप्रिस्तुत—होता है । मन्त्र ५ में तद् पर टिप्पणी भी देखें ।

२ वाम्—यह युष्मद् का द्विताया, चतुर्थी या पष्ठी का रूप हो सकता है । सा० ने चतुर्थी का आर दस० और मे० आदि ने पष्ठी का रूप माना है । सा० ने इस में यजमान और यजमानपत्नी का निर्देश माना है । पीटसन लिखते हैं कि सा० का यह विचार ठीक नहीं । यहा विष्णु के सहचारी किसी अन्य देवता का निर्देश ही अभीष्ट है । वह देवता कान सा है—यह समस्या सरल नहीं । रीथ इस मन्त्र को मित्राग्रज का मानते हैं, जो 'परम पदम्' के प्रयोग के कारण इस सूक्त में अन्वयस्थित रूप में डाला गया है । इसी प्रकार का अन्य देवता—मित्र का निर्देश दूसरे देवता—वरुण के गुक्त म उम के सहचर के रूप में बिना उस का नाम लिए ऋ० १।२०।६ में भी आया है—तद्विस्मानमाशाते वनन्ता न प्र युच्छत । धृतप्रताय दाशुपे ॥ मे० इन (वाम्) में इन्द्र और विष्णु का निर्देश मानते हैं, क्यों कि विष्णु के साथ इन्द्र का हा घनिष्ठ साहचर्य है । इस कारण उसी की विष्णुसूक्त में आनुषंगिक रूप में कल्पना सम्भव है । इस द्विवचनान्त वाम् पद के कारण अगले सूक्त (ऋ० १।१५५) के प्रथम दो मन्त्रों में इन्द्राविष्णू की स्तुति की जानी स्वाभाविक रही होगी ।

(१) दस० ने यहा योगी अध्यापक और उपदेशक का निर्देश माना है । दस० ने इस के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है, न कोई व्याख्यान किया है । यह प्रकरण या मन्त्रस्य वर्णन के आधार पर ही किया गया प्रतीत होता है । जैसा पिछले मन्त्र की टिप्पणियों में दिखाया गया है वहाँ परम पद का भाव विष्णु का स्वरूप ही है । वही वर्णन यहा है । इस स्वरूप को जानने और प्राप्त करने वाले योगी बन ही होते हैं, यह सिद्धान्त वैदिक काल से चला आ रहा है । तु. क. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित् । वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु परिष्टुतिः ॥ ऋ० ५।८१।१, य० ५।१४।

उपद्वरे गिरीणा सगये च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥ ऋ० ८।६।२८ ।
आदि । उपनिषदों और योगदर्शन आदि की भी यही मानना है ।

(iii) उ० १।१३९ में युष्मद् को $\sqrt{\text{युष्}}$ सेवन करना से व्युत्पन्न किया ।
गया है । $\sqrt{\text{युष्}}$ का रूप योषिष्टि निघ० २।१४।५० में गत्यर्थक है । अतः
निघ० ४।३।२९ में 'अस्मे' के पदनामों में पाठ के आधार पर 'युष्मे' को भी
पदनाम मानना अनुचित न होगा । उधर 'वामः' के समान 'वाम्' को $\sqrt{\text{वा}}$
जाना से भी ग्रहण किया जा सकता है । ऐसी परिस्थित में दस० का अर्थ ही
प्राप्त माना जा सकता है ।

३. वास्तूनि—उ० १।७० में इत्ते $\sqrt{\text{वस्}}$ धातु से 'अगार' अर्थ में
व्युत्पन्न किया गया है । $\sqrt{\text{वम्}}$ को निवास और आच्छादन-दोनों अर्थों में
लिया जा सकता है । आच्छादक निगम ।

४. उश्मन्ति— $\sqrt{\text{वश्}}$ इच्छा करना से लट् लकार उत्तम पु० बहुवचन
का वैदिक रूप । इच्छा करते हैं ।

५. गर्मध्वै— $\sqrt{\text{गम्}}$ जाना से अप्यैन-प्रत्ययान्त तुमुवचन में वैदिक रूप ।
जाने के लिए, प्राप्त करने के लिए ।

६. गावः भूरिशृंगा.—मा०—अत्युन्नत या तम के आशय के योग्य
किरण । पीटर्जन—असंख्य किरणों वाले तारे; दु० क० पुराणों में वर्णित गोलोक
और गोदुल । मै०—सा० और यास्क के किरण-अर्थ को सम्मन मानते हैं
क्यों कि उपर्युक्त की किरणों की गीलों से उपमा दी गई है और प्रकाश के लोक
विष्णु के तृतीय पद के अनुरूप सूर्य के प्रकाश से सम्बन्धित वस्तु ही उपर्युक्त
हो सकती है । ये पीटर्जन द्वारा स्वीकृत राय के 'तारे' अर्थ को निराधार
मानते हैं । भूरिशृंगाः—उद्धत से सींगों वाली का भाग अनेकों दिशाओं में
सूर्य की किरणों का फैलना है । दम०—भूरिशृङ्ग-उत्कृष्ट तेजी वाली ।

(ii) तै० ३।९।८।३ में गौः को अन्न कहा गया है । अन्न को
श० ८।३।२।१ में श्रीः, तै० ३।२।३।४ में चन्द्रमा, श० ७।५।
२।६० में अथा पाथः कहा गया है । प्रत्येक भोग्य पदार्थ अन्न है ($\sqrt{\text{अद्}}$

से) । श० ७ । ५ । २ । १९ में गौ को विराट्, ता० ४ । ९ । ३ में विराट् का रूप, श० ७ । ५ । २ । १९ में अजस्र सोम और श० १२ । ९ । १ । ४ में पुरुष का रूप कहा गया है । अतः यहाँ गाव का भाव 'आनन्दन्यायन व्याप्तिशाल भोग्य सन्तैः शान्तिप्रद विष्णु का स्वरूप' है ।

(111) श्र० १ । २१ में भूरिज को $\sqrt{\text{भृ}}$ धारण-पोषण करना से व्युत्पन्न किया है, यास्क ने न० २ । ७ में बहु से, आर नहु को प्रभवतीति सत — समर्थ होने के कारण कह कर प्र + $\sqrt{\text{भू}}$ स । अतः भार-धारण, पोषण आर सर्वशक्तिमान् ।

(112) श्र० २ । ७ में $\sqrt{\text{श्रि}}$ सेवा करना आश्रय लेना, $\sqrt{\text{श्रु}}$ हिंसा करना, $\sqrt{\text{शम्}}$ शान्त होना (या करना), आर शरण + उद् $\sqrt{\text{गम्}}$ से व्युत्पन्न किया गया है । अतः श्रृग—सेवनाय, दुःखनाशक शान्तिन्यायक ओर शरणभूत ।

(113) अतः पृवार्द्ध के महत्त्वपूर्ण पदों का सामूहिक भाव यह हुआ—धारक पोषक सर्वशक्तिमान् सज्जीन दुःखनाशक शान्तिन्यायक शरणभूत आनन्दमय व्यापक प्राप्त करने योग्य शान्तमय परमेश्वर का स्वरूप रूप आच्छादक निरासी । ये निरास विष्णु का स्वरूप स भिन्न नहीं हैं ।

७ अयाम् — सा० — १ चलने वाला, गातमान्, आतवितृत २ गर्तिहीन-परम प्रशशमान । नम० — प्राप्त हुए, पहुँचे हुए । ये भाष्यकार यास्क का अनुसार इसे $\sqrt{\text{इ}}$ जाना का रूप 'अश' का प्रथमा बहुवचन मानते हैं । मै० कहते हैं कि ऋग्वेद में अयाम् (द्विताया एक व०) अयाम् (२ ताया बहु व०) अयासाम् (६ टी नहु व०) का प्रयोग स शत होता है । कि यह पद अयाम् है । सिंह, मरुतो, आर अश्व का विशरण होने से इन का अर्थ चुरत ताव्रगामी, चपल होना चाहिए । रौथ इसे अ + याम् ($\sqrt{\text{यम्}}$ स) में मान कर इस का अर्थ अपने पर भार न डालने वाले, हल्का, चुस्त, कुशल कर्त हैं । ऋग्वेद में यह अर्चय आर अजरा का भाव विशेषण है । पाठान्न — न यकने वाला । उ० ४। २२ में इसे $\sqrt{\text{इ}}$ से व्युत्पन्न किया गया है और अग्नि का पर्याय बताया गया है । देखो नम० — एत प्राप्नोत अया । अग्निवा । स्वरादपाठादव्ययम् । अतः एव गीतादिराम् प्रत्यय । इस का अव्यय प्रत्ययैव

हैं । टपा३० १।८१ में इस को अव्यय नहीं माना है । वहा पर वृत्तिवार ने इस के दो अर्थ काल और आदित्य दिए हैं । अतः ऊपर गायः आदि के भाव के अनुरूप इस का भाव—‘सृजक होने के कारण गतिमान्, काल रूप, सत्र का आश्रयता’ होगा ।

(11) डुहगायस्य—के लिए मन्त्र १ में उरगायः पर, वृष्णः के लिए मन्त्र ३ में वृष्णे पर, परमं पदम् के लिए मन्त्र ५ में पदे परमे पर टिप्पणियाँ देखें ।



ऋ० २।१२-इन्द्रसूक्तम्

ऋषिः-गृत्समदः । देवता-इन्द्रः । छन्दः-त्रिष्टुप् । स्वरः-धैवतः ।

संहितापाठः

पदपाठः

७. यो जा॒त ए॒व प्र॑थ॒मो मन॑स्वान् । यः । जा॒तः । ए॒व । प्र॒थमः । मन॑स्वा॒न् ।
 दे॒वो दे॒वान् क्र॑तु॒ना प॒र्यभू॑पत् । दे॒वः । दे॒वान् । क्र॑तु॒ना । प॒रि॒ञ्ज॒भू॑पत् ।
 यस्य॑ शु॒ष्माद् रोद॑सी अ॒भ्य॑सेतां । यस्य॑ । शु॒ष्मात् । रोद॑सी इति ।
 नृ॒म्णस्य॑ म॒ह्ना स॒ ज॒नासु॑ इन्द्रः ॥१॥ अ॒भ्य॑सेताम् । नृ॒म्णस्य॑ । म॒ह्ना । सः ।
 ज॒नासुः । इन्द्रः ॥१॥

सायणभाष्यम्—द्वितीयेऽनुवाक एकादश सूक्तानि । तत्र “यो जात” इति पञ्चदशच प्रथम सूक्तं गार्त्समद त्रैष्टुभमैन्द्रम् । सप्तमे निष्पेबल्ये निविद्वानीयस्य पुरस्ताद् “यो जात एव” इति [सूक्त] शसेत् । “यदि पयायान्” इति एण्टे सूक्तम्—“यो जात एवेति निष्पेबल्ये” (आश्व० श्रौ० सू० ६।६) इति । आभिष्विक्ते तृतीयेऽहनि निष्पेबल्ये “यो जात एव” इति निविद्वानीयम् । सूक्तं च—“तृतीयस्य न्ययमा यो जात एवेति मध्यन्दिन ” (आश्व० श्रौ० सू० ७।७) इति । विश्वजिति माध्यन्दिनसवने मनावरुण त्वयस्त्रे प्राकृतात् सूक्तात् पूर्वं “यो जात” इति साममूक्तं शसेत् । “विश्वजितोऽग्नि नर ” इति खण्डे सूक्तम्—“सत्रा मद्रासो यो जात एवाभूरेक इति साममूक्तानि” (आश्व० श्रौ० सू० ८।७) इति । अग्निष्टुनिष्पेबल्ये निविद्वानमिदम् “श्येनाजराभ्याम्” इति एण्डे सूक्तम्—“तिश्र हरी [इति] यो जात एवेति मध्यन्दिन ” (आश्व० श्रौ० सू० ९।७) इति । महाव्रते निष्पेबल्ये “यो जात एव” इति सूक्तम् “उरू” इति एण्टे सूक्तम्—“वने न वा यो न्यधायि चावन् यो जात एव प्रथमो मनस्वान्” (ऐ० आ० ५।१२) इति ॥

अप्रेतिहासो बृहदेवतायाम् (४।६५-७९) उक्त —

“सयुग्य तपसात्मानमैन्द्र विभ्रन्महद् वपु ।
अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च ॥
तमिन्द्र इति मत्वा तु दैत्यो मीमपयक्रमौ ।
धुनिश्च चुमुरिधोभौ सायुषावभिपेततु ॥
विदित्वा स तयोर्मावमृषि पाप चिकीर्षतो ।
यो जात इति सूक्तेन कमाप्यैन्द्राण्यनीततत् ॥”

(बृहदे० ४।६६ ६८)

अन्त्रे त्वन्यथा धर्णयन्ति—पुरा क्लिष्टेन्द्रादयो वै-वपस समागन्तु ।
यत्समदोऽपि तत्रागत्य सदस्यासीत् । दैत्याश्चैन्द्रजिषामथा तन समागमन् । तान्
दृष्ट्वा निर्जगामेन्द्रो यज्ञाद् यत्समदाहृति । स च यत्समदो वैग्येन पूजितो
यज्ञादाभिरगच्छत् । निर्गच्छन्त तमृषिं दृष्ट्वापमेवेन्द्र इति मायमानास्तममुप
परिगृह्णन् । नाहमिन्द्रस्तुच्छ, किन्तुवेवहुणोपेत स इत्यनेन सूक्तेन तान् प्रत्युवाच ॥

अपरे त्वेवं कथयन्ति—यत्समदस्य यज्ञे प्रविष्टमेकाकिनमिन्द्रं ज्ञात्वामुपा
परिवृत्तु । स इन्द्रो यत्समदरूपेण यज्ञावादाभिर्गत्य स्वर्गं जगाम । ततोऽमुप इन्द्रो
विलम्बित इत्यन्तः प्रविश्य यत्समदं दृष्ट्वा पूवमेव यत्समदो गतः, अप त्विन्द्रोऽस्म
अयात् यत्समदरूपेणास्ति इति तं जगृह्णुः । स तान् नाहमिन्द्रोऽयमित्यनेन सूक्तेन
प्रत्युवाच । अयमेनायौ महाभारते प्रपञ्चितः ॥

यत्समदो ब्रूते । जनासो जना हे असुरा यो जात एव जायमान एव
सम् प्रथमो देवानां प्रधानभूतो मनस्त्वान् मनस्विनामप्रगण्यो देवो
द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान्
यागदेवान् पर्यभूयत् । रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत् । “भूय अलङ्कारे” भूवादिः, लङि
रूपम् । यद्वा—सर्वानन्यान् देवान् पर्यभूयन् पर्यभूयद् अत्यक्रामत् ।
अस्मिन् पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन क्तः । “भूयुक्तः किति” (पा० ७।१।११)
इतीति प्रतिषेधः । यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शरीराद् बलाद् रोदसी द्यावापृथि-
व्यावभ्यसेतामविभीताम् । “भ्यस मये” अनुदासते । “भ्यसते रेजत इति

भयवेपनयोः” (निरु० ३।२१) इति नैरुताः । अभ्यसेतामवेपेता वा । तथा च मन्त्रान्तरम्—“इमे चित्तव मन्यवे वेपैने भियसा महो” (ऋ० १।८०।११) इति । नृग्नस्य सेनालक्षणस्य बलस्य महा महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रो नाहमिति । अत्र निरुक्तम्—“यो जायमान एव प्रयमो मनस्वी देवो देवान् ऋतुना कर्मणा पर्यभूत पर्यगृह्णात् पर्यरञ्जदत्यक्रामदिति वा । यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यभिधीता नृग्नस्य महा बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इत्युपेक्षास्य प्रीतिर्भूतत्याख्यानसयुक्ता” (निरु० १०।१०) इति ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस [प्रथमः] प्रमुख पहले से ही वर्तमान [मनस्वी] महानुभाव [देवः] द्योतनशील देव ने [जातः] उत्पन्न होने [एव] ही [ऋतुना] (अपने) सामर्थ्य से [देवान्] (सब) देवा को [पर्यभूतन्] सब ओर से अलङ्कृत किया हुआ है, [यस्य] जिस के [शुष्मान्] बल से (और) [नृग्नस्य] नेतृत्व की [महिम्ना] महिमा से [रोदसी] द्युलोक और पृथिवी लोक [अभ्यसेताम्] रूपाते रहे हैं, [जनासः] (हे) पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥१॥

टिप्पणियाँ—१. यः—उ० १।१३२ में इसे ✓ यज् (देवपूजा, सगतिकरण और दान) से व्युत्पन्न किया गया है—यजति नर्वेः पदार्थः सगतो भवतीति यत् (दभा०) । दस० ने यहाँ पर इने ब्रह्म का नाम भी माना है । दपाड० ६।४१ में इसे ✓यत् प्रयत्न करना से व्युत्पन्न किया गया है । अतः इस का भाव ‘वृष्टिरचना में प्रयत्नशील प्रकृति के परमाणुओं और जीवा की योजना द्वारा समस्त पदार्थों का रचयिता ब्रह्म’ है ।

२. जात एव - पुरुषसूक्त में पुरुष से विराट् की उत्पत्ति बताई गई है । विराट् से ही शेष समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं । ब्राह्मणग्रन्थों में विराट् के वृष्टि, अग्नि, वाक्, पृथिवी, अन्न, आपः, यज्ञः आदि बहुविध अणु कर के इसी बात को व्यक्त किया है । विराट् पद वि + ✓राज् चमकना से व्युत्पन्न होने के कारण ‘परम दीप्तिमान् स्थिति का द्योतक है । अतः उसे उत्पन्न होते ही सप्त देवों को विभूषित करने वाला ब्रह्म माना है । सब पदार्थों में

विराट् का तेन ही प्रभा और शक्ति है। इस दृष्टि से मै० का 'पछाड देने, नाचा दिखा देने' का भाव भी प्राह्य है।

३ प्रथम — सृष्टि से पहले न सत् था, न असत्। केवल 'एक तत्' ही निना वायु के अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। देखो ऋ० १०।१२६।१-२। उसी से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। अतः उस 'तत् एक' ब्रह्म को प्रमुख, पहले से ही वर्तमान कहा गया है। 'प्रथम' पद √प्रथ् से (दपाउ० ७।२६, ४६) बनता है, अतः इस का अर्थ 'प्रसिद्ध, विस्तृत—व्यापक' भा होता है।

४ मनस्वान्—पदपाठ में इसे अवगृहीत नहीं किया गया है। मै० लिखते हैं कि यह स्थिति सचि क कारण है। यदि सचि मनोवान् होती तो इस अवगृहीत कर दिया जाता। उन का यह लेख ऋ० १।११।८ के मन ऽ चित् की दृष्टि में मान्य नहीं है।

(ii) इस के अर्थ सा० ने 'मनस्विया में अग्रगण्य', दस० ने 'विशान युक्त', मै० ने 'बुद्धिमान्' और पीप्सन् ने 'भयकर, घोर, उग्र' किए हैं।

(iii) ऋ० १०।१२९।४ का मन्तव्य है कि सृष्टि की उत्पत्ति क समय पुरुष के मन में कामना उत्पन्न हुई। यह कामना ही उस के मन में सृष्टि का स्वयम्भु, स्वतन्त्र यशमय व्यापक बीज बनी। यही भाव यहाँ 'मनस्वान्' पद से व्यक्त किया गया है।

५ देव देवान्—सा० और आधुनिक विद्वानों ने विभिन्न शक्तिविरोध देवताओं की कल्पना की हुई है। ये देवता उत्पन्न होने हैं। इन के नाम इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र आदि हैं। इस मन्त्र के दूसरे पाद में इस कल्पना के आधार पर इन्द्र देवता को अथ देवताओं को अभिभूत करने वाला बताया गया है। इस में देवासुर सग्राम अभिप्रेत नहीं, प्रत्युत एक की दूसरे देवता से उत्कर्ष के लिए स्पर्धा लक्षित होती है।

(iv) दस० का विचार भिन्न है। व 'देव' पद को √दिव् वायु से निष्पन्न

कर इस धातु के क्रीडा आदि दसो अर्थों के प्रकाशक पदार्थों आदि को देवता मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण में ३३ देवताओं के व्याख्यान, ब्राह्मण ग्रन्थों के देव-पद के अर्थों तथा वेदों में देवताशब्द से निर्दिष्ट और शत पदार्थों आदि से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस प्रकार न केवल ब्रह्म या परमेश्वर ही देवता है, प्रत्युत समस्त उपकारक पदार्थ, विचार आदि देवता हैं। देव और देवता समानार्थक हैं। अतः 'परमात्मा सब पदार्थों को अपनी शक्ति से तेजस्वी बनाता है, अपने सृष्टिकर्म से उन्हें उत्पन्न कर अपने शासन में स्थापित करता है।'

६. ऋतुना—सा०—वृषवष आदि अपने कर्मों से। दस०—प्रकाश कर्म से। रौथ शक्ति से। मै०—सामर्थ्य में।

(१३) इस मन्त्र और सूक्त में इन्द्र को सूर्य मानने पर सा० और दस० के अर्थ उपयुक्त हैं। परन्तु सृष्टिरचना प्रकरण में ये अर्थ उपयुक्त नहीं। यहाँ पर ब्रह्म का अपने मन से सृष्टिरचना की कामना रूपी यहमय स्वयंभु स्वतन्त्र और व्यापक रेतस् कहलाने वाले बीज को धारण कर के सृष्टिरचना रूप कर्म और शक्ति अभिप्रेत हैं।

७. पुर्यभूपत्—मै० के विचार में परि + √भूष का अर्थ अनिश्चित है। परन्तु इस सूक्त में इन्द्र की महिमा के वर्णन के कारण इस का अर्थ 'अभिभूत करना' होना चाहिए। सा० ने इस का अर्थ यहाँ पर 'रक्षाओं से अभिभूत किया, और तैस० में 'नीचा दिखाना', 'उत्कृष्ट हो जाना' किया गया है। रौथ—सुशोभित किया।

८. शुष्मान्—पीटर्सन इसे √श्वस् सास लेना से व्युत्पन्न कर इस के अर्थ 'जिस के श्वास पर, जिस के साम के सामने से' करते हैं। यह पद मरुतों के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। ऋ० १।५।२।४ में यह मरुतः का विशेषण है। वे लिखते हैं कि यहाँ 'श्वास' का अर्थ 'शक्ति' करना पद्य को गद्य में बदलना है।

(१४) इस के अनुरूप पद 'शूष्म' का प्रयोग पिछले सूक्त (१।१५४) के

मन्त्र ३ में किया गया है। जैसा वहाँ की टिप्पणियों में दिखाया गया है भारतीय भाष्यकार इसे √द्युप् से व्युत्पन्न करते हैं। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म के यशमय कामना रूपी बीज को मन में धारण करने से सर्वप्रथम अप्रवेत सखिल (= आप) की उत्पत्ति हुई। इसी आप से समस्त सृष्टि का आनिर्भाव हुआ। इस से पदार्थों की विविध गुण युक्त रचना और विभिन्न स्थलों में दृढ होना— सब कुछ इन्द्र की शोषक शक्ति से सम्पन्न हुआ है। अतः शुष्मात् का प्रयोग साभिप्राय है।

९. रोदसी—रोदयौ का वैदिक रूप है। यह पद द्युलोक और पृथिवी लोक का द्योतक है (देखो वै०, नि० ३।१०।४)। निघ० ५।५।३६ में इसे पदनामा में पद कर गति, प्राप्ति और ज्ञान अथ वाला माना है। नि० ६।१ में द्ये नि + √रुप् से निरुक्त किया गया है। नि० ११।४६ म एन्यचनान्त रोदसी को रुद्र की पत्नी कहा गया है। तै० २।२।६।४ म 'यदपदीत् (प्रजापति) तन्नयो (द्यावापृथिव्यो) रोदस्त्वम्' कह कर इसे √रुप् से व्युत्पन्न माना है। सृष्टिरचना के समय के अप्रवेत सखिल ही प्रजापति हैं। पृथिवी और द्युलोक के प्रयत्न के समय महान् शब्द की सत्ता के कारण इन्हीं रोदसी कहा गया है। उन का शब्द ही रोना है। डा० फतहसिद्द लिखते हैं कि एक दूसरे से पृथक् ज्ञात जीव और प्रकृति को भी रोदसी कहते हैं। (देखो वै० ६०९)।

१०. अभ्यसेताम्—√भ्यस् कापना से लङ् प्रथम पु० द्विवचन। वेदस्थ भूतकालिक क्रियाएँ बहुधा वर्तमान काल का अर्थ देती हैं। यहाँ पर इस पद का भाव 'अलग अलग हो कर अपने अपने स्थानों पर जमे' होगा। दस०—अलग होते हैं। मे० दखते हैं।

११. नृम्णस्य मद्भा—सा०—सेनारूप बल की महिमा से। दस०—धन की महिमा से। मे०—वीरता की महिमा से।

(१२) नृम्ण पद √नृ (ले जाना) से बनता है। अतः इस का अर्थ 'नेनृत्व' किया जा सकता है। समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादक, धारक और नाशक

होने के कारण परमात्मा (- इन्द्र) ही नायक है । उस के नायक गुण से ही समस्त सृष्टि की सत्ता है ।

✓ १२. महा—महिम्न ■ तृतीया का एक व० । वैदिक रूप ।

✓ १३. स र्जनास इन्द्रः—यह प्रतीक अन्तिम मन्त्र को छोड़ कर इस सूक्त के शेष सब मन्त्रों के अन्त में पाई जाती है ।

(११) श्री पीटर्सन लिखते हैं कि इस का सायणीय व्याख्यान—‘मैं नहीं, वह इन्द्र है’—बृहदेवता से उस के द्वारा उद्धृत उपहासास्पद कथा की ओर निर्देश करता है । इस कथा से बृहदेवता के रचयिता और इस सूक्त के रचयिता के काल और भावनाओं में दूर का अन्तर सुलभित होता है ।

(१२) सायण ने इस सूक्त के सम्बन्ध में तीन आख्यान दिए हैं । तीनों का भाव यह है कि असुर गृत्समद को ही इन्द्र मान कर उस पर आक्रमण करते हैं । गृत्समद उन के भाव को जान कर अपनी रक्षा के लिए इस सूक्त के मन्त्रों से असुरों को बताता है कि वह इन्द्र नहीं है, प्रत्युत इन्द्र का स्वरूप उस के वर्णन के अनुसार है । असुरों को यह तथ्य जान कर गृत्समद को नहीं मारना चाहिए ।

(१३) इन्द्र की स्थिति तो स्पष्ट है । वह इस समस्त जगत् का रचयिता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही है । गृत्स को 'नघ० ३।१५।३ में मेघादिनामा में पढ़ा गया है । अतः मेघादिवियों में मद के समान उत्कृष्ट या आनन्द लेने वाले को गृत्समद कहते हैं । जन लोग इस व्यक्ति को ही ब्रह्म समझने लगते हैं तो ब्रह्मज्ञानी मेघावी (= गृत्समद) उन्हें बताता है कि जीवात्मा ब्रह्म नहीं है । उस में ऐसी सामर्थ्य नहीं जो ब्रह्म में है और इस सूक्त में वर्णित की गई है । उत्पन्न होने वाले का नाम जन है । अमूर्न् प्राणान् रति गृह्णाति धारयतीत्यसुरः—इस व्युत्पत्ति से 'असुर' 'जन' का पर्यायवाची हो जाता है । अलंकार से रहित इस सूक्त से सम्बन्धित कथाओं का उपरोक्त भाव सुस्पष्ट हो जायगा ।

✓ १४. इन्द्रः—ऋग्वेद के धर्म में यह प्रमुख देवता है । यह वीरकर्म करता है और सोमरस पीने में सर्वाधिक रुचि लेता है । इस का प्रमुख कर्म वृष या अहि या सर्प का वध है । सामान्यतः इसे सूर्य माना जाता है ।

(ii) एक मन्त्र (ऋ० १।१०७।१९) में इसे इन्दु + रन् से व्युत्पन्न माना प्रतीत होता है। डा० फतहसिंह ने वैदिक साहित्य से इस की लगभग १७ व्युत्पत्तियाँ संकलित की हैं और उन को पाँच वर्गों में रक्खा है—

१. इन्धः

२. इदम् + √ दृ ; इदम् + √ दृश् ; इदम् + √ धृ ; इद + कर ।

३. इयम् + √ दृ , इयम् + √ दा ; इयम् + √ धा ।

४. इन्दु + √ दृ , इन्दु + √ रम् ; इन्दु + रन् ।

५. इन्द—र ; इन्द् + √ दृ ; इन्द् + √ दृश् ; इन्द् + आ दृ ।

उन के विचार में इन्द—र ही सर से उपयुक्त निर्वचन है। इस की अव्य० ओदिन् या वादिन् से घनिष्ठ समानता है। (देखो वैया० पृ० ६४ ; १०२) । ढस० ने भी इसे √ इदि परमैश्वर्य से निरुक्त किया है और इस के अनेकविध अर्थ जैसे परमेश्वर, सूर्य, राजा, और विद्वान् आदि किए हैं। आधुनिक विद्वानों ने अपनी अपनी कल्पनाएँ ढौडा कर इन्द्र का मूल स्वरूप बताने का भगीरथ प्रयत्न किया है। एक ने तो इसे ईरान का रुक्षम नामक पहलवान ही घोषित कर दिया है।

(iii) परन्तु विचारणीय यह है कि ऋ० १।१३६।२ में 'इन्द्र' अग्नि का विशेषण है और ऋ० ७।७६।३ में उपस् के विशेषण 'इन्द्रतमा' में इस के साथ तमस् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। पुनरुक्त ऋग्यजु में इस का अग्नि, इन्दु, मोम और विष्णु से तादात्म्य पाया जाता है। इसे 'एक सत्' का नाम भी कहा है। अतः 'इन्द्र' पद ऋग्वेद में किसी एक वस्तु या दृश्य विशेष का द्योतक नहीं। भिन्न भिन्न स्थलों पर इस का विषयानुसार अर्थ धरना उचित प्रतीत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के इन्द्रपद के अनेकविध अर्थों—तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, क्षत्र, अशनि, वरुण, प्रजापति, देवलोक, वीर्य, शिघ्र, उद्गाता, अश्व, आदि से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

संहितापाठः

पदपाठः

८. यः पृथिवीं व्यथमानामदंहत्	यः । पृथिवीम् । व्यथमानाम् ।
यः पर्वतान् प्रकुपितौ अरम्णात् ।	अदंहत् । यः । पर्वतान् । प्रकुपि- तान् । अरम्णात् । यः ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो	अन्तरिक्षम् । विममे । वरीयः ।
यो घामस्तम्भान् स जनासु इन्द्रः	यः । घाम् । अस्तम्भान् । सः ।
॥२॥	जनासुः । इन्द्रः ॥२॥

सायणभाष्यम्—हे जना य इन्द्रो व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीमदंहत् शर्करादिभिर्दृढामकरोत् । “दह दहि [वृह वृहि] वृद्धौ” । यश्च प्रकुपितानितस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतानरम्णात्रियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान् । अरम्णात्—“रमु क्रोडायाम्” अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन इमाप्रत्ययः । यश्च वरीय उरुतममन्तरिक्षं विममे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थः । यश्च घा दियमस्तम्भान् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत् । “स्तम्भु गेघने” इति सूत्रो (पा० ३।१।८२, ८३।१।१६) घातुः । स एवेन्द्रो नाहमिति ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [व्यथमानाम्] कापती हुई [पृथिवीम्] पृथिवी को [अदंहत्] स्थिर किया हुआ है, [यः] जिस ने [प्रकुपितान्] चबल [पर्वतान्] पहाड़ों को [अरम्णात्] शान्त किया हुआ है, [यः] जिस ने [वरीयः] महान् विस्तृत [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष लोक को [विममे] बनाया है और [यः] जिसने [घाम्] धूलोक को [अस्तम्भान्] जमाया हुआ है, [जनासुः] हे मनुष्यों, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. व्यथमानाम्—मैत्रायणी संहिता १।१०।१३ में एक आख्यान मिलता है जिस में कहा गया है कि पर्वत प्रजापति के बड़े पुत्र थे

उन के पल थे। अतः जहाँ चाहते थे वे बैठ जाते थे। इस से पृथिवी शिथिल रहती थी। इन्द्र ने पर्वतों के इन पक्षों को काट दिया और पृथिवी को स्थिर कर दिया। पर्वतों के कटे हुए पक्ष बादल (—जीमूत) बन गए। अपना उत्तराति-स्थान होने के कारण ही बादल वर्षा श्रुतु में पर्वतों पर आश्रय लेते हैं।

(ii) इस आख्यान में मानवसृष्टि से पूर्व का वर्णन है। उस समय सब कुछ अस्थिर, चञ्चल था। सभी वस्तुओं का स्वरूप बन रहा था। इस स्वरूप का निर्माता इन्द्र था—यह इस सूक्त से ज्ञात होता है।

(iii) दस० ने इस भाग का भाव '(परमेश्वर ने) सूर्य के निर्माण द्वारा चलते हुए पृथिवी आदि लोका को अपनी अपनी परिधि में गति करने के लिए धारण किया हुआ है' लिखा है।

२. प्रवृत्तिर् अरम्भात्—प्रवृत्तिर्ना + अरम्भात्। वैदिक सन्धि। ऋग्वेद में पदान्त आन् को स्वर आगे आने पर ओं लिखा जाता है। ऐसे अधिकांश स्थलों में आन् मूल आन्स् के लिए प्रयुक्त हुआ है। आगे स्वर आने पर इस आन्स् को आस् के समान ही समझ कर सन्धि की जाती है। (देखो पीटर्सन हिग्ज फ्रीम वी ऋग्वेद, भाग १, पृ० ७२—श्रु० १।२५।११ में चिकित्वाँ पर टिप्पणी)।

(ss) आधुनिक विद्वानों का कहना है कि इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में √क्षुप् का अर्थ 'गति' था और यह शब्द जगत् से सम्बन्ध रखता था। लक्षणा से यह वातु मौक्तिक जगत् से हट कर भावात्मन मानसिक जगत् में प्रयुक्त होने लगी और वहाँ सङ्कृत में यह 'क्रोश' की और लैटिन में 'इच्छा' की स्रोतक बन गई।

(iii) अरम्भात् में भी अन्त्यार्थ के प्रसार पर इसी प्रकार का प्रकाश मिलता है। वेद में इस का अर्थ 'विश्राम करना' है, परन्तु लोक में यह सब प्रकार के आनन्द का उपभोग करने में प्रयुक्त होती है, केवल विश्रामजन्य सुख के उपभोग का ही नहीं।

(iv) परन्तु ऋग्वेद १।५४।४ के 'त्व दिवो बृहत्तः सानु कोपयः', ५।५७।३

के 'कोपयथ पृथिवीं पृथिमातरः', १०।४४।८ के 'द्यौः क्रन्ददन्तरिभाणि कोपयत्' और प्रकृत मन्त्र में ✓ कुप् का प्रयोग एकान्ततः बाह्य गति का चोतक नहीं माना जा सकता । इस में क्रोध का भाव स्पष्ट शलकता है । ऋ० १।१४।१३ में 'कुपयम्' को भी ऐसी ही स्थिति मानी जा सकती है ।

(७) ऋ० ८।१०।१।४ के 'न सवादाय रमते', १०।१४५।४ के 'नो अस्मिन् रमते जनः', ५।५२।१३ के 'समृषे मास्त गण नमस्या रमया गिरा', १०।४२।१ के 'नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्', ७।५६।१६ के 'इमे तुर मरुतो रामयन्ति', १०।३८।१३ के 'वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः' में ✓ रम् का प्रयोग लौकिक अर्थों में ही हुआ है । इन मन्त्रों के ऋषियों में से जमदग्नि, श्यावाश्व, कृष्ण और वसिष्ठ प्राचीनतम काल के हैं । वे श्वस्तमद् से पीछे के नहीं हैं । अतः प्रकृत मन्त्र में ✓ रम् के प्रयोग को उपर निर्दिष्ट निष्कर्ष का पोषक मानना विचारणीय है ।

(८) दस० ने निघ० २।१९।२४ (वचकर्मा) के आधार पर इसे वध—अर्थ में लिया है—जो (सूर्य) अत्यन्त कोपमुक्त शत्रुओं के समान वर्तमान मेघों को छिन्न भिन्न करता है ।

३. विममे—पीछे ऋ० १।१५४।१ में विममे पर टिप्पणी देखें । श्री म्यूर लिखते हैं कि यहाँ पर इस का अर्थ 'निर्माण किया' हो सकता है । दस०—विशेष रूप से मान करता है ।

४. वरीयः—उरु + ईयस्, नपु० द्वितीया एक व० । मै० का विचार है कि इस का प्रयोग 'विस्तृत होने के लिए पैला हुआ' भाव का व्यञ्जक है । तु० क०—'अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथमं जीवसे नो रजामि' (ऋ० ६।६६।५)—'इन्द्र और विष्णु तुम ने अन्तरिक्ष को चौड़ा किया है और हमारे रहने के लिए स्थानों को पैलाया है ।'

१. जमदग्निर्मार्गयः ।

२. इन्द्राणी ऋषिका ।

३. श्यावाश्व आत्रेयः ।

४. कृष्ण आगिरसः ।

५. मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः ।

६. वच एत्यः, असौ मौजवान् वा ।

(ii) उन्—१८१/ऊर्णु (हवना) से बनता है । अन्तः यहाँ आच्छादक अर्धं अभिप्रेत है । ऊपर उद्धृत श्र० ६।६६।५ में यो धीयः का यही अभिप्राय है ।

५. याम्—यो का द्वितीया एक व० । सा०—स्वर्ग । मै०—आकाश, स्वर्ग । दम०—प्रकाश ।

६. अह् हन्, अरम्भान्, अस्तम्भान्—क्रमशः √हृद्, √रम् और √स्तम् से हृङ् लकार प्रथम पु० एक व० के रूप हैं ।

संहितापाठः

पदपाठः

१. यो ह॒त्वाहि॒मरि॑णात् सु॒प्त	यः । ह॒त्वा । अ॒हिम् । अ॒रि॑णात् ।
सिन्धून्	सु॒प्त । सिन्धून् । यः । गाः ।
यो गा उ॒दाज॑द॒पथा॑ च॒लस्य॑ ।	उ॒त्त॒आज॑त् । अ॒प॒था । च॒लस्य॑ ।
यो अ॒श्मनो॑र॒न्तर॑ग्निं ज॒जान॑	यः । अ॒श्मनोः । अ॒न्तः । अ॒ग्निम् ।
मृ॒ष्ट्वा सु॒मत्सु॑ स ज॒नासु॑ इन्द्रः	ज॒जान॑ । मृ॒ष्ट्वा । सु॒मत्सु॑ ।
॥३॥	सः । ज॒नासुः । इन्द्रः ॥३॥

सायणभाष्यम्—योऽहिं मेघं ह॒त्वा मेघ॑हननं कृ॒त्वा सप्त॑ सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपोऽरिणात् प्रेरयत् । यद्वा सप्त गन्नायमुनाद्या मुन्या नदीरिणान् । “शीहृ॒खण्णे” ऋचादिः । यश्च चलस्य चलनामकस्या-सुरस्य अपथा तत्त्वर्त्कान्निरोधाभिरुद्धा गा उ॒दाज॑न्निरगमयन् । अपथा । अपपूर्वादिधातेः—“अत॒श्चो॒रस॒तो” (पा० ३।३।१०६) इति भावऽह् प्रत्ययः । ‘मु॒षा मु॒ष्ट्व००’ (पा० ७।१।३९) इति पञ्चम्या आकारः । यश्चाश्मनोः—अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः । अत्यन्तगृदुरूपयोर्मेघयोर-न्तर्मध्ये वेद्यतमग्निं ज॒जानो॑त्पादयामास । यश्च समत्सु—सम्भञ्जयन्ति योद्धृणामाधू॒पीति॑ ममदः सङ्ग्रामः तेषु—संघृक् भवति । वृणक्तेर्हिसार्यस्य विपि रूपम् । स इन्द्रो नाहमिति ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [अहिम्] सर्प (—सहस्र वृत्र) को [हत्वा] मार कर [सप्त] सात [सिन्धून्] घाराओं को [अरिणान्] बहाया है । [यः] जिस ने [वलस्य] बल के [अपघा] बाढ़े से [गाः] गौओं को [उदाजत्] बाहर निकाला है [यः] जिस ने [अश्मनोः] दो पत्थरों के [अन्तः] बीच में [अग्निम्] आग [जजान] उत्पन्न की है, (और जो) [समत्सु] युद्धों में [सवृक्] मार-काट करने वाला (है), [जनासः] दो पुरुषों, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥३॥

टिप्पणियाँ—१. अहिम्—ऋग्वेद में इन्द्र वृत्र युद्ध का बहुत वर्णन आया है । वृत्र को एक राक्षस माना जाता है जो जला को आवृत किए रहता है । इस को 'अहि' भी कहते हैं । सोमपान कर के इन्द्र मरुतों के साथ इस राक्षस का वध करता है और जला को मुक्त करता है ।

(११) इस आल्फारिक वर्णन के व्याख्यान में बिद्वाना में भारी मतभेद रहा है । ऐतिहासिक वृत्र को त्वाष्ट्र असुर मानते थे और मेघक्ष मेघ । कुछ इसे रात्री का अन्धकार, हिलेब्राण्ड नानी को जमाने वाली घोर सदा, तिलक ध्रुव प्रदेशों में प्राप्त दार्चकालीन अन्धकार समझते हैं । इस प्रकार इस के व्याख्यान में आजकल चार मुख्य वाद मिलते हैं—१. मेघवाद २. उषोवाद ३. वसन्तवाद और ४. ध्रुवप्रदेशवाद । (देखो घाटे-लेक्चर्ज और दी ऋग्वेद पृ० १३७—१४१) । प० बलदेव उपाध्याय ने इसे दुर्भिन्न और अकाल का असुर माना है । ऐतिहासिकों के मन में इन्द्र देवताओं का राजा है । शेष सब वादों में इन्द्र सूर्य ही है ।

(१२) ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही इस वर्णन में अनेक दृष्टियों—वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक आदि का समावेश कर दिया गया । ऐसी स्थिति में किसी एक मत या वाद द्वारा इन्द्र-वृत्र युद्ध के समस्त वर्णनों का व्याख्यान सम्भव नहीं । जैसा वर्णन सामने हो वैसा ही व्याख्यान कर देना उचित होगा । ब्राह्मण ग्रन्थों के वृत्र के सब कुछ का आच्छादक, पाप्मा, उदर, सोम, चन्द्रमा आदि अर्थ और दम० के वृत्र के मेघ, शत्रु

सेना, धर्म के घसक, जलदाता, प्रजाजन्य सुख में मग्न, कुम्भिल, अज्ञान, आवरण, जल, धन, और शत्रुओं को पराजित करने वाले वम आदि अर्थ इस दृष्टि से ही प्रस्तुत किए गए हैं। डा० फतह सिंह ने वैदिक दशन में इस आरयान के दार्शनिक पक्ष का व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

(१७) वृत्र का यघ केवल इन्द्र का ही कर्म नहीं है। अग्नि, आप, देवा को भी वृत्र का ह ना कहा गया है।

(१८) भाष्यकारों ने 'अहि' को $\sqrt{\text{हि}}$ जाना, $\sqrt{\text{अह}}$ व्याप्त करना, आ + $\sqrt{\text{हन्}}$ माग्ना आदि से व्युत्पन्न किया है। डा० फतहसिंह इसे न + $\sqrt{\text{हि}}$ जाना से व्युत्पन्न मानते हैं (देखो वेद०—अहिपद)।

२ अरि^१णान्— $\sqrt{\text{रि}}$ बहना, + लृ प्रथम पु० एक व०। मै०—मुक्त कर दिया। मन के इस भाग में इन्द्र-वृत्र युद्ध की ओर संकेत है जिस म इन्द्र-वृत्र को मार कर जलों को मुक्त करता है। तु० क० ऋ० २।१४।२—यो अपां ववृषास वृत्र जपान—जिस ने जलों को आच्छादित करने वाले वृत्र को मारा।

३ सप्त सिन्धू^१न्—सा० ने इस के दो व्याख्यान प्रस्तुत किए हैं—एक सामान्य-बहने वाले जल। दूसरा—गंगा आदि सात नदियाँ। इन नदिया का नाम गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी दिए गए हैं। श्री मैक्स मूलर का विचार है कि ऋग्वेद के आर्यों का जीवन सिन्धु की घाटी और पंजाब म बीता। यही क्षेत्र वैदिक सप्तसिन्धु है। उस काल म गंगा दोआब का शान विरलातिविरल था और दक्षिण की ओर खोज तो अभी हुई ही न थी। आजकल सामान्यतः यही मत प्रचलित है। इन के विचार में पंजाब की पाँच नदियाँ, सिन्धु और सरस्वती ही सात नदियाँ हैं। ल्यूडियम आदि सरस्वती के स्थान पर कुमा को रखते हैं। थामस के विचार म ओक्सस प्राग्भिक् सात नदियाँ में अवश्य रही होगी। सिन्धुमयैन इन नदियों की पहचान पर कोई शक नहीं देना चाहते। वेद० इस से सहमत है और 'सात' को आर्यों की प्रियसंख्या बताता है। अन्य भी कई विद्वानों ने सप्त सिन्धुओं को समार के विभिन्न देशों

में खोजने का प्रयास किया है। एक विद्वान् ने ईरान में एक सप्तसिन्धु प्रदेश की कल्पना की है।

(ii) इस में सृष्टिरचना के समय हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर आदि सात प्रसिद्ध महासागरों के निर्माण का वर्णन अभिप्रेत हो सकता है।

(iii) पुनरुक्त अशो में 'सप्त' 'बहु' के अर्थ में आया है। इस आधार पर 'सप्तस्त जल की धाराएँ और कोय' भाव लिया जा सकता है। तु० क० ऋ० १।३२।१२ में दस० का व्याख्यान—बड़े-बड़े जलशय, नदी, कुआँ और साधारण तालाब ये चार जल के स्थान पृथिवी पर और समीप, बीच और दूर देश में रहने वाले तीन जलशय (मिल कर कुल सात जलशय)।

४. गाः गो का द्वितीया बहुवचन। सा० मै० आदि—गौएँ। दस०—पृथिवियाँ।

(ii) सा० और आधुनिक विद्वानों ने इस मन्त्र में बलनामक राक्षस के गायों को चुराने, इन्द्र का उस को मारने और उस के स्थान से गायों के उद्धार का वर्णन माना है। श्री मै० ने दस अर्थ की पुष्टि में ऋ० २।१४।३—'यो गा उदाजद् अप हि बल व.'—'जिस ने गौओं को बाहर निकाला, क्यों कि उस ने बल को अनादृत कर दिया'—दिया है। दस० ने गाः उदाजत् और बलस्य अपधा—'ये दो वाक्य बना कर 'पृथिवियों को ऊपर प्रेरित करता अर्थात् एक के ऊपर एक को नियम से चला रहा है' और 'बल को धारण करने वाला' अर्थ किए हैं। सायणीय अर्थ में इन्द्रवृत्र युद्ध के दो पक्षों का वर्णन स्पष्ट लभित है—१. मेघ के दहन द्वारा वर्षा करना और २. अन्धकार को नष्ट कर के प्रकाश की किरण फैलाना।

(iii) परन्तु सिद्धले मन्त्रों में इन्द्र के सृष्टिकर्म का वर्णन किया गया है जो अभी चालू है। इस में जलीय प्रदेशों की रचना, लोकों का अर्क^१ की स्थिति से निकाल कर उन्हें दृश्यमान रूप में स्थापित करना, समस्त गति (अग्नेजी—एनर्जी) को प्रवृत्त करना, विद्युत् के उत्पादन और सहायशक्ति की प्रवृत्ति

१. अर्क—अप्रकेत सलिल के पश्चात् की द्रवमय तेजःपूर्ण स्थिति। देखो वृआउ० १।२।१-२;। इस में सृजक शक्ति का वर्णन है।

का वणन किया गया है। आगे मन्त्रों में वर्णित इन्द्र के कर्म इन कर्मों के प्रतिप्रसन्न कहे जा सकते हैं।

५ उदात्त—उत् + √अब् (गति, क्षेपण) + लृट् प्रथम पु० एक व० । सा०—निकाला । मै०—बाहर हारा । दोनों का भाव एक ही है। दस०—ऊपर प्रस्थित किया करता अर्थात् एक के ऊपर एक का नियम से चला रहा है।

६ अपधा—दस पद के ठीक ठीक अर्थ करने में कुछ सहाय है। यह पद केवल इसी स्थल पर प्रयुक्त हुआ है। पीर्सन इसे अगले मन्त्र के गुहा पद के समान सप्तम्यन्त मानते हैं। रोध, ऐनमैन, आसमैन और मै० इसे तृतीयान्त मानते हैं। रोध का अर्थ है—बल के छिपने के स्थान से और आसमैन का रक्ष, चाबी (वधन)। मै० इसे अपधा का तृतीयान्त रूप मानते हैं और ऋ० २।१४।१ के अर्धृ (ऊपर या की निष्पत्ती में उद्धृ) के समानान्तर मान कर दस का अर्थ 'अनावरण'—'बल की गुहा का अनावरण करते हैं। इस की पुष्टि ऋ० १।११।५—स्व बलस्य गोमतोऽगवर्जितम्—जुम न गौओं से भरे हुए पठ के बिल की अनावृत कर दिया है—से करते हैं। दुर्गा ने इस का अर्थ उदात्तन = अनावरण किया है। सा० इस पचम्यन्त मानते हैं—बल के बाड़े से। दस० ने इसे प्रथमान्त मान कर 'योपदधाति स—धारण करने वाला' अर्थ किया है।

७ वृत् स्य—सा० आदि ने इसे गौआं का चोर और इन्द्र का वध अमुर माना है। मै० आदि के लिए से ऐसा आभास मिलता है कि यह अधकार के असर आदि किसी अलंकार का द्योतक नहीं, प्रयुक्त वास्तविक गौआ के चोर व्यक्ति-विशेष का नाम हो। वैद० ने इस पर कुछ नशा लिया है। दस० ने इसे 'बल' समझा है। इस की पुष्टि ऋ० १।१।३।१२ के लेख—

१ इन्द्र की धारक शक्ति ।

२ महारक्षि । इन तीनों के बिना जगत् का विकास सम्भव नहीं। अतः इन का वणन अनिवार्य है।

‘इन्द्रो बल बलपतिः । बलमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादायेन्द्र उदक्रमन् पुनरस्यै बलमददात्—इन्द्र बल और बल का स्वामी है । इस यज्ञ में वह मेरे में बल स्थापित करे—मेरी यह इच्छा पूरी हो । (इस) आहुति को ले कर इन्द्र ने गति की और उस को फिर बल दिया’—से भी होती है । ऋ० १।६२।४ में ‘बलम्’ मल्लिगम् का विशेषण है—मल्लिगमिन्द्र शक्र बल रवेण द्रव्यो दशग्वैः । अधिकाश वर्णनो में इन्द्र द्वारा बल के हनन का ही कथन किया गया है । ऋ० ६।३९।२ में बल की सानु का कथन है । ऋ० १०।६८।६ में उसे गोवपुष कहा है । ऋ० १०।६८।५ में बृहस्पति अग्नि के समान तप्त अर्कों (= जलो) से बल को मारता है । ऋ० १।५५।२ में इन्द्र के विगोयणों—बलरुजः और अपामजः से ऐसा आभास मिलता है कि बल का वध और आनः (= गाः १) का प्रेरण इन्द्र के प्रयत्न-मृयक् दो बीर फर्म है, एक नहीं । साथ ही बल का वध इन्द्र का ही कर्म नहीं है, प्रत्युत बृहस्पति, पितर, ऋत के धारक यजमान भी बल का नाश करते हैं । अतः ऋग्वेद में ‘बल’ पद किसी एक भाव का ही द्योतक नहीं, वह अनेकार्थक है । दस० ने इस के मेघ, बलवान्, बल, कुटिल गति (वाल्य), बलवान् शत्रु अर्थ किए हैं । इसे निघ० १।१०।४ में मेघ का पर्याय माना गया है । ऋग्वेद के वर्णना से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मेघ सृष्टि की रचना के समय का अन्धकाराच्छन्न अप्रकृत सलिल का घनीभूत रूप हो ।

८. अश्मनोरन्तरग्नि जज्ञान—सा०—दो बादल (की टकर) में । दुर्ग—सुलोक और पृथिवी लोक के बीच में । मै०—इस में अग्नि के वैद्युत रूप का वर्णन है जिसे कई मन्त्रों में ‘चट्टानों में वर्तमान’ ‘चट्टानों से पैदा होने वाला’ और ‘चट्टानों का पुत्र’ (—अद्रेः सुतः) कहा गया है ।

१. उ० ४।१४७ में अश्मन् को √अस् व्याप्त होना से व्युत्पन्न माना गया है ।

९. संवृत्—यह पद ऋग्वेद में अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुआ है । सा० और दस० इसे √वृज् (वर्जने) से निष्पन्न करते हैं । इसे √वश् का रूप भी

माना जा सकता है। इस का भाव यह है कि इन्द्र की शक्ति से ही युद्ध में मारकाट होती है। यही सब कर्मों का अधिष्ठाता है।

महितापाठः

पदपाठ

१०. येनेमा विश्वा, न्यवना कृतानि	येन। इमा। विश्वा। न्यवना। कृतानि
यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।	यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा।
श्वमीव यो जिगीवा लक्षमादद्	अकुरित्यकः। श्वमीज्जिव। यः।
अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥४॥	जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः।
	पुष्टानि। सः। जनासुः। इन्द्रः ॥४॥

मायणभाष्यम्—येनेन्द्रेणमा इमानि विश्वा विश्वानि न्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि। यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकम्। यद्वा—दासमुपश्रपयितारम्। अधरं निष्कृष्टमसुरं गुहा गुहाया गृहस्थाने नरके वा अवरकापीत्। करोतेऽर्ति “मन्वेवस ००” (पा० २।४।८०) इत्यादिना स्तेऽर्तिके रूपम्। लक्षं लक्ष्यं जिगीवान्। “बिजये” क्वसौ “सन्लिटोर्जे” (पा० ७।१।५७) इत्यम्मासादुत्तरस्य कुत्वम्। दीर्घरजन्दसः। जितघान। चांऽय्योऽरेः। पण्येक्यवने छन्दसो वणादेशः। शत्रोः सम्यग्धीनि पुष्टानि समृद्धानि आदद् आदत्ते। सत्र दृष्टान्तः। श्रज्जीर। श्रभिर्मुष्टान् हन्तीति श्रज्जी व्यावः। यथा व्याधौ जिघृक्षितं मृग परिगृह्णाति तद्वत् ॥ ४ ॥

दिङ्गी अनुवाद—[येन] जिस के द्वारा [इमा] ये [विश्वा] सम्पूर्ण (पदार्थ) [न्यवना] गतिमान् [कृतानि] किए गए हैं [य] जिस ने [दासम्] दास [वर्णम्] रंग को [अधरम्] बस में (कर के) [गुहा] जकः] नष्ट कर दिया है। [यः] जिस ने [लक्षम्] दौंव के धन को [जिगीवान्] बिजयी [श्रज्जी] पुआरी के [इर] समान [अर्यः] शत्रु की [पुष्टानि] समृद्धि को [आदत्] छीन लिया है, [जनासः] हे दुरयो, [सः] यह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ १. इमा विश्वा—इमानि और विश्वानि के वैदिक रूप। व्युत्पत्ति के अनुसार ऐश्वर्य के कारण सर्वत्र प्रविष्ट पदार्थ, लोक आदि। मै०—पृथिवीस्थ समस्त पदार्थ। सा०—नक्षत्र लोक।

२. च्यवना कृतानि—सा०—नक्षत्र लोकों को स्थिर किया है। दस० (च्यवना) प्राप्त हुए लोकों को बनाया है (सप्त०) दृढ किया है (द्विअ०)। मै०—अगले पाद में अकः के विधेय 'अचर' के समान यहाँ 'च्यवना' कृतानि का विधेय है। अतः अस्थिर किए गए हैं। तु० क०—यस्ता विश्वानि चिच्युषे—(ऋ० ४।३०।२२)—असि ने सम्पूर्ण जगत् को हिला दिया है। पीटर्सन—उलटना, जीतना। कृतानि का सा० का अर्थ 'स्थिर किए गए हैं' सम्भव नहीं। प्रास० का 'जो कुछ चलना है (= चर सृष्टि) उस सब का निर्माता' अर्थ सम्भव है। परन्तु मन्त्र ९ का अच्युतच्युत् पद इस का विरोधी है। साथ ही चर सृष्टि के वर्णन के पश्चात् अचर सृष्टि के निर्माण के वर्णन की अपेक्षा बनी रहती है। यश में इस अपेक्षा का पूरक पद कोई नहीं है। कवि इन्द्र के सृष्टिकर्म का वर्णन भी समाप्त कर चुका है और अन्य कर्मों के वर्णन की ओर अपसर हो रहा है। तु० क०—यो दास वर्णमचर गुहाकः (अगला पाद)।

(११) वस्तुतः अभी इन्द्र का सृष्टिकर्म समाप्त नहीं हुआ है। श्री पीटर्सन को दास वर्णम् की आधुनिक सम्प्रदाय की धारणाओं से भ्रान्ति हुई है। सृष्टि से पूर्व साख्य के अनुसार समस्त प्रकृति साम्यावस्था में थी। उस में गति आदि नहीं थी। इन्द्र उस में गति लाया। लोकों की रचना की और उन को अपनी अपनी परिधि में गति करने वाला बनाया। यहाँ पर यही भाव अभिप्रेत है।

३. दासं वर्णम्—सा०—१. शूद्रादि वर्ण २. उपशपयिता। मै०—अनार्य रग (= कृष्ण वर्णम्); आदिवासी। यह पद विरोध है। सत्तापद अन्तोदात्त (= दासः) होता है। पीटर्सन—'विरोधी रग, कालो चमडो'। आज के समान उस काल में भी गोरों द्वारा कालों को दी जाने वाली गाली। ऋग्वेद

में दाम और दस्यु आर्यों के समस्त शत्रुओं—असुर और मानव—के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर अनार्य जातियों की ओर निर्देश स्पष्ट प्रतीत होता है। सा० और दास० का भी यही मत है। रौय—राशसा की सन्तान। दस०—(वर्णम्) रूप को (दासम्) देने योग्य (अक) करता है।

(११) ऋग्वेद में वर्ण^१ पद के प्रयोगों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उस का प्रयोग 'किरण (१०।३।३), सन्तान (१।१७।६, २।३।५) प्रकाश, तेज, शुभ्र रूप, लाल रूप, प्रकाशमान तेज, स्वच्छ तेज (४।५।१३, २।१।१२, ९।७।१८, १।७।३७, १।९२।१०, १।१०।४।२, ३।३।४।५, ६।९७।१५, १०।५।४), कल्याण (१।१०।४।२), रूप (२।५।५, ९।१०।४।४), प्राणदायक रूप (९।७।१२), वरुण का रूप (१०।१२।४।७) अर्यों का द्योतक है। ऋ० ९।६।५।८ में यह इन्द्र का विशेषण है। १।७।३।७ में वृष्ण और अरुण वर्ण का अर्थ काल और लाल प्रकाश है। १।६।६।५, १।१।३।२ में रात्रि और तपस् को अपना अपना वर्ण=रूप=प्रकाश=ब्रह्मण काल और सफेद) फैलाने वाला कहा है। १।१०।४।२ में दास के मनु को नाश कर के कल्याण के लिए वर्ण राने का कथन है। २।३।४।१३ में चन्द्र वर्ण=आह्लादक प्रकाश का वर्णन है। यह गुणमद का ही सूक्त है। अतः गुणमद के प्रकृत मन्त्र में दास वर्णम् वा अर्थ—'दुःखदायी प्रकाश-काल प्रकाश'=रात का प्रकाश=अन्धकार' करना ही उचित प्रतीत होता है। यह रात्रि का अन्धकार सृष्टिरचना के पहले का ही अन्धकार है—'तम आसीत् तमसा गूढमग्र (ऋ० १०।१२।६।१)—सृष्टि से पूर्व अन्धकार से छिपा हुआ अन्धकार था'। इन्द्र ने इसी गाढ़, प्रकाश के निवारक (दास—दस्यति प्रकाशमुपनिष त नाशयतीति) अन्धकार को दूर किया।

१ इस विवेचन की दृष्टि में 'हत्ती दस्युन् प्रावं वर्णमावत्' का अर्थ—'दुष्टों, दुष्ट भावों को नष्ट कर के श्रेष्ठ भावा का प्रसार किया' होगा। ऐ० ७।१८ में विश्वामित्र के अनेकों वधजों अन्ध, पुण्ड्र, शनर, पुबिन्द, मूर्तिन आदि का 'दस्यु' कहा गया है।

४. अर्धरं गुहाकः—सा०—अधर=निकृष्ट असुर। गुहा—गुफा में, गूढ़ स्थान या नरक में। अक = अक्षापात्। √क का डुब् प्रथम पु० एक व० का वैदिक रूप। दस०—अधरम्—हृदय के नीचे। गुहा—हृदयाकाश। मै०—अक का सम्बन्ध अधरम् से भी है और गुहा से भी। अधरमकः—नीचा बनाया, वश में किया। गुहा अक—गुफा में रक्खा (छिपाया) = दूर किया, हटाया। रौय और ग्रास० गुहा को पञ्चमी के रूप में प्रयुक्त तृतीया का रूप मानते हैं।

(११) इस का दास वर्णम् के व्याख्यान से सम्बद्ध व्याख्यान ही अभीष्ट है। अधर न धार्यते इति अधरः, तम्। दास वर्णम् का विशेषण। असह्य घोर अन्धकार। गुहाक—दूर किया, गुफा आदि में स्थित किया। 'अधरम्' को 'अकः' के साथ त्रियाविशेषण भी लिया जा सकता है।

५ अकः—सहितापाठ में 'र' से उत्पन्न पदान्त विसर्गों को यदि सन्धि के कारण 'र' न हुआ हो तो पदपाठ में उन्हें 'इति' लगा कर निर्दिष्ट किया जाता है तथा मूलरूप को कई बार पुनः आवृत्त किया जाता है—अकरित्यकः।

६. श्यन्नीर्ष जिगीर्षो लक्ष्मादत्—दस० का अर्थ—कुत्तों को दण्ड देने वाली के समान जयशील लक्ष को ग्रहण करता है (ऐसा परमेश्वर—स्पष्ट नहीं है। सा०—इन्द्र ने (श्वप्री) व्याध के समान लक्ष्य को जीता है। रौय—ढाँव को जीतने वाले जुआरी के समान। औक्नैरुड—एक लाल को जीतने वाला जुआरी। पीर्त्सन—अर्थ बहुत अनिश्चित है। इस के प्रयोग के अन्य स्थलों में सा० के अर्थ १. व्याधली (१।९२।१० ; ४।२०।३,) कितव ८।४५।१८ ; १०।४२।९ ; ४३।५) हैं और दस० का वृकी (१।६२।१० ; ४।२०।३) है। इन में से चार स्थलों पर उपमा है। १।६२।३ में तो प्रकृत मन्त्र ४, ५ के अनुरूप ही उपमा है।

(१२) श्वप्री का उपरोक्त अर्थों में से कोई भी ग्रहण करें सब में उपमा का लक्ष्य नि शेषीकरण है। जिस प्रकार जुआरी हारने वालों से जीत का धन ले कर

उन्हें निःशेष = अकिंचन कर देते हैं उसी प्रकार । अथवा, जैसे हिंसक पशु या व्याध प्राणियों का जीवन पूर्णतया नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार ।

७. जिगीयान्—√जि + क्वसु, प्रथमा एक व० पुर्लिङ्ग । सम्भवतः छन्द की दृष्टि से इस का उच्चारण 'जिगीवों' होता होगा । कालान्तर में उसी प्रकार लिखा जाने लगा (मै०) ।

८. आदत्—आ + √दा + लुट् प्रथम पु० एक व० । पदपाठ में इसे अवग्रहीत नहीं लिया गया है । गौणवाक्य की लिया होने के कारण यह अवग्रहीत होना चाहिये था ।

९. अर्यः—सा०—अरि का पठ्ठी का एक व० । वैदिक रूप । शत्रु के । मै०—यह बहुव्रीहि समास प्रतीत होता है—[न विवन्ते रायः (स्वस्मै परेभ्यो दातु वा) सः अरिः तस्य]—जिस के पास अपने लिए भी धन नहीं है ऐसा निर्धन, अथवा, जिस के पास दूसरों को देने के लिए धन नहीं है अपने लिए तो है ऐसा कजूस । सा० और मै० का भाव यह प्रतीत होता है कि कजूस और शत्रु का धन अयत्न्य है, वह परोपकार के काम में नहीं आता, अतः वह छीन लिया जाता है—तु० क० ऋ० १०।११७।६—'मोघमग्न बिन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि यथ इत् स तस्य । नार्यमण पुष्पति नो सखायं कैवल्यो भवति केरलादी ।'—'जिस का मन उदार नहीं है वह व्यर्थ भोजन पाता है । मैं सच कहता हूँ, वह उस की मृत्यु ही है । न वह यत्न को पुष्ट करता है न मित्र को । केवल अपने आप खाने वाला एकमात्र पाप को ही खाता है' ।

(ii) दत्त० ने अर्यः को प्रथमान्त मान कर इस का अर्थ 'ईश्वर' किया है । ये 'पुष्टानि' का अर्थ 'दृढ़' कर के 'व्यवना कृतानि' से सम्बद्ध करते हैं ।

(iii) ये अर्थ पाद १-२ के प्रस्तावित भावों में विशेष सगत नहीं । यदि 'अर्यः' का अर्थ 'शत्रु तुल्य अन्धकार का' कर लें तो अर्थ ससक्त हो जायगा । पुष्टानि—पोषक शक्तियाँ । इन्द्र ने अन्धकार की पोषक शक्तियों को इसी प्रकार

नि शेष कर दिया जिस प्रकार जुआरी दौन को जीत कर दूसरे जुआरी को अर्कचन कर देता है ।

(१७) अयं का अन्धकार—अय सीधा भी किया जा सकता है—न अर्ने रीयते वाऽस्मिन् इत्यरि, तस्य ।

सहितापाठ

पदपाठ

११. यं स्मां पृच्छन्ति कुह सेति

घोरम्

उत्तेमाहुर्नैपो अस्तीत्येनम् ।

सो अयेः पुष्टीर्निजं इना मिनाति

श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥५॥

यम् । स्म । पृच्छन्ति । कुह । स ।

इति । घोरम् । उत् । ईम् । आहुः ।

न । एपः । अस्ति । इति । एनम् ।

सः । अयेः । पुष्टीः । निजः । इव ।

आ । मिनाति । श्रत् । अस्मै ।

धत्त । सः । जनास । इन्द्रः । ५॥

सायणभाष्यम्—अपश्यन्तो जना घोर शत्रूणा घातक य पृच्छन्ति स्म कुह सेति स इन्द्र कुत्र वर्तत इति । सेति—“सोऽचि लोपे चेत् पादपूर्णम्” (पा० ६।१।१३४) इति सोऽचि लोपे गुण । न कचिदस्मा तिष्ठतीति मन्यमाना जना एनमिन्द्रमाहुरेप इन्द्रो नास्तीति । तथा च मन्त्र—“नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह” (ऋ० ८।१००।३) इति । ईमिति पूर्ण । स इन्द्रा विन इव । इव शब्द एवार्थे । उद्वेजक एव सन् । अयोऽरे सम्बन्धीनि पुष्टी पोषकाणि गवाश्वादीनि धना न । आ मिनाति सर्वतो दिनस्ति । “मीच् हिसायाम्” । “मीनातेर्निगमे” (पा० ७।१।८१) इति ह्रस्व । तस्मात् श्रन्स्मा इन्द्राय धत्त स इन्द्राऽस्तीति निश्वासमत्र कुरुत । यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथाप्यस्तीति निश्वास कुरुत । एवनिर्धारणीयमहिमोपेतं स इन्द्रा नाहमिति ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यम्] जिस [घोरम्] भयकर को [पृच्छन्ति स्म] (लोग) पूछते आए हैं [इति] कि [स] वह (इन्द्र) [कुह]

कहाँ (है) । [उत] और [ईम्] सर्वव्यापक [एनम्] इस (इन्द्र) को [आहु] (कुछ लोग) कहते हैं [इति] कि [एष] यह [न अस्ति] विद्यमान नहीं है [सः] वह (इन्द्र) [विजः] क्रुद्ध हुए के [इव] समान [अर्य] शत्रु की [पुष्टीः] पोषक शक्तियों को [आ मिनाति] क्षीण कर देता है [अस्मै] उस (इन्द्र) में [श्रत्] विश्वास [धत्त] धारण करो, [जनास] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ ५ ॥

निष्पणिया—१ स्मा—स्म । संहिता में दीर्घ हो गया है । दस० ने इसे अवधारण (= एष) के अर्थ में लिया है । शेष सब पृच्छन्ति के साथ लगते हैं ।

२ सेति^१—स + इति । इस प्रकार की अन्यवस्थित सन्धि वेद में नहुधा मिल्ती है । लोक भाषा के लिए भी पाणिनि ने पाद की पूर्ति के लिए इस प्रकार की सन्धि का विधान किया है (सोऽचि शेषे चेत्यादपूरणम् । पा० ६।१।१३४) ।

३ घोरम्—मा०—गुओं का घातक । यम् (इन्द्रम्) का विशेषण ।
अं फल—निषाविशेषण । इस भयकर रूप में, भयावह प्रकार से ।

४ इम्—सा०—पादपूर्वक मानते हैं । दस०—सग और से । मै० इसे अत्र पक्ष से सम्बद्ध/इ के नाम का द्वितीया का रूप मानते हैं । या तो यह किसी सश का स्थान लेता है, या आगे आने वाली सश के लिए स्थान तैयार करता है, या अन्य सर्वनामा के साथ आता है । (व्यास० पृ० २२०) । यहाँ पर यह 'एनम्' का निदर्शक है । पीठसंन लिखते हैं कि इस से निर्दिष्ट पद बहुधा आवृत्त किया जाता है, जैसे यहाँ एनम् की आवृत्ति है ।

(१) निष० ४।१।८० में इसे पदनाम माना है । अतः इस का अर्थ पाप्पूरण या निशेग सर्वनाम मान नहीं है, यह गति, ज्ञान और प्राप्ति का

द्योतक भी है। इसी आधार पर हि० अ० में 'सर्वव्यापक' अर्थ दिया गया है।

५. आहुः—√ब्रू का लिट् प्रथम पु० बहु व०। मै० इसे√अह् कहना का लिट् का रूप मानते हैं।

(iii) मै० लिखने हैं कि यह उदात्तस्वर युक्त नहीं है। अतः पाद २ प्रधान वाक्य के रूप में है यद्यपि इस सूक्त में लगभग सर्वत्र सम्बन्धद्योतक वाक्यों के प्रयोग से यह आशा की जानी स्वाभाविक थी कि पाद १ का यम् यहाँ भी आहुः को उदात्त स्वर युक्त कर देता। परन्तु आप ने पाद २ के एनम् पर ध्यान नहीं दिया है। ऋषि इस पद से 'इन्द्र' के परमैश्वर्य का द्योतन करना चाहते हैं जो 'यम्' से सम्भव नहीं। अतः उन्होंने अपनी शैली बदल कर इसे प्रधान वाक्य का रूप दिया है और उत के द्वारा पूर्व वाक्य से सम्बन्ध जोड़ा है।

६. अर्यः पुष्टीः—पिछले मन्त्र में अर्यः पुष्टानि पर टिप्पणी देखें। इस मन्त्र में हिअ० का अर्थ भी सगल है।

७. विज इव—सा०—उद्बेजक होते हुए ही। दस०—भय से सचलित के समान। मै०—दाँव (का धन) क्यों कि मन्त्र ४ का लक्षमाददर्यः पुष्टानि इस मन्त्र के पाद १ के समान है। अतः विजः=लभम्। पीटर्सन छन्द की दृष्टि में इसे विलेन पढ़ने का मुझाव देते हैं। वहाँ सेति में सहिता का मूलरूप उपलब्ध होता है। वहाँ विज इव में विकृत रूप। प्रास० इव को वा पढ़ना चाहते हैं। मै० सो अर्यः को सोऽर्यः क्यों कि सामान्यतः प्रात छन्द का रूप इसी अवस्था में बनता है। पीटर्सन विजः को द्वितीयान्त मानते हैं, प्रथमान्त नहीं।

(ii) यह पद केवल एक और मन्त्र में आया है—श्वनीव कृत्तुर्विज आ मिनाता (ऋ० १।६२।१०)। सा० ने वहाँ इस का अर्थ 'चञ्चते हुए पत्नी' किया है।

(१११) श० ७।१।१।१४ के 'तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजते' में ✓ विज् धातु 'प्रचण्ड गति' या 'उत्थणत्व' का श्रोतक है। अतः विज का अर्थ क्रुद्ध, प्रचण्ड किया जा सकता है। सा० और दस० ने पाणिनीय धातुपाठ के आधार पर अर्थ किए हैं, परन्तु वे प्रकरण में सुसंगत नहीं।

८. श्रत् र्थत्—तैत्तिन—वेदो। कैल्लिज्—वेदिम्। सत्य मानो। वह है इसे सत्य समझो। उस में श्रद्धा रखो। श्रद्धा से ही उस के स्वरूप को जान कर उस की उपासना की जा सकेगी (तु० क० श्रद्धासूक्त ऋ० १०।१५। और हमारा लेख—श्रद्धा का वैदिक स्वरूप)। ऐसा न करने पर मनुष्य इन्द्र का वध हो जाता है। तु० क०—यः शश्वतो मर्त्येनो दधानानमन्य मानाच्छ्रुवा जगान्—ओ निरन्तर महान् पापों के धारक और (उस को) न मानने वाला को अपने बाण से मार देता है'।

सहितापाठः

पदपाठः

१२. यो र॒ध्रस्य॑ चोदिता यः	यः। र॒ध्रस्य॑। चोदिता। यः।
कृ॒शस्य॑	कृ॒शस्य॑। यः। ब्र॒ह्मणः॑। ना॒र्थ
यो ब्र॒ह्मणो॑ ना॒र्थमानस्य॑ की॒रेः।	मानस्य॑। की॒रेः। यु॒क्तग्रा॒ह्येण॑।
यु॒क्तग्रा॒ह्यो योऽवि॒ता सु॑शि॒प्रः	यः। अ॒वि॒ता। सु॒शि॒प्रः। सु॒त-
सु॒तसौ॑मस्य॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑॥६॥	सौ॑मस्य॒ सः। ज॒नाम्॑॥ इन्द्रः॑॥६॥

भायणभाष्यम्—यो रध्रस्य। "रध हिंसासपदचोः"। समृद्धस्य। चोदिता धनानां प्ररयिता भवति। यश्च कृशस्य देरिद्रस्य च यत्र नावमानस्य। "नाष्टं नाष्टं (नाष्टं नाष्टं) यच्चोऽगतापैधयाशी पु"। याचमानस्य कीरेः। कपोते, कीर्तयतेषां। स्तोतुब्रह्मणो ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता।

रश्च सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तप्राव्यः अभिपवार्थमुद्यत-
ग्राव्यः सुतसोमस्याभिपुतसोमस्य यजमानस्थाविता रक्षिता भवति स
खेन्द्रो नाहमिति । ब्रह्मशब्दस्य त्वन्नपरत्वे ह्याद्युदात्तता स्याद्, यथा—“ब्रह्म
श्वानो अजर मुवीरम्” (ऋ० ३।८।२) इति । अयं त्वन्तोदात्तः पठ्यत
इति नान्नपरः ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [रध्रस्य] समृद्ध का [यः] जो
[कृशस्य] क्षीण दुर्बल का [यः] जो [ब्रह्मणः] ब्राह्मण [नाधमात्स्य]
राचक [कीरेः] स्तोता का [चोदिता] (अपने-अपने कर्मों में) प्रेरक है,
[सुशिप्रः] सुन्दर ओष्ठों वाला [यः] जो [युक्तप्राव्यः] सिलवट्टे को मिलाने
शले [सुतसोमस्य] सोम रख निकालने वाले का [अविता] सहायक है,
जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. य इति—इस मन्त्र में मानव जाति के चार भाग किए
 गए हैं । विस्तार के लिए नीचे टिप्पणी २ (ii) देखें ।

२. रध्रस्य चोदिता—यह इन्द्र का प्रिय विशेषण है । सायण के अर्थ
 इस प्रकार हैं—

१. रध्र = समृद्ध जनों का प्रेरक (२।२१।४)

२. रध्र = हिंसक शत्रुओं का प्रेरक (वही)

३. रध्र = राचक समृद्ध धन का प्रेरक (६।४४।१०)

४. रध्र = राधक (यजमान) का प्रेरक (८।८०।३)

ये इसे ✓रध्र हिंसासरादयोः से व्युत्पन्न करते हैं । दस० के अर्थ ये हैं—

१. हिंसकों का प्रेरक (२।२१।६)

२. रकावटी पदार्थों को प्रेरणा देने वाला (२।२१।४)

३. धनकी प्राप्ति के लिए प्रेरणा देने वाला (६।४४।१०)

(ii) परन्तु विद्वानों की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई और इस पद का अर्थ
 अनिश्चित समझ गया । यह पद अकेला केवल तीन स्थलों पर आया है । इन
 में सा० के अर्थ आराधक यजमान (२।३४।१५), समृद्धजन (७।५६।२०)

और राधक स्तोता (१०।२४।३) हैं। दस० के अर्थ 'अच्छे प्रकार की सिद्धि (२।३४।५) और समृद्धिमान् (७।५६।२०) हैं। यह पद अरध और एक अन्य समास में भी मिलता है। सा० ने अरध के अर्थ 'शत्रुओं के वश में न आने वाला' (६।१८।४) और 'असमृद्ध' (६।६२।३) किए हैं तथा दस० ने अहिंसक (६।१८।४) और असमृद्ध व्यवहार (६।६२।३)। अनुर (६।१८।४) में सा० ने वगीकरण और दस० ने हिंसा अर्थ लिए हैं।

(iii) रौप्य ने पहले तो 'अरध' का अर्थ 'अनलस' किया था। सेंट पीटर्सबर्ग कोप में उन्होंने 'रध' को 'रध = अर्घ' (ऋध्) से व्युत्पन्न कर अवै० 'अरेद्र' स तुलित किया है। इस के अर्थ 'समृद्ध, देवों का प्रसादक, धार्मिक' दिए हैं। ग्रास० के मत में इस का अर्थ 'यज्ञ हुआ' है। साइबेनजिग लाइडर में रधस्य वृत्तस्य के अर्थ 'समृद्ध और निर्धन' हैं। औफेल् के अर्थ 'ईमानदार (= सच्चा) और निर्धन' हैं।

(iv) पिथल कहते हैं कि ऋ० ६।६२।३ में अरध अधिनों के पति का विशेषण है जिसे गाम्मत्, हिरण्यवत्, अश्वायत् और इरावत् आदि कहा गया है। अतः अरध का अर्थ 'न निर्धन, न कजूस, अयात् समृद्ध, दाना' है। रधस्य चोदिता = जो कजूस को उदारता में प्ररित करता है। चोदिता के साथ केनल रधस्य का सम्बन्ध है, शेष पष्ठयता का अविता स। मै० की योजना, १६० अ० के समान है।

(v) इस मन्त्र में मानव जाति के चार भाग किए गए हैं—१ रध २ कृग ३ ब्रह्मन् नाधमान कीरि और ४ युक्तग्रावन् मुत्तसोम। इसी प्रकार ऋ० १०।१२५।५ में भी चार विभाग—१ उग्र २ ब्रह्मन् ३ ऋषि ४ मुमेधा किए गए हैं। इन दोनों वर्णनों में ब्रह्मन् की स्थिति स्पष्ट है। श० ६।१।१।१ में ऋषियाँ की तप से उत्पन्न आया है। तप से मानव कृग होता है, स्थूल नहीं। अतः कृग और ऋषि की समान भाव का चोतक माना जा सकता है। मुमेधा ✓मेधु सगमने से बनता है। सगमन = सगतीकरण ✓यज् धातु का अप भी है। अतः मुमेधा = उत्तम यज्ञ करने वाले, = यजमान = प्रजापति (-वि०)।

सिलवट्टे से सोम का अभिषेचन भी यज्ञ के लिए प्रमुख रूप से किया जाता है । जैसा आगे युक्तप्राणः और सुतसोमस्य की टिप्पणियों में दिखाया गया है । इन दोनों पदों का अर्थ 'योगक्षेम द्वारा ऐश्वर्य का उत्पादक' होता है । यह कर्म उत्तम सगमनी बुद्धि से ही सम्पन्न होता है । अतः सुमेधा और युक्तप्रायन् सुतसोम को समान भाव का निर्वेशक माना जा सकता है । अन्न रश् और उग्र शेष रह गए । रश् को हिंसार्थक/रश् से मानने पर ये दोनों भी समान भाव के द्योतक हो जाते हैं । उग्रत्व या हिंसा का गुण क्षत्रियों में पाया जाता है, ब्रह्मन् ब्राह्मण है ही । यज्ञ करने वाले सामान्य जन बिष्णु या वैश्य है । य० २०।५ में शूद्रा को तप से सम्बद्ध किया है । अतः यहाँ पर कुशपद ऋषि—तपस्वी शूद्र का द्योतक प्रतीत होता है ।

३. ब्रह्मणः—सा०—१. ब्राह्मण २. अन्न । दस०—वेद । म्यूर (पु०) ।

१. सूक्त या प्रार्थना का रचयिता या उच्चारक, चिन्तक, ऋषि, कवि, (२) सामाजिक पूजा का सम्पादक, पूजक, पुरोहित (३) (चार वेद विशेषतः अथर्ववेद का ज्ञाता) होतृ आदि में भिन्न कर्मों वाला एक विशेष पुरोहित = ब्रह्मा । कुछ मन्त्रों में यह पद 'पेजे—से पुरोहित' भाव का द्योतक है । यह पद ब्रह्मन्-नपु०, सूक्त, प्रार्थना से भिन्न है और अन्तोदात्त है ।

४. नार्धमानस्य—√नार्ध् + शानच् + षष्ठी एक व० । आचक, प्रार्थी । दस०—सकल ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले । मै०—शरणागत ।

५. कीरेः—कीरि का षष्ठी एक व० । पिथल लिखते हैं—किं जिन मन्त्रों में कीरि का प्रयोग हुआ है उन्हें दो वर्गों में रक्खा जा सकता है । एक वर्ग में यह पद सश 'निद् (=अग्नि)' के साथ प्रयुक्त हुआ है । इस से ही प्रतीत होता है कि कीरि का अर्थ ऐसी वस्तु है जो स्वतः प्रसादक या अनुकूल नहीं है । ऐसे समस्त प्रयोगों और कीरिचोदन की तुलना से इस का अर्थ 'छोटा, निम्न, निर्धन' निश्चित हो जाता है । आप कहते हैं कि मन्त्रों में रातहव्यः (१।३।१।३—आहुति देने वाला), रातहव्यः स्वध्वरः (८।१०।३।१३) और कीरि तथा कीरियन् और होतृम् यज्ञ (—होता से युक्त यज्ञ—१०।४।१।२),

के वैयम्पात्मक प्रयोग पाये जाते हैं। १।१००।६ का कीरिणा पद समान भाव वाले मन्त्र ६।४५।२ में अनाशुना अवर्ता के अनुरूप है। अतः ये कीरि को रश्मि का पर्याय मानते हैं और इस की पुष्टि क० ५।१।१० के हुदा कीरिणा (विनम्र हृदय से) से करते हैं।

(१६) यदि विश्वल का यह विचार मान लें तो एक समस्या हल करनी आवश्यक हो जाती है—मन्त्र में अनेक जार प्रत्येक पष्ठ्यन्त सज्ञा के साथ 'य' का प्रयोग क्यों किया गया? स्पष्ट है कि यह प्रयोग इस मन्त्र में जितने 'य' हैं उतने ही व्यक्तियों की कर्मप्रेरणा या रक्षा का द्योतक है। अतः विश्वल का विचार अमान्य है। इसे की + √ईर् अथवा √कृ से व्युत्पन्न किया जा सकता है। सा० और दस० का स्तोत्र—अर्थ तथा √कृ धातु के शिक्षा, वेद-ज्ञान आदि का वितरण अथ करना प्रकरण में अनुचित न होगा।

६ युक्तर्माञ्ज — युक्ती प्राधानी येन स, तस्य । √सा०—सोम निकालने के लिए दो पत्थरों = सिल-भट्टे का प्रयोग करने वाला। दस०—मेघ या पत्थरों वाला पदार्थ।

(१७) अकोसु० २।१।४ में श्रावन् की व्युत्पत्तियाँ ये दी हैं—१ √गृ निगरणे + वनिप् २ √गृ शब्दे + वनिप् । ३ प्र (√ष्ट सेके से) + अत्र (√अब् रक्षा करना आदि से) । ४-५ अकोसु० २।३।१ में—√ग्रन्तु अदने + वनिप् और ३।३।१०६ में ग्रत् और आ + वन् । ६ देवराज ने निध० १।१०।२ में इसे √हन् + वनिप् से भी व्युत्पन्न किया है। इन सब में अकोसु० की √गृ से, अथवा √गृ और √अब् से निश्चि ही इस पद के स्वरूप और अर्थ से मेल खाती है। इन के अनुसार इस के अय निगरण (=प्राप्त करना, इकट्ठा करना) और रक्षा होते हैं। निध० ५।३।५ के पदनामों में पाठ के कारण प्राप्त इस के अर्थों—गति, ज्ञान और प्राप्ति से भी इन अर्थों की पुष्टि होती है। इन निगरण और रक्षा कर्मों को योगक्षेम भी कहा जा सकता है। इन का प्रयोग करने वाला।

६. सुशिप्रः—सा० शोभन ठोड़ी या सिर वाला । दस०—जित में सुन्दर सेवन होते हैं । यास्क—उत्तम ठोड़ी या नाक वाला । ये इसे √सप् से व्युत्पन्न करते हैं (नि० ६।१७) । निघ० ४।३।७३ में इसे पदनामों में पठा गया है । मै०—सुन्दर ओष्ठों वाला । 'यह बहुव्रीहि समास है । इस पद का ठीक-ठीक अर्थ सन्दिग्ध है, परन्तु यह (शिप्र) नियमित रूप से द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है । इस का एक विशेषण हरि (= हर) है, हरिशिप्र और हरिश्मशाव' (हरी मूँछों या दाढ़ी वाला) एक दूसरे के तुल्य हैं । हरिशिप्र का सम्बन्ध इन्द्र के सोमपान से है । अतः इस का अर्थ ओष्ठ या मूँछ ही हो सकता है । ठोड़ी (= जबड़ा) नहीं ।

(११) यास्क ने अपने अर्थ के पदों हनू और नासिके की √हनू और √नस् से व्युत्पत्तियों दे कर इन अर्थों की सुशिप्र, के पदनामों में पाठ से प्राप्त अर्थों से एकता दिखाई प्रतीत होती है, क्योंकि ये दोनों धातुएँ √हनू और √नस् गत्यर्थक मी हैं । साथ ही हनू और नासिके का निर्वचन देना उन के धातुज अर्थों को ग्रहण करने का निर्देश करता प्रतीत होता है । इस दृष्टि की उपेक्षा और इन्द्र के पुरुषविध वर्णन से ही सा० आदि का अर्थ चल पड़ा । मै० मूल अनुभूति सा० से ही लेते हैं । अतः यहाँ पर यास्क के अनुसार इस के गत्यादि अर्थ करने ठीक रहेंगे—उत्तम गति वाला = सर्वत्र व्याप्त ; सब को जानने और प्राप्त करने वाला । अतः सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सब का धारक ।

८. सुतसोमस्य—सुतः सोमः येन सः, तस्य । सा० सोम नामक ओषधि का रस । दस०—सौमादि अच्छे पदार्थों का उत्पादक । आधुनिक सम्प्रदाय भी इसी अर्थ को ग्रहण करता है और इस की तुलना अवै० हओम से करता है । इसे इन्द्र का अमिमा पेय माना गया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस को सत्य, श्री, ज्योति, राजा, चन्द्रमा, वृत्र, नितृलोक, सप्तसर, प्रजापति, वायु, विष्णु, रात्री, दधि, सभी देवता, पर्ण, पलाश, पशु, यजमान, वर्चस्, रस, क्षत्र, यश, अन्न, प्राण, रेतः और पयः आदि कहा गया है । दस० ने इसे √सु धातु से निष्पन्न कर इस प्रकार के अनेक अर्थ दिए हैं । इन्हीं

आधारों पर यहाँ सोम (= श्री, पशु, अन्न आदि ऐश्वर्य) को प्राप्त करने वाला है। इस ऐश्वर्य की प्राप्ति योगक्षेम (युक्तप्राप्त्यन्) से होती है। डा० पतञ्जलि ने वै० में इस की अथर्ववेद से $\sqrt{\text{सु}}$ निकालना से और शतपथ-ब्राह्मण से 'स्वा + मा' से निरुक्तियों संकलित की हैं।

संहितापाठः

पदपाठः

१३. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य
गावो

यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।

यः सूर्य य उपसं जजान्

यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥७॥

यस्य । अश्वासः । प्रदिशि । यस्य ।

गावः । यस्य । ग्रामाः । यस्य ।

विश्वे । रथासः । यः । सूर्यम् । यः ।

उपसम् । जजान् । यः । अपाम् ।

नेता । सः । जनासः । इन्द्रः ॥७॥

सायणभाष्यम्—यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासनेऽश्वासोऽश्वा वर्तन्ते । यस्यानुशासने गावः । यस्यानुशासने ग्रामाः । प्रसन्तेऽप्रेति ग्रामा जनपदाः । यस्यान्नाद्यां विश्वे सर्वे रथासो रथा वर्तन्ते । यश्च वृथं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास यश्चोपसम् । तथा मन्त्रः—“जजान सूर्यं उपसं मुदसाः” (ऋ० ३।३२।८) इति । यश्च मेघभेदनद्वारापां नेता प्रेरकः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्य] जिस के [प्रदिशि] शासन में [अश्वासः] घोड़े [यस्य] जिस के (शासन में) [गावः] गौएँ [यस्य] जिस के (शासन में) [ग्रामाः] गाँव (और) [यस्य] जिस के (शासन में) [विश्वे] सब [रथासः] रथ (नियोजन हैं) । [यः] जिस ने [सूर्यम्] सूर्य को (और) [यः] जिस ने [उपसम्] उपस को [जजान] उत्पन्न किया है [यः] जो [अपाम्] जलों का [नेता] बहाने वाला है [जनासः] दे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है ।

टिप्पणियाँ—१. भाव—इन्द्र ने अश्वदि सब कुछ को उत्पन्न किया है । अतः वे सब उस की शक्ति से ही अपने-अपने स्वभावानुकूल कर्मों में प्रवृत्त होने हैं । ऋ० १०।१२५—वाक्सूक्त भी देखें ।

२ अश्वीसः०—अश्व शक्ति का, गाव अहिंसा और नम्रता की, ग्राम एकत्र होने, रथ (✓रम् से) आनन्द का, सूर्य गति और प्रकाश का, उपस दाहकता और एकरूपता की और अपस् व्याप्ति के स्रोतक हैं । ये गुण भी यहाँ अभिप्रेत माने जा सकते हैं ।

३. अपा नेता—तु० क० अपा नपात् (अग्नि) । इन्द्र को भी अग्नि कहा गया है । तस० ने गाव का किरण, अश्वीस. का वेगादि गुण और रथासः का रमण के साधन अर्थात् किए हैं । एक 'यः' को कारण रूप बिजली का स्रोतक माना है ।

संहितापाठः

पदपाठः

१४. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते	यम् । क्रन्दसी इति । संयती इति
परेश्वर उभया अमित्राः ।	समुज्यती । विह्वयेते इति विह्वयेते
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा	परं । अवरे । उभयाः । अमित्राः ।
नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥८॥	समानम् । चित् । रथम् । आतस्थि- वांसां । नाना । हवेते इति । सः ।
	जनासः । इन्द्रः ॥८॥

सायणभाष्यम्—यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाण—मालुपी दैवी च द्वं सेने वा संयती परस्पर सङ्गच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः । परे उत्कृष्टा अवरेऽधमात्र । उभया उभयविना अमित्राः शत्रवा यमाह्वयन्ति । समानमिन्द्ररथसदृशं रथमातस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक् पृथक् हवेते आह्वयेते ।

यद्वा । समानमेकरथमारुढाविन्द्राग्नी हवते यज्ञार्थं यत्नमानं प्रथगाहूयेत । तयोरन्यतर स इन्द्रो नाहमिति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[मंयती] युद्ध में परस्पर मिलती हुई [मन्दमी] गोर मंचाती हुई (दो सेनाएँ) [यम्] जिस को [विह्वयेते] पृथक् पृथक् उड़ाती हैं, [परे] उत्कृष्ट (और) [अगरे] नाच [उभयाः] दोना (ही) [अमित्रा] शत्रु (जिस को अलग-अलग बुलाते हैं), [समानम्] एक जैसे [चिन्] ही [रथम्] रथ पर [आतन्त्रिवासा] चढ़ हुए दो (वीर) (जिस को) [नाना] भिन्न भिन्न प्रकार से [ह्वंते] (सहायता के लिए) उड़ाने हैं, [जनास] हे पुरुषो, [सः] यह [इन्द्र] इन्द्र है ।

टिप्पणियों—१ ऋक्षसी आदि—द्विवचन के इ, ऊ और ए अन्त वाले पदों के आगे इति का प्रयोग होता है । यदि ऐसे समग्र पद में अवग्रह का स्थल भी हो तो इति के धातु मूलपञ्च की आवृत्ति कर के उस में अवग्रह की स्थिति भी दिखाने दी जाती है ।

२ ऋक्षसी—सा०—पैयी और मानवी सेनाएँ । मै० आदि—मानवों की (आपस में लड़ती हुई दो सेनाएँ) ही अभिप्रेत हैं । दम०—रोने का शब्द करने वाले प्रकाश और प्रथिवी ।

३ मयती—सा० आपस में मिलती हुई (= सपर्य में जाती हुई) । तम०—मयम से चलने वाले युद्धों और पृथिवीलोक । ने० मा०—दो सेनाएँ ।

४ ह्वेते—√ह्वे से लट् प्रथम पु० द्विवचन । मै०—यह √ह्व के सम्प्रसारण रूप √ह्व से निष्पन्न हुआ है । विह्वयेते जादू नाना हवते समानायक हैं । तु० क० 'नाना हि त्या हवमाना जना इमे—अनेक प्रकार से तुम्हें बुलाते हुए', और 'अथ जना वि ह्वन्ते सिगासन्—राम के इच्छुक मनुष्य तुम्हें अनेक प्रकार से बुलाते हैं ।'

(११) गीण वाक्य की क्रिया होने से यह उदात्त स्तर वाली है और उपसर्ग से अवग्रहों की गई है ।

५ परऽपरे—सा०—उत्कृष्ट और नीच । मै०—दूर के और समीप के ।
इम पाद में 'मन्दसी' का व्याख्यान है ।—समीपस्थ और दूरस्थ । पीठमन—
इस पद के और उस पद के—दोना एक दूसरे के शत्रु (= उभया अमित्रा) ।
दस०—प्रफुल्ल और अवाचीन (हिम०—पून) । मम०—यहाँ और वहाँ ।

६ उभया—यह कमी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं हुआ है । दस०—प्रकाश
और अप्रकाशयुक्त ज्ञाना काश्या में सम्बन्धित शत्रु ।

७ समान चिद्वर्धमानस्थितासा—सा०—१ इन्द्र के रथ के सहग रथ
पर चढ़े हुए दो घोड़ा । २, एक रथ पर चढ़े हुए इन्द्र और अग्नि । वमा०—
इन्द्र के रथ में चढ़े हुए युद्ध करने के इच्छुक गायका । मै०—दो जो एक ही
रथ पर ह—अर्थात् घोड़ा और मारुति । आतस्थितासा—आ + √स्था +
कतु । पुल्लिङ्ग प्रथमा द्विवचन । वैदिक रूप ।

८, नाना हवते—सा० ने इन्द्राग्रे के पद म भी लगाया है—यज्ञमानों
द्वारा यज्ञ के लिए अलग अलग बुलाए जाते हैं ।

सहितापाठ

पदपाठ

१५, यस्मात् न स्रुते विजयन्ते
जनासो

यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।

यो विश्वस्य प्रतिमानं नृभूव

यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः

॥९॥

यस्मात् । न । स्रुते । प्रिजयन्ते ।

जनामः । यम् । युध्यमाना ।

अग्ने । हवन्ते । य । विश्वस्य ।

प्रतिमानम् । नृभूव । य ।

अच्युतच्युत् । स । जनाम् ।

इन्द्रः ॥९॥

सायणभाष्यम्—यस्माद्वते जनासो जना न विजयन्ते विजय न
प्राप्नुवन्ति । अतो युध्यमाना युद्ध कुशला जना अग्ने स्वरक्षगाय
यमिन्द्र हवन्त आह्वयन्ति । यत्र विश्वस्य सर्वस्य गत प्रतिमान

प्रतिनिधिर्भूय । यद्वाच्युतच्युद् अच्युताना क्षयरहिताना पर्वतादीना
च्यापयिता स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्मान्] जिस के [ऋते] बिना [जनास]
लाग [न विनयन्ते] नहीं जीतने हैं, [युध्यमाना] युद्ध करते हुए [यम्]
जिस को [अपसा] रक्षा के लिये [ह्वन्ते] पुकारते हैं, [य०] जो
[विवस्य] सबकुछ का [प्रतिमानम्] परिमाण निश्चिन करने वाला
[भूय] है, [य] जो [अच्युतच्युन्] स्थिरों में भागति लाने वाला है,
[जनास] हे पुरुषो, [स०] वह [इन्द्र०] इन्द्र है।

टिप्पणियाँ—१. न सृते—छन्द की दृष्टि में इस का उच्चारण नरूते
होगा। हिन्ने लिखते हैं कि ऋग्वेद में अ, आ के पश्चात् ऋ को अविकल
रक्षित किया है। यदि ऋ से पहले आ आया हो, तो उसे ह्रस्व कर दिया
जाता है—जैसे महा + ऋषि —महऋषि ।

२. न विनयन्ते जनास—व्याख्याताओं ने 'जनास' का भाव 'युद्ध
करने हुए लोग' लिया है। इस का भिन्न अभिप्राय भी लिया जा सकता है—
अपनी सत्ता व लिये संसार की परिस्थितियों से संघर्ष करने हुए व्यक्ति इन्द्र का
कृपा के बिना प्रतिकूल परिस्थितियों पर चढ़ नहीं पा सकते हैं। अतः ऐसे
व्यक्ति इन्द्र का श्रा = कृपा के लिए बुलाते हैं।

३. विश्वस्य प्रतिमानम्—सा०—प्रतिनिधि। मै०—समय। दृ० ५०—
'न हि नु अस्य प्रतिमानमस्ति अत्रात्तेषु उत ये जनिन्वा (ऋ० १।१८।४)—
जो उत्पन्न हो चुके हैं और वा उत्पन्न होंगे—उन सब में उत्तम के लिए कांड
समय नहीं है।' भाव यह है कि कोई उस से अधिक समय नहीं है, वह
सब में अधिक है। दस—परिमाणसाधक। अथात्—दयता का निधारक।
सब कुछ को उत्पन्न करने व कारण वही सब की सीमाया, विस्तार—छोटा
बड़ा, ऊँचा-नीचा, हल्का, भारी आदि का निधारक है।

४. अच्युतच्युन्—सा०—क्षयरहित पर्वत आदि का चालक। दस०—
स्थिरा में गतिशीलों को चञ्चल करने वाला। मै०—अक्षरों को चर बनाने

पाला । तु० क०—त्व व्यावयव्युतानि.. चरसि (ऋ० २।२०।८)—तुम स्थिरों को भी हिलाते हुए वर्तमान हो ।

(११) इस पद के बहुविधि व्याख्यान हो सकते हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति साम्यावस्था में थी । उस में ब्रह्म ने चञ्चलता उत्पन्न कर दी । परन्तु स्वयं निर्विकार रहा । उत्पन्न वस्तुओं में उन के पूर्व रूपों में पुनः पुनः विकार आता रहता है जिस को कुछ विद्वान् विकास और कुछ हास कहते हैं, परन्तु ईश्वर स्वयं विकारशून्य रहता है । देखो ऊपर मन्त्र ४ अ और उस पर टिप्पणी । यह पद ऋ० १।१८।५ में भी प्रयुक्त हुआ है ।

मंहितापाठः

१६. यः शश्वतो महोनो दधा-
नान्
अमन्यमानाञ्छर्वा जधानं ।
यः शश्वते नानुददाति शृध्यां
यो दस्योर्हन्ता स जनास
इन्द्रः ॥१०॥

पदपाठः

यः । शश्वतः । महि' । एनः ।
दधानान् । अमन्यमानान् ।
शर्वा' । जधानं । यः । शश्वते । न ।
अनुददाति । शृध्याम् । यः ।
दस्यो' । हन्ता । सः । जनामः ।
इन्द्रः ॥१०॥

सायणभाष्यम्—यो महि महदेनः पाप दधानान् शश्वतो दहूनमन्य-
मानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपृजयतो वा जनान् शर्वा । शृणाति शत्रून्ने-
मेति शरून्श्वः । तेनायुधेन जधान । हन्तेर्लिटि रूपम् । यश्च शश्वत उस्ताहं
कुर्वतेऽनात्मन्नाय जनाय शृध्यामुत्साहनीयं कर्म नानुददाति न प्रय-
च्छति । अनुपूर्वात् “हुदाञ् दाने” जौहोत्यादिकः । “अम्यस्तानामादि.” (पा०
६।१।१८६) इति “तिट् चोदानवति” (पा० ८।१।७१) इति गनेर्निघातः ।
यश्च दस्योरुपक्षयिनुः शत्रोर्हन्ता घातकः स इन्द्र इत्यादि पूर्वम् ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [महि] महान् [एनः] पाप को
[दधानान्] धारण करने वाले [शश्वतः] बहुतछत्रक [अमन्यमानान्]

(इन्द्र को) न मानने वाला को [शर्मा] बाण से [जघान] मार देता है । [य] जो [शर्षते] उदण्ड की [शृध्याम्] उच्छृङ्खलता को [न अनु ददाति] सहन नहीं करता है [यः] जो [दस्योः] दुष्टों का [हन्ता] वध करने वाला (है), [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्र] इन्द्र (है) ॥

टिप्पणियाँ—१ शर्षत —वेमा०, सा०—बहुता को । दस०—अनादि स्वरूप पदार्थों को धारण करने वाला (य —इन्द्र —परमेश्वर का विशेषण) । वमा० आदि के व्यर्थों से एक अनभिमत ध्वनि निकलती है—इन्द्र बहुत से पापिया को तो दण्ड दे देता है । रोष को नहीं ।

२. महिं—महत् का वैदिक रूप । नपु० द्वितीया एक व० ।

३. एनं — 'इयते प्राप्यते दुः समनेनेत्येन' । देखो उ० ४।१९८ ।

४. दधानान्—√धा + शानच् का पुल्लिङ्ग द्वितीया बहु व० का रूप । आन् को ओं रेबल एक ही समान पाद में होता है । दो पादों की सन्धि पर आने वाले को नहा होता ।

५. अमन्यमानान्—दस०—अज्ञानी शठ पापा (हि० अ०) । सा०—' अपने आप को न मानने वाले २ इन्द्र की पूजा न करने वाले । वेमा०—इन्द्र (की सत्ता या शक्ति) को न मानने वाले । मै०—यह विचार न करने वाले कि इन्द्र उन्हें मार देगा ।

६. शर्मा—शृणाति अनेन इति शर । तृतीया एक व० । सा०—वज्र, आयुध । दस०—शासन स्वी वज्र । वेमा०—हिंसक (वज्र ?) से । वेद०—ऋ० १।१००।१८ १७२।२, १८६।९, २।१२।१०, ४।३।७, २८।३ आदि और अय० १।२।३, १९।२ ६।५।२, १२।२।४७ म यह 'अज्र' आयुध का, बहुधा निश्चय से 'बाण' का (जैसे ऋ० १०।१२५।६, ८७।६ में), परन्तु सम्भवतः कभी कभी 'बाण, माला' का चोक्त है ।

(११) इन्द्र पापियों का एक दम वध नहीं करता है । उस को न मानने वाला प्राणी भी सत्कार में बने ही नहीं रहते प्रत्युत बहुधा समृद्धिशाली और

सुखी भी होते हैं। अतः यहाँ पर सायण आदि का अर्थ विचारणीय है। दस० का अर्थ प्रकरण में अधिक सगत होता है। इन्द्र सब को उन के कर्म के अनुसार फल देने वाला है। यदि इस पद का नैष्ठ अर्थ (✓श्रु से) लिया जाए और इसे 'क्षय' 'क्रमशः हास', 'पुण्या का और ज्ञान का नमपूर्वक होने वाला अत्यन्त क्षय' का द्योतक मान लें तो भाव अधिक सगत हो जाता है। ६ अ० जुघाने—✓हन् का लिट् प्रथम पु० एक व० का रूप। सब भाष्यकारों और अनुवादकों ने इसे हिंसार्थक माना है। शर्वा के ऊपर प्रस्तावित अर्थ की दृष्टि में इसे गत्यशङ्क भी माना जा सकता है—'पुण्या और ज्ञान के क्षय पर अभ्यस्त करता है।'।

७. शर्धते—सा०—उत्साह करने वाला। वेमा०—बल का प्रदर्शन करने वाला (= अकड दिखा कर प्रतिरोध करने वाला)। दस०—कुत्सित निन्दित पापयुक्त शब्द का उच्चारण करने वाला। मै०—घमण्डी, दया, उद्वण्ड। विको० ने इस पद के धातु शृघ् के अर्थों में 'खिली उड़ाना, नियम तोड़ना, कुत्सा करना' भी दिए हैं। दस० का अर्थ इन्हीं अर्थों से मिलता है।

८. अनुदृष्टाति—सा० नहीं देता है अर्थात् नहीं करने देता है। तु० क० दस०—अनुदृष्टता से नही देता है। मै०—क्षमा करना (चतुर्थ्यन्त पदों के योग में)। पीटर्सन भी 'स्वीकार करना, सहमत हो जाना, मुक्त जाना और क्षमा करना' में इसी अर्थ को ले रहे हैं। ये अपने समर्पण में अनामुदो (न छुपने वाला) वृषभः (ऋ० २।२१।४, २१।११) को उद्धृत करते हैं।

९. दस्योः—सा०—उपश्रयिता (= हिंसक, नाशक, दुःप्रदायी) शत्रु। दस०—दूसरों के पदार्थों का हरने वाला दुष्ट। वेमा०—अमुर। मै०—दस्यु, राक्षस। यह पद राक्षस आदि अनेकों राक्षसों का सामान्य निर्देश करता है।

(ii) ऋ० ४।१६।९ में दस्यु को मायावान्, अब्रह्मा १०।२२।८ में अकर्मा, अमन्त्रु, अन्यत्रत, अमानुष, १।३३।४ में घनी, १।१७।३, ६।१४।३, ६।४१।२ में अत्रत, ८।७०।११ में अयज्वन्, अदेवयु, २।११।१९ में रण्व् (स्पर्धा करने वाले), २।२०।८ में आयसी पुरो का (रक्षक या निवासी)

कहा है। अने० १८।१।२८ म दस्युओं को ज्ञातिमुख, अहुताद, परापुर और निपुर, १०।१।३७ में देवपीथु कहा है। अने० १८।१।२९ में ये पितरों में प्रविष्ट होने पर दस्यु अग्नि द्वारा यज्ञ से बाहर निकाले जाते हैं। अने० १०।१।१९ (ऋ० ३।३४।६), और ऋ० १।१०३।३ में इन्हें आर्यों से प्रथक् बताया गया है। उपरोक्त वर्णन से श्रेष्ठा (आर्यों) से इतर आध्यात्मिकज्ञानशून्य, धर्मरहित, भौतिकशक्ती, अव्यक्त, सम्यग्चिन्तों के द्वारा अपना दृष्ट सिद्ध करने वाले, परम स्वार्था, प्रजाओं में मिल कर उपजाप करने वाले, छली, कपटी और दूसरों के हित के नाश में तत्पर व्यक्ति ही दस्यु हैं। ऋ० ५।२६।१० में इन्हें मृगयाच भी कहा है। ऋ० ७।१८।१३ में आर्यों को भी मृगयाच कहा है। ऐ० ७।१८ में दस्यु उपरोक्त अर्थों का ही द्योतक माना जा सकता है क्योंकि वहाँ पर विजामित्र के कुछ वधनों को भी दस्यु कहा गया है। अने० आधुनिकों के इस विचार कि कुछ मन्त्रों में दस्यु अलौकिक मानवत्तर शत्रु और कुछ मन्त्रों में निश्चित रूप से व आदिम निषासी हैं—क लिए कोई स्थान नहा रह जाता है। ऐसी परिस्थिति में वैदिक दस्यु की इरानी दहू दस्यु से तुलना भी विचारणीय है।

१० ह्युता—यह पद '(शत्रु) पक्षान' के ऊपर प्रस्तावित भाव का अनुरूप है। अतः इस का भाव 'दस्युओं को नाश के मार्ग पर अवसर करता है।'।

सहितापाठ

पदपाठ

१७. यः शम्वरं पर्वतेषु क्षियन्तं	यः । शम्वरम् । पर्वतेषु ।
चत्वारिंश्र श्रद्यन्वमिन्दत् ।	क्षियन्तम् । चत्वारिंश्र्याम् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान	श्रदि । अनुऽअमिन्दत् । ओजाय-
दानुं शयानं स जनास इन्द्रः	मानम् । यः । अहिम् । जघान ।
॥११॥	दानुम् । शयानम् । सः । जनासः ।
	इन्द्रः ॥११॥

सायणभाष्यम्—यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रमिया बहून् संवत्सरान्
प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुह्याम् निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं मायाविनमसुरं
चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरेऽन्वविन्दतान्विष्यालमत । लब्ध्वा
च य ओजायमानम् । 'कर्तुः कथङ् सलोपश्च' (पा० ३।१।११) 'ओजसो-
ऽप्सरसो नित्यम्' (पा० ३।१।११) इति सकारलोपः । बलमाचरन्त-
महिमाहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान्
स इन्द्रो नाहमिति ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद--[यः] जिस ने [पर्वतेषु] पहाड़ों में [क्षियन्तम्]
रहने वाले [शम्बरम्] शम्बर को [चत्वारिंश्याम्] चालीसवीं [शरदि]
शरद् (शत्रु की तिथि) में [अनु अविन्दन्] पा लिया [यः] जिस ने
[ओजायमानम्] बल का प्रदर्शन करते हुए [शयानम्] लेटे हुए
[दानुम्] दानवील [अहिम्] गतिहीन मेघ को [जघान] मारा
[जनासः] हे पुरुषो, [मः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥ ११ ॥

टिप्पणियाँ--१. शम्बरम्—सा०, वेमा०—असुर । दस०—मेघ । मै०—
त्रन, बल और गुण का छोट कर, शम्बर इन्द्र का बहुत अधिक वर्णित राक्षस
गुरु है । द्र उस पर अपने पर्वत से ही आक्रमण करता है । बटुचा इसे
बहुत से दुर्गों का स्वामी कहा गया है । रोय—जिन मन्त्रों में दिवोदास का
नाम आया है, वहीं पर देवों की सहायता से उस की हिसक शम्बर से मुक्ति का
भी वर्णन किया गया है (जैसे ऋ० १।१११।१४, १।६।१२) । यद्यपि पिछले
काल में यह शत्रु मात्र का, विरोध इन्द्र के शत्रु का द्योतक है, परन्तु यह
सम्भव है कि इस अर्थ में समस्त शत्रुओं में सब से अधिक भयावह शत्रु,
मेघ के राक्षस की पुरानी स्मृतियों का प्रतिबिम्ब हो । वैद०—'शम्बर ऋग्वेद
में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है' । इस का नाम गुण, मित्र और वर्चिन् के
साथ आया है । एक मन्त्र में इसे 'कुष्ठिर का पुत्र दास' कहा गया है । एक

मन्त्रों में वह अपने आप को 'देवक' मानता है। उस के नैवे, निन्यान्वे या एक सौ दुर्गों का उल्लेख मिलता है। यह पद स्वयं नपुंसक लिंग बहुवचन में एक बार 'शम्बर के दुर्गों' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उस का प्रमुख शत्रु दिवोदास अतिथिग्व था जिस ने इन्द्र की सहायता से उसे जीत लिया।

(iii) निश्चय से यह कहना असम्भव है कि शम्बर वास्तविक प्राणी था या नहीं। हिलैब्राइट इसे दिवोदास का शत्रु एक जीवित राजा मानते हैं जो पीछे के मन्त्रों में क्रमशः राक्षस का रूप धारण करता गया। इस मत के अतिरिक्त सम्भवतः शम्बर पर्वतनिवासी भारत का मूल निवासी एक शत्रु था।

(iii) परन्तु ऋग्वेद के वर्णनों पर दृष्टि डालने से वेद० की उपरोक्त दो धारणाओं—दिव्य राक्षस और कोई प्राणीविशेष आदिनिवासी दिवोदास का शत्रु—को कोई पुष्टि प्राप्त नहीं होती। दिवोदास और शम्बर के युद्ध का ऋग्वेद में कोई वर्णन नहीं है। केवल इन्द्र दिवोदास अतिथिग्व के लिए शम्बर का हनन करता है। इस वर्णन में शम्बर मानवी शत्रु या दिव्य राक्षस से भिन्न अन्य ही कोई पदार्थ माना जा सकता है। ऋ० १।५४।४ के अनुसार इन्द्र ने द्युलोक की सानु को कम्पित कर शम्बर का नाश किया। ऋ० १।५९६ में वैश्वानर अग्नि जला (= वाष्टाः) को ह्वित कर शम्बर का वध करता है। अन्यत्र इन्द्र शम्बर को अतिथिग्व के गिरि से निवालता है^१। शम्बर दस्यु है^२। वह बृहत् पर्वत का अधिवासी कौलीतर दास है^३। अतः शम्बर सृष्टि रचना से पूर्व की मेघवत् आच्छादक स्थिति और तत्पश्चात् वह मेघ का घोनक है। ऋ० ८।१८।२० में अपने को देव समझने वाले को शम्बर कहा गया

१. ऋ० ७।१८।२० २. ऋ० १।१३०।७ ३. ऋ० २।१९।६

४. ऋ० २।१४।६ ५. ऋ० २।२४।२

६. ऋ० १।५१।६, १३०।७, २।१६।६; ४।२६।३ आदि।

७. ऋ० १।१२।१४ में शम्बरहत्य इन्द्र के युद्ध का चोक्त है, दिवोदास ने युद्ध का नहीं।

८. ऋ० १।१३०।७ ९. ऋ० ६।३१।४ १०. ऋ० ४।३०।१४

है। ऋ० १।६।१२ में सोम शम्बर तुर्यश यदु को प्रकाशदान (= दिवोदासाय) के लिए वशीभूत करता है। इन में शम्बर के आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण स्पष्ट है। डा० पतहसिंह अपने वैदिक दर्शन (पृ० १५५) में लिखते हैं—‘परन्तु, सोम का वास्तविक स्थान तो स्वयं आनन्दमय ब्रह्म ही है। वहीं सोम मुखित है। उस के चारों ओर निष्क्रिय वाक् कद्रू का पहल रहता है। यही वृत्र है—जो इस को घेरे हुए है—सोम के दोनों तत्त्व (प्रकाश तथा जल) इसी से आवृत रहते हैं। इसको मार कर इन्द्र प्रकाश तथा जल की मुक्ति करता है। यह शान्ति के साथ आवरण करने वाला है; अतः इस का नाम शम्बर है, सोम (आप.) को जुग लेने से यह सभी कुल को शुष्क कर देता है, इस लिए यह शुष्ण कहलाता है।……’ अतः शम्बर अज्ञान, अभिमानी जन आदि का भी द्योतक है। दस० के अर्थों जल, मुलावरक मेघ और शत्रु, अवर्मसम्बन्धी और कल्याणकारी में ये दृष्टियां परिलक्षित होती हैं। दस० ने इसे √सम् से व्युत्पन्न किया है। ऋ० १०।४२।७ में ‘शम्बरः’ (सा०—वत्र) का प्रयोग भी हुआ है।

२. पर्वतेषु—भाष्यकारों ने इस का अर्थ पर्वत = पहाड़ लिया है। इस वर्णन में पर्वत के स्थान पर गिरि का भी प्रयोग किया गया है। निघ० १।१०।१० में गिरि को और १।१०।१६ में पर्वत को मेघवाची कहा है। प्रत्येक पर्ववान् वस्तु पर्वत और उद्गूर्ण वस्तु गिरि है। अतः ये प्रत्येक की स्थिति और सृष्टि की स्थिति की सन्धि का द्योतक है। आध्यात्मिक जगत् में बुद्धि और मन आदि का वाचक है।

१. अवे० २०।३४।१२ में—‘अन्तगिरो यजमान बहु जन यस्मिन्नामूर्त’ में भी प्रस्तावित आध्यात्मिक दृष्टि लक्षित हो रही है। यह मन्त्र वहाँ पर विचार्यमाण मन्त्र के तुरन्त पश्चात् पढ़ा गया है। निघ० १।१०।१४ में शम्बर मेघनाम है, १।१२।८ में उदक्नाम और २।१।२८ में कल्नाम। निघ० ४।२।७२ में शम्बरः पदनाम है।

३. चत्वारिंश्या शरदि' अन्वधि'न्दत्—सामान्यतः इस का अर्थ 'चालीसवें वर्ष' या चालीसवीं शरद् ऋतु में' किया जाता है। तिलक ने इस का अर्थ 'शरद् ऋतु की चालीसवीं तिथि' किया है। शम्बर के अर्थ के समान इस पदावली का अर्थ भी एक समस्या है। शम्बर का जैसा अर्थ किया जाए उसी के अनुसार इस का अर्थ करना पड़ेगा। सशकौको० में इसे चतुर् और दशन् से व्युत्पन्न किया है। चतुर् √ चत् (मागना) और दशन् √ दश् (प्रसना) से बनते हैं। शरद् √ शृ (क्षीण करना—होना) से व्युत्पन्न है। अतः यह दयनीय क्षीण होती हुई अवस्था के चोक्क माने जा सकते हैं। यह अवस्था प्रलय काल की समाप्ति और जिज्ञान के मन में ज्ञान की पिपासा जाग्रत होने पर पाई जाती हैं।

४. ओज्जायमानम्—ओजस्=बल दिखाने वाले। फैलने वाले, सन को अपने वश में कर इन्द्र की शक्तियों का विरोध करने वाले।

५. अहि'म्--मेघ। ऊपर मन्त्र ३ में अहि पर शिपणी देखें।

६. दानु'म्—ददातीति दानु'। देने वाला। मा० आदि ने दानु को शम्बर की माता का नाम माना है। वर्षा करने के कारण मेघ दानु है, ज्ञान के लिए स्थान छोड़ने वाला अज्ञान भी दानु है।

७. शयानम्—√ शी + शानच् से। सोते हुए, लेटे हुए, अरुमण्य बने हुए। शम्बर के प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में इस का अर्थ 'पैले हुए' भी किया जा सकता है। लेटा हुआ व्यक्ति पैला हुआ ही होता है।

(१३) हिभ० में इस का मूल अर्थ लेटा हुआ = आराम करता हुआ = गतिहीन लिया गया है। परोपकार करने में समर्थ व्यक्ति यदि गतिहीन हो जाए तो लोक का बड़ा अनिष्ट हो जाता है। इसी लिए यत्नमय उन्नत पुरुषों को

१. शरद् के वैदिक प्रयोग से ऐसा लभित होता है कि उस बाल में वर्ष शरद् ऋतु से प्रारम्भ होता रहा होगा। शरद् का बहुवचन में प्रयोग स्पष्टतः ५ समस्त वर्ष का चोक्क है।

परोपकार में रत न रहने पर रसहीन, स्वायं = नेबलादी = केवलाध कहा है ।
ऐसे जन इन्द्र के नियमा को पूर्ण न करने से बध्य होते हैं । दया करने में
समर्थ होने पर भी न बरसने वाला मोक्ष ईश्वर का सूर्य द्वारा बध्य है ।

संहितापाठः

षट्पाठः

१८. यः सप्त रश्मिर्वृषभस्तुर्विष्मान् यः । सप्त रश्मिः । वृषभः । तुर्वि-
अवाप्तुजत्सर्तवे सप्त सिन्धून् । प्मान् । अवऽअसृजत् । सर्तवे ।
यो रौहिणमस्फुरज्जनाहु- सप्त । सिन्धून् । यः । रौहिणम् ।
द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः अस्फुरन् । वज्रऽवाहुः । द्याम् ।
आजरोहन्तम् । सः । जनासः ।
॥१२॥ इन्द्रः ॥१२॥

सायणभाष्यम्—यः सप्तरश्मिः सप्तसङ्ख्याकाः पर्जन्या रश्मयो यस्य ।
तं च रश्मयो “वराहश्च स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः क्षापयो गृहमेघाश्चेत्येते
ये चेमेऽशिमिविद्विष पर्जन्याः सप्त प्रथिवीमधिगच्छन्ति वृद्धिभिः”
(तै० आ० १।१।४।५) इति तैत्तिरीयारण्यके स्थापनात् । वृषभो ययस्स्तु
विष्मान् वृद्धिमान् धलवान् या सप्त सर्पणस्त्रभाजान् सिन्धूनपः सर्तवे
सरणापानासृजद् अमसृष्टवान् । यद्वा । गङ्गाद्याः सप्त मुरया नदीरन्तृजन् ।
यच्च वज्रजाहुः सन् द्या द्यमारोहन्त रौहिणममुरस्फुरज्जवान् । “स्फुर
स्फुरणे” तुदादि । ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[सप्तरश्मिः] सात निरणा बाण [वृषभ] काम
नाभा का पूरक [तुर्विष्मान्] शक्तिशाली [यः] जो [सर्तवे] बहने के
लिए [सप्त] सात [सिन्धून्] भागों को [अवाप्तुजत्] मुक्त करता है,
[वज्रजाहुः] वज्र के सहस्र मुँहों वाला [यः] जो [द्याम्] स्वर्ग में
[आरोहन्तम्] चढ़ते हुए [रौहिणम्] रौहिण को [अस्फुरन्] मारता
है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥

टिप्पणियाँ—१. सप्तर्शिमः—सा०—सात पर्जन्यों वाला । मै०—सात नाथों वाला । सम्भवतः इस का अर्थ दुर्घर्ष, अप्रतिहत है । पीटर्सन—रस्सियों से युक्त जो उस का नेतृत्व करती है और उस की सामर्थ्य को प्रकाशित करती है । घृष्टा देवताओं को इस प्रकार प्रगल्भ रूप में वर्णित किया गया है । दस०—सात प्रकार की किरणों वाला (सूर्यलोक) । ये रक्तादि सात रंगों वाली किरणें ही हैं ।

(ii) उ० ४।४६ में 'शिमः' को $\sqrt{\text{अश्}}$ (व्याप्त होना) से सिद्ध किया गया है । सूर्य की किरणें आरोग्यप्रद मानी गई हैं । जल चिकित्सा करने वाले इन किरणों को अलग अलग रंग की बोतला में रखते हुए बल में डाल कर उन से चिकित्सा करते हैं । सूर्य इन्द्र की शक्ति से ही गति करता है । अतः यहाँ पर ब्रह्म के सृष्टिवर्णन में प्राणियों को प्राण देने के वर्णन में उसे सप्तर्शिम सूर्य के रूप में स्मरण किया गया है । व्युत्पत्ति के आधार पर इस का अर्थ 'गतियाँ, शक्तियाँ' भी किया जा सकता है ।

२. वृषभः—वेमा०, सा०—वर्षक । मै०—बैल । वृषभपद देवताओं के लिए, विशेषतः इन्द्र के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । यह महान् शक्ति और ठोकरता, अमोघ वीर्यत्व का द्योतक है । दस०—मेघ की शक्ति को रोकने वाला । ऊपर १।१५।१३ में वृष्णे पर टिप्पणी भी देखें । वहाँ प्रस्तावित अर्थ भी यहाँ लगाया जा सकता है ।

३. तुर्विष्मान्—वेमा०—बलवान् । सा०—वृद्धिमान् । दस०—बहुत बल से खींचने की शक्ति से युक्त सूर्यलोक । मै० लिखते हैं कि पदपाठ में मन् प्रत्यय को केवल अजन्त प्रकृतियों के आगे आने पर ही अवग्रहोत्त किया जाता है (जैसे गोऽमान्) ।

४. सप्तैवे— $\sqrt{\text{स}}$ से तुमुजन्य में तवेन् प्रत्यय । गति करने के लिए ।

५. सप्त सिन्धून्—ऊपर २।१२।३ में सप्तसिन्धून् पर टिप्पणी देखें । जैउत्रा० १।२६।९ में सिन्धु की निरुक्ति 'तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः' दी है । इस के आधार पर यह पद घमनियों (=शरीरस्थ सफेद रक्तवाहिनी

नाडियों) का द्योतक है और यह अर्थ ऋ० ८।६६।१२ में संगत होता है^१। मानव को क्लोम (= फेफड़े) पर आने वाली रक्तवाहिनी नाडियों से ही जीवनशक्ति प्राप्त होती है।

६. रौहिणम्—सा०—अमुर । वैको०—इन्द्र का राक्षस दानु । यह ऋग्वेद के एक और मन्त्र (१।१०।३।०) तथा अवे० २०।१२८।१३ में भी प्रयुक्त हुआ है। हिलेब्राण्ड ने इसे रोहिणी नक्षत्र का नाम माना है, परन्तु इस के लिए कोई स्पष्ट युक्ति नहीं है। यास्क—मेघ (निघ० १।१०।१५) । दस०—रौहणशील मेघ ।

(३३) ऋ० १।१०।३।२ में अहि को मारने और रौहिण को पाड़ने का कथन किया गया है—अहन्नहिमभिनद्रौहिणम् । अवे० २०।१२८।१३ में वृत्र के शिर को पाड़ने और रौहिण को निकालने, ऊपर फेंकने का वर्णन है—त्व रौहिण व्यास्यो । वि + आ + √ अस् फेंकना + लङ् मध्यम पु० एक व०) वि वृत्रस्याभिनच्छिरः । उ० २।५५ में इसे √ वह् से व्युत्पन्न किया है—रोहति धीजेन जायते यः स रोहिणः । अर्थात्—वनस्पतियाँ—वृक्ष, छता, पौधे आदि । रौहिण-रोहिण से स्वार्थ में या जात-अर्थ में (औणादिकपदार्णव ३।६४।२९९, पृ० १४६) ।

७. अस्फुरन्—सा०—मार दिया । दस०—फुरती देता या चलाता है । रौहिण के प्रस्तावित अर्थ में—विकसित करता है, बढ़ाता है ।

८. वज्रवाहुः—मै०—वज्र धारण करने वाला । सा०—वज्र के सदृश भुजाओं वाला । दस०—भुजाओं के समान (वज्र=) किरणसमूह वाला ।

१. देवो—हमारा ग्रन्थ—ए क्रिटिकल स्टडी औफ टी कम्पैण्टरी औन दी ऋग्वेद थर्डे स्वामी दयानन्द (सीएमडी० नाम से उद्धृत) (अप्रकाशित), पृ० ३११—३१४ । नि० ५।२७ में यास्क ने इस मन्त्र के अर्थ में 'यस्य तव देव सप्त सिन्धवः प्राणायानुक्षरन्ति' लिखते हुए 'प्राणाय' पद से हमारे प्रस्तावित अर्थ का समर्थन किया है । हमारा लेख ए स्टडी औफ दयानन्द (२), पूना ओरिएण्टल्लिस्ट १३।३-४ लेख पृ० ८ संदर्भ ३ भी देखें ।

९. याम् आरोहन्तम्—मै०—इन्द्र पर व्याक्रमण करने के लिए स्वर्ग में चढ़ते हुए को । प्रस्तावित अर्थों में—उगते हुए, आकाश में चढ़ते हुए, निकलते हुए ।

९. भाव यह है कि इन्द्र सूर्य की किरणों द्वारा प्राणियों को जीवनशक्ति देता है और समस्त उगने वाली वनस्पति आदि वस्तुओं को उगाता, बढ़ाता और खिलता है ।

संहितापाठः

१९. द्यावा चिदस्मै पृथिवी
नमेते
शुष्माचिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रवाहु-
र्यो वज्रहस्तः स जनासु इन्द्रः
॥१३॥

पदपाठः

द्यावा । चित् । अस्मै । पृथिवी
इति । नमेते इति । शुष्मात् ।
चित् । अस्य । पर्वताः । भयन्ते ।
यः । सोमपाः । निचितः ।
वज्रवाहुः । यः । वज्रहस्तः ।
सः । जनासुः । इन्द्रः ॥१३॥

सायणभाष्यम्—अस्मै इन्द्राय द्यावा पृथिवी । इतरेतरापेक्षया द्विवचन
“प्र मित्रयोर्वर्णयोः” (ऋ० ७।६९।१) इतिषत् । नमेते स्वयमेव
प्रह्वीभयतः । “णमु प्रह्वते” । कर्मकर्तृणि “न दुहस्तुनर्वा यक्विणौ” (पा०
३।१।८६) इति यक्. प्रतिषेध । चिद् अपि च अस्येन्द्रस्य शुष्माद् बलात्
पर्वता भयन्ते विभ्यति । यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः ।
यद्वा । अन्येभ्योऽपि देवेभ्यो दृढाङ्गः । वज्रगर्द्वजसन्श्चवाहुः । यश्च
वज्रहस्तो वज्रयुक्तः स इन्द्र इत्यादि शसिद्धम् ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्मै] इस (इन्द्र) के लिए [द्यावा] शूलोक
(और) [पृथिवी] पृथिवी लोक [चित्] मी [नमेते] शुकते हैं,
[अस्य] इस के [शुष्मात्] बल से [पर्वताः] पर्वत [चित्] मी
[भयन्ते] डरते हैं [यः] जो [वज्रवाहुः] वज्र के समान भुजाओं वाला

[सोमपाः] सोम का पीने वाला [निचितः] निश्चय किया गया है, (और) [यः] जो [यज्रहस्तः] हाथ में यज्र धारण करने वाला है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] यह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥

टिप्पणियाँ—१. द्यावा.. पृथिवी—देवता इन्द्र समास के दोनों पद बहुधा अन्य पदों के व्यवधान से पृथक् पृथक् किये हुए भी मिलते हैं। इन समासों में दोनों पदों का अपना-अपना स्वर सुरक्षित पाया जाता है। अतः इन में दो उदात्त अक्षर होते हैं। सा० के अनुसार एक दूसरे की अपेक्षा से 'मित्रयोर्वरुणयो' के समान ये दोनों ही पद द्विवचनान्त हैं।

२. चिन्—सा०—मी। दस०—इव, समान। निघ० ४।२।११ में इसे पदानाम माना गया है। नि० १।४ में इसे पूजार्थक और उपमार्थक भी बताया है। यह ✓चि चुनना से निष्पन्न है। अतः इसे अस्मै और अस्य का विशेषण भी बनाया जा सकता है।

३. नमते—स्रक्ते हैं। दस०—अतिसामर्थ्ययुक्त शब्दायमान होते हैं।

४. शुष्मात्—सा०, दस०—बल। मै०—वेग, प्रचण्डता। पीटर्सन—साम। ऊपर मन्त्र १ में शुष्मात् पर टिप्पणी देखें।

५. पर्वताः—भाष्यकार और अनुवादक इसे पहाड़ के अर्थ में लेते हैं। जैसा ऊपर म० ११ में पर्वतेषु की टिप्पणी में लिखा है प्रत्येक पर्व = जोड़ से युक्त वस्तु पर्वत है। अतः सगमनशक्ति, एकता की शक्ति। एकता ओर सगमन से शक्ति अप्रतिहत, दुर्धर्ष हो जाती है। इन्द्र के सामने ऐसी शक्ति भी निर्गर्भ हो कर भीरुपत् हो जाती है।

(११) ऊपर द्यावा प्रकाश, तेज का और पृथिवी विस्तार का प्रतीक है। तेजस्वी और प्रवृद्ध शक्तियाँ भी इन्द्र के सामने हीन हैं।

६. सोमपाः—सा०—सोम रस का पीने वाला। दस०—पदार्थों के रस को पीने = खींचने वाला। ऊपर म० ६ में मुतसोमस्य पर टिप्पणी भी देखें।

(१२) सोमपाः में उत्तरपद को ✓पा रक्षणे का भी रूप माना जा सकता है। इन्द्र प्राणों की रक्षा करने वाला और अपनी सामर्थ्य से सब को नियमित

करने वाला, कमजोर क्षीण करने वाला है । नीचे वज्रहस्त* पर गिप्पणी भी देख ।

७. निश्चित — मै० — समझा गया है । दस० — निरन्तर अनेक पदार्थों से इकट्ठा किया गया । नि + √ चि + स का रूप । वेमा० — दृढ़ शरीर वाला ।

८. यज्र*ग्राहु — सा० — वज्र के समान भुजाओं वाला । मै० — भुजा में वज्र को धारण करने वाला । दस० — ब्रह्मों के समान किरणों का बल ।

९. यज्र*हस्त — सा० — यज्रयुक्त । मै० — हाथ में वज्र को धारण करने वाला । दस० — किरण रूप हाथों वाला ।

(३) यहाँ पर वज्रग्राहु और वज्रहस्तः दोनों लगभग एक ही भाव के चोतक प्रतीत होते हैं, इस कारण इन में से एक का प्रयोग पर्याप्त था । अतः इन दोनों का युगपत् प्रयोग साभिप्राय है—वज्रग्राहु — प्राणशक्ति की सम्पन्नता, पोषक शक्ति का और वज्रहस्त* — संहारक, क्षीण करने वाली शक्ति का चोतक है । ये ही दोनों भाव ऊपर सोमपा* से निकाले गए हैं ।

सहितापाठ

पदपाठ

२०. यः सुन्वन्तुमवति यः पचन्तु

यः शंसन्तु यः शंसमानमृती ।

यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो

यस्येदं राघः स जनास इन्द्रः

॥१४॥

यः । सुन्वन्तम् । अवति । यः ।

पचन्तम् । यः । शंसन्तम् । यः ।

शंसमानम् । ऊती । यस्य । ब्रह्म ।

वर्धनम् । यस्य । सोमः । यस्य ।

इदम् । राघः । सः । जनासः ।

इन्द्रः ॥१४॥

सायणभाष्यम्—य सुन्वन्तं सोमाभिपद्ये बुर्वन्त यजमानमवति रक्षति । यश्च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्त यज्र ऊती ऊतये । "क्षुपा सुडक्" (पा० ७।१।१९) इति चतुर्थ्या पूर्वसवर्णदीर्घः । स्वरक्षाये शस्त्राणि शसन्त यज्र शंसमानमवति स्तोत्रं कुर्वाण रक्षति । ब्रह्म परिवृढ स्तोत्र यस्य वर्धनं वृद्धिपरं भवति । तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति । यस्य

चेदमस्मदीये राधः पुरोडाशादिलक्ष्ममन्नं वृद्धिकरं भवति । स इन्द्र
इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [ऊर्ता] अपनी रक्षा से [सुन्धन्तम्]
सोमरस निकालने वाले की, [यः] जो [पचन्तम्] (इन्द्र) के लिए पकाने
वाले की [यः] जो [शंसन्तम्] स्तुति करने वाले की (और) [यः] जो
[शशमानम्] प्रार्थना करने वाले की [अवनि] रक्षा करता है, [यस्य]
जिस के [ब्रह्म] प्रार्थनाएँ [सोमः] सोमरस और [यस्य] जिस का
[इदम्] यह [राधः] धन [वर्धनम्] वर्धक (हैं), (हे) [जनासः]
पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ १४ ॥

टिप्पणियाँ—१. इस मन्त्र का भाव यह है—कर्मशील, परोपकारी,
इन्द्र के भक्त, सर्व इन्द्र को प्रिय रहने हैं । जो इस के विपरीत आलसी,
स्वार्थी, इन्द्र की सत्ता को न मानने वाले इन्द्र द्वारा प्रेयः और श्रेयः के सतत
दान द्वारा रक्षित नहीं होते हैं । ऐसे जनों को इन्द्र क्षीण करता रहता है ।
इन्द्र की प्राप्ति लोगों के पाठ, दूसरों को मुक्त देने और परोपकार में लगे हुए
धन से सम्भव है । इन्हीं कर्मों से प्रसन्न हो कर वह अपने आप का जिज्ञासुओं के
सामने प्रकाशित कर देता है । तु० क०—उतो त्वस्मै तन्वं विसृजे जायेन पत्य
उशती सुधासाः । (ऋ० १०।७।१४) आदि ।

२. सुन्धन्तम्—सा०—सोम रस निकालने वाला । दस०—सब के लिए
मुक्तों की सृष्टि करने वाला ।

३. पचन्तम्—सा०—पुरोडाश आदि हवियों का पकानेवाला । वेमा०—
चर और पशुओं के अंगों को पकाने वाला । पीटर्सन—सोम को (पका कर)
शराब बनाने वाला ।

(ii) सब भाष्यकारों का विचार है कि सोम निकालना आदि क्रियाएँ
इन्द्र के लिए की जा रही हैं । जिस से वह प्रसन्न हो जाए । अपनी सेवा और
प्रशंसा से सभी प्रफुल्लित होते हैं । इन्द्र इस का अपवाद कैसे हो सकते हैं ।

(iii) परन्तु वेद में पुरुषसूक्त, यज्ञसूक्त आदि में यज्ञ = ससार का कल्याण
करने का विधान दिखाई पड़ता है । ऋग्वेद में कहा भी है—नेत्रडागो भवनि

वेवलादी (ऋ० १०।११७।६) । अतः यह पाचन इन्द्र के लिए नहीं प्रयुक्त अतिथि यज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और देवयज्ञ के निमित्त है ।

४ शसन्तम्—सा०—शस्त्रैर्गठ करते हुए । पोर्सन—गायक, स्तोता ।
मे०—देवताओं व प्रशंसक ।

(११) इम में नीति के वचन 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् । न ब्रूयात् सत्यम् प्रियम् । प्रियं च जातुतम् का माच निश्चित है । दूसरों की निगा से न अपने को क्षान्ति मिलती है न अर्थों को ही ।

५ शशमानम्—सा०—स्तोत्र पढ़ने वाला । वमा०—स्तुतियों से पूजा करने वाला । मे०—यज्ञ निष्पन्न कर देने वाला । प्रा०—√गम् + कानच् से । इस के मूल अर्थ—'काम करना, परिश्रम करना, गतिशील होना' ही ऋग्वेद में सर्वत्र मिलते हैं । इसी से पिछले अर्थ 'यज्ञा, विश्राम करना' निकले हैं । गु० य० मीरु कम् नो ये अर्थों का विकास । अन्य अर्थों के साथ यह '(यज्ञ द्वारा) देवताओं की सेवा में तपस्व रहना, ब्रह्म से प्रार्थना करना' का भी द्योतक है । नि० ६।८—प्रशसा करते हुए । निघ० १।१४।२२—अचा करते हुए ४।१।३८—पदनामै ।

६ अर्थति—√अव के भय रक्षा, गति, कान्ति, दीप्ति, प्रीति, वृत्ति, श्रवण आदि हैं । अतः इन्द्र परमुख निरत को गति और वृत्ति देता है, वरार्थ के लिए पकाने वाले को दीप्ति, ऐश्वर्यदान आदि देता है । प्रिय कोलने वालों में प्रीति उत्पन्न करता है और परिश्रमी को त्रिधा और भागवृद्धि देता है ।

७ ऊती—मे० √अव् + क्तिन् = कृति, कृतीया एक व०, स्त्रीलिंग । वैदिक रूप । मे० इसे अगति व साथ लगा कर 'सहायता से' अर्थ करते हैं । सा० ने इसे चतुर्थ्यन्त मान कर शसन्तम् कम् का प्रयोजन माना है ।

१ अप्रगतिमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं यज्ञम् । २ प्रगतिमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम् । ३ निघ० के समस्त पदनाम गति, प्राप्ति और शानाथक होते हैं । देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड टी निघण्टु और यास्क, आश्रमिका (स०) १६५३ (अहमदाबाद) ।

(११) 'उतो त्वस्मै तन्व विसखे' के भाव के अनुसार इस का अर्थ 'अपने स्वरूप का प्रकाशन' भी किया जा सकता है ।

८ ब्रह्म—√बृह् बढना से । ऊपर मन्त्र ६ में ब्रह्मण पद पर णिष्णी देखें । सा०—परिवृद्ध स्तोत्र । पीटर्सन—प्रार्थना । ब्राह्मण ग्रंथों में इस के यज्ञ, मन्त्र, ऋक्, गायत्री, प्रणव आदि अर्थ दिए गए हैं । अतः वेदज्ञान, प्रणवजप रूप यज्ञ आदि ।

९ सोम—ऊपर मन्त्र ६ में सुतसोमस्य पर णिष्णी देखें । सोम शान्ति और मन सयम का स्रोतक है । दु० क० सौम्य-पद । श० ३।३।२।३ में सोम के वास को शोभन बताया है । यह ब्राह्मणों का भक्ष है (ऐ० ७।२९) । दत्त०—चंद्रमा और ओषधियों का समूह ।

१० राध—सा०—पुरोडाश आदि अन्न । मै०—भेंट । दत्त०—धन ।

(१२) यह √राध् सिद्ध करना, प्रसन्न करना आदि से बना है । दूसरों की सिद्धि करने वाला, प्रसन्न करने वाला, अतः परोपकार में लगाया हुआ धन ।

सहितापाठः

पदपाठः

२१. य मुन्वते पचते दुध आ

चिद्

वाजं ददपि स किलासि सत्यः ।

चयं तं इन्द्र विश्वहं प्रियासः

सुग्रीरासो विदथमा वंदेमा ॥१५॥

य. । मुन्वते । पचते । दुधः ।

आ । चिद् । वाजम् । ददपि ।

सः । किल । असि । सत्यः ।

वयम् । ते । इन्द्र । विश्वहं ।

प्रियासः । सुग्रीरासः । विदथम् ।

आ । वदमे ॥१५॥

सायणभाष्यम्—इदानीमपि साक्षात्कृतमिन्द्र प्रति ब्रूते । हे इन्द्र यो दुध्रा दुधरं सन् मुन्वते सामाभिपन्नं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यन्मानाय वातमन्नं यत् वा ददपि भृशं प्रापयसि स तान्निगत्स्व सत्या

यथार्थभूतोऽसि । न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि । किलेति प्रसिद्धौ । ते तव प्रियासः सुवीरासः कस्याणपुत्रपौत्राः सन्तो वयं विश्वह सर्वेऽप्यहम् । विदयं स्तोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[दुध्र] घोर [यः] जो [मुन्यते] सोम रस निकालने वाले [पचते] (परोपकार के लिए) पकाने वाले के लिए [वाजम्] अन्न [चित्] भी [आदर्दपि] देते हो [सः] वह (तुम) [धिल] नि सन्देह [सत्यः] सच्चे [असि] हो । [इन्द्र] हे इन्द्र, [सुवीरासः] उत्तम वीर सत्तानों वाले [ते] तुम्हारे [प्रियासः] प्रिय [ययम्] हम [विश्वह] सदा ही [विदयम्] प्रार्थना के वाक्य [आ वदेम] बोलते रहें ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—दुध्र—सा०—दुर्घर । दस०—कठिनता से जान कर हृदय में घारण करने योग्य (ईश्वर) । मै०—परम उग्र ।

(ii) इस सूक्त में जैसा ऊपर दिखाया गया है इन्द्र-परमेश्वर के खूबि रचना विषयक दोषधर्मों का वर्णन किया गया है । जिस की शक्ति इतनी महान् है जितनी ऊपर वर्णित की जा चुकी है और जो इन्द्रियों को प्रत्यक्ष नहा है उसे जानना और अनुभव करना सरल नहीं । वह सब को अपने शासन में रखने वाला और दण्ड्यों को दण्ड देने वाला है । अतः वह 'दुध्र' (दूर + √धृ से) है ।

२. वाजम्—सा०—अन्न, बल । दस०—सत्र के वेद्य को । मै०—लूट का माल । मै०—वाज का सम्बन्ध वेजेओ, विजेओ, विजिल्, वाङ्मर से है । यह वेद के उन कठिनतम पदों में से है जिस के सामान्य अर्थ की कल्पना की जा सकती है, परन्तु अधिकांश स्थलों पर निश्चित रूप से समझना सम्भव नहीं । सेंट पीटर्सबर्ग कोष में ये अर्थ दिए गए हैं—वीरता, दौड, दौड का विजय घन (= पारितोषिक), राम, निधि, (भाष्यकारों के अनुसार बहुधा अन्न, हवि), दौड का घोड़ा आदि । इन् सन अर्थों के एक समान मूल की खोज कठिन है । तो भी हम—बल, श्रम, सघर्ष, दौड—चाहे मैत्रीपूर्ण हो,

चाहे शत्रुता के कारण अर्थों से प्रारम्भ कर सकते हैं और तब हम—जो कुछ दौड़ या युद्ध में जीता जाय अर्थात् लूट का माल, निधि पर पहुँच कर अन्त में बाजा: को उपार्जित घन, भेंट में प्रदत्त वस्तुओं—के अधिक व्यापक अर्थों में ले सकते हैं । (इण्डिया ब्याट कैन् इट दीच अस, पृ० १६४) । त्रिको०—ने ये अर्थ भी दिए हैं—उत्साह, शक्ति, प्राणशक्ति, गति (विशेष रूप से घोड़े की), बाण पर लगे हुए पर, पर, घ्वनि, ऋमु, चैत्रमास आदि । ब्राह्मणग्रन्थों में इस के वीर्य, ओपधियों, पशु, स्वर्गलोक, अन्न और वाक् अर्थ मिलते हैं । गो० २।१।२० में छन्दासि को और गो० २।१।२२ में उक्थ्या: को वाजिनः कह कर बाज का अर्थ ज्ञान किया है (तै० १।१।२।१५ भी देखें) । पाठ० सूत० १७,४८ में बाज पर टिप्पणी भी देखें । निघ० २।७।२ में यह अन्न नाम है, २।६।१अ में बलनाम । निघ० ४।२।१५ में बाजगन्ध्यम् को और ५।६।१० में वाजिनः को पदनाम मान कर बाज को भी पदनाम माना गया है (सीप्सडी० पृ० ३९४ भी देखें) । अतः भारतीय परम्परा इसे √वज् जाना से व्युत्पन्न कर के समस्त अर्थों को गति-अर्थ से ही विकसित करती है । डा० फ़तहसिद् ने वैए० ६२८ में माना है कि ऋ० १।४।६ 'त त्वा बाजेषु वाजिन वाजयामः शतक्रतो' में भी बाज को √वज् से व्युत्पन्न किया गया है । दस० ने इसी आधार पर अपने अर्थ दिए हैं ।

(ii) सूक्त में प्रस्तावित भावों और पिछले मन्त्र में सुन्वन्तम् आदि की दृष्टि में इस का अर्थ उत्साह, बल, शक्ति, घन, अन्न और ज्ञान किए जा सकते हैं ।

३. आ दर्द पिं—आ + √वृ + वङ् + लट् मध्यम पु० एक व० । सा०—प्रभूत रूप में प्राप्त कराते हो । मै०—(छीन कर) देते हो । दस०—सर ओर से पूर्ण रूप से नष्ट करते हो । यहाँ पर सायणीय अर्थ ही ग्राह्य है ।

४. विदथम्—ओल्डनर्य इसे वि + √धा से० व्युत्पन्न मानते हैं । वि √धा का अर्थ 'काटना, प्रबन्ध करना, विधान करना' है । अतः विदथ का मूल अर्थ विधान के अर्थों के सदृश 'विभाजन, प्रबन्ध, नियम, विधान' रहे

होगे। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में यज्ञ ही परम कृत्रिमता से विहित था। अतः यज्ञ (हवन) और विदय (नियम, विधान) लगभग पर्याय बन गए। अन्त में विदय का अर्थ 'किसी काम को पूरा करना' आदि मालूम पड़ता है। बृहद् सदेम विदये सुवीराः आदि सदमों में यह अर्थ उपलब्ध होता मालूम देता है। इस प्रकार 'विदय' और 'समा' अर्थों में एक दूसरे के समीप पहुँचते हैं। समा में प्रमायशाली पुरुष को विदय्य भी कहा गया है और समेय भी। (वैदिक हिन्त)।

(ii) मै० लिखते हैं कि इस पद की व्युत्पत्ति और ठीक ठीक अर्थों पर बड़ी ऊहापोह की गई है। अब इस में कोई सन्देह नहीं रहा है कि यह √विष् पूजा करने से निष्पन्न है और इस का अर्थ दिव्य पूजा (= देवपूजा) है। इस का यज्ञ से भेद करना अति कठिन है। निघ० ३।१७ में यह यज्ञनाम भी है।

(iii) निघ० ३।१७अ में विदयः यज्ञनाम है और ४।३।३३ में पदनाम। यज्ञनाम होने से इस पद के देवपूजा, सगतिकरण और दान तथा पदनाम होने से गति, ज्ञान और प्राप्ति अर्थ भी अभिप्रेत हैं। (वेत्तो येमाप० १३ ; ३०)। नि० ६।७ में इसे √विद् ज्ञानना से व्युत्पन्न किया गया है। एया० में इस के अनुरूप भायो० उद्—देखना दिया गया है और विदये को गैलिक हुइदिस्—परम मेधावी (हु + उद्) से तुलित किया गया है। यहाँ इस निर्वचन को आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों के अनुकूल माना गया है।

५. यः सुंयते०—केवल यह अन्तिम मन्त्र ही 'स जनास इन्द्र' से समाप्त नहीं होता है। इस में वर्णन मध्यम पुरुष में किया गया है। पाद २ में 'स किल्लासि सत्यः' का प्रयोग किया गया है। शेष मन्त्रों की दृष्टि में यहाँ मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष में पर्यवसान अस्मीष्ट है। मन्त्र के पाद ४ में यत्समद ने अपना प्रिय वाक्य 'बृहद्देम विदये सुवीराः' रक्खा है।

१. वेमाप० ४।३२-४४ भी देखें।



ऋ० १०।९०—पुरुषसूक्तम्

ऋषिः—नागयणः । देवता—पुरुषः । छन्दः—१-१५ अनु-
ष्टुप् ; १६ त्रिष्टुप् ।

सहितापाठ

पदपाठ

२२. सहस्रशीर्षा पुरुषः

सहस्रंऽशीर्षा । पुरुषः ।

सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

सहस्रंऽअक्षः । सहस्रंऽपात् ।

स भूमिं निश्चतों वृत्वा-

सः । भूमिम् । निश्चतः । वृत्वा ।

त्यतिष्ठद्दशङ्गुलम् ॥१॥

अति । अतिष्ठत् । दशंऽअङ्गुलम् ॥१॥

यजुर्देवे तृतीयपादस्त्वेवम्—

यजुर्देवीय पदपाठ—

स भूमिं ~ सुर्वतः स्पृत्वा-००००

सहस्रशीर्षेति सहस्रंऽशीर्षा ।

पुरुषः । सहस्राक्षऽ इति सहस्र-

ऽअक्षः । सहस्रपादिति सहस्र-

ऽपात् । सः । भूमिम् । सुर्वतः ।

स्पृत्वा । अति । अतिष्ठन् ।

दशङ्गुलमिति दशंऽअङ्गुलम् ॥१॥

सायणभाष्यम्—“सहस्रशीर्षा” इति षोडशर्चं षष्ठं सूक्तम् । नारायणो
नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः । अत्रास्यमहदादित्रिलक्षमश्वेतनो म. पुरुषः

“पुरुषात्र परं चिचित्” (क. उ. ३ । ११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता । तथा चानुमान्तं—“सहस्रशीर्षां षोडश नारायणः षोडशमानुष्युभं त्रिष्टुबन्तं तु” इति । गतो विनिवोधा ।

१. सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडारयो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणव्यादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि भर्त्राणि तदेहान्तःपातिस्थान् तदीयान्येषेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राभित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमि-ब्रह्माण्डगोलरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्त्या परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितम् देशम् अत्यतिष्ठन् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [सहस्रशीर्षाः] हजारों सिरों वाला [सहस्राक्षः] हजारों आँखों वाला [सहस्रपाद्] हजारों पैरों वाला (है) । [सः] वह [भूमिम्] विद्यमान उत्पन्न सब कुछ को [विश्वतः] सब ओर से [वृत्त्या] आच्छादित कर के [दशाङ्गुलम्] दस अंगुलियों की दूरी पर [अत्यतिष्ठन्] वर्तमान है ॥ १ ॥

टिप्पणियाँ—१. सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपाद्—सा०—सहस्र में उपलक्षण है । अतः अमरस्य सिर आँखों आर पैरों वाला । उत्पादित प्राणियों के निर, पैर, ओर आते हैं । दस० का विचार है कि समस्त प्राणियों के ईश्वर में निवास करने के कारण ही ईश्वर को ये विशेषण प्राप्त हुए हैं ।

(ii) यहा पर सिर, आँख और पैर को ब्रह्म की इन पदों से द्योतित शक्तिः—१. चिति=ज्ञान, अनुभव २. दर्शन, निरीक्षण, शासन ३. गति, धारण, रक्षण, प्राण अभिप्रेत है । ब्रह्म इन्हीं के द्वारा समस्त जगत् का संचालन आदि करता है । इसी लिए उपनिषदों में लिखा है कि—

“सर्वतः प्राणिनां तत्सर्वतोऽपिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमहोदये सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥” श्वेउ० ३।१६॥

वेद में भी कहा है—

‘विश्वतश्चनुरुत विश्वगोमुखो विश्वतो वाङ्मृत विश्वतश्वात् ।

स वाङ्मया धमात सं पतत्रयागामूमी जनयन् देव एर ॥’

ऋ० १०।८।१।३ य० १३।१९ ।

२ पुरुष — सा०—सब प्राणियों की समाष्ट रूप ब्रह्माण्डदह । रा० । दस०—सबत्र पारपूर्ण व्यापक जगदीश्वर (यमा०) । ‘पुरुष उस का कहत है । क जा इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिस ने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्ता है । पुर कहत हैं ब्रह्माण्ड आर शरीर का । उस म जा मयत्र व्याप्त और जो जीव व भीतर भी व्यापक आर अतनामा है ।’ ऋभाभू० पृ० १५१ ॥

(११) डा० फतहसिह ने बैए० ४४७ म वैदिक साहाय्य से इस क ये तवचन और अर्थ सफलत किए हैं—

१ पुरि शेत इति । पुर + √ शी । प्राग अथवा शरीरस्थ आ मा, वायु, भौतिक जगत् म रहने वाला प्राण ।

२ √ पृ भरना स—सब वस्तुओं में व्याप्त ब्रह्म ।

३ पूर + √ अस् (होना से)—मत्र पदार्थों से पूर (व्यपन्न) प्रजापति ।

(१११) ब्राह्मण ग्रन्थों म पुरुष को वायु, प्राग, मनषा का गृहक, साम, ब्रह्म, अमृत, प्रजापति, पशुओं का अधिपान, पग, यज्ञ, आग्नि, सुरण सब सर आदि कहा है ।

३ भूमिम्—भवतीत भूमि । सा०—ब्रह्माण्डगोलक । मै०—पृथिवी । तस०—पृथिवी से प्रकृति पयन्त समस्त जगत् ।

४ विश्वता वृत्ता—सब ओरसे ढक कर व्याप्त करना । सब को व्याप्त करने म साधन प्रथम दो पात्र व प्रस्तावित अर्थों म वर्णित किए गए हैं । यजुर्वेद म ‘सर्वत सृत्वा’ का भी यही अर्थ है ।

५ दुशाङ्गुलम्—मै०—यह कहने का एक प्रकार है । म उस का आकार पृथिवी म आकार से भी बड़ा था । पॉल्सन—‘दस अंगुल्या की लम्बाई ।

यह पद सूक्ष्मेद में अन्यत्र नहीं आया है । रौप्य ने इस अयं की पुष्टि में मनु० ८।२७१ उद्धृत किया है जिसमें दद्यागुल (दस अंगुल लम्बे) शकु का वर्णन है । सौ०—दस अंगुलों से जपा हुआ स्थान । यह उपलब्ध है । अतः ब्रह्माण्ड से बाहर भी । शोभक—१ दस इन्द्रिया (२) दस अंगुल के मान का (नाभि से) हृदय (तर्क का) स्थान; (३) नासिका का अग्र भाग । दस—१. पाच स्थूल और पाच सूक्ष्म भूतों लगी अगों वाला बगल । २. पाच प्राग, मन, बुद्धि, चित और अहकार, जीव ३. दस अंगुल के परिमाण वाला हृदयदेश । इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड और हृदय का उपलब्ध है, इन सब को ।

(ii) इन में से कुछ व्याख्यानों में 'भूमिम्' के भाव का ही विस्तार है । आगे मन्त्र ३ में भी ऐसा ही भाव है । अतः उन में या तो दशाह्वलम् को भूमिम् का लिंग व्यत्यय कर के विशेषण माना जाए अथवा उन को विचारणीय माना जाए ।

(iii) भारतीय विचार के अनुसार सृष्टि में शक्ति बने, हास होता रहता है और वह विनाशोन्मुख रहती है और अन्त में प्रलय हो जाती है । अतः दस विचारधारा में ब्रह्म या पुरुष इस ब्रह्माण्ड को व्याप्त तो करता है, परन्तु उस की प्रमनशक्ति भी साथ-साथ कार्य करती है । यही भाव इन पद का प्रतीत होता है—दद्यतीति दस्य (स० १।१५६ दम०) प्रमित करने वाला । अगति चेद्वेत्तेन तदगुलम् (तु. क. उ. ४।२) चेष्टा, गति करने का साधन (= शक्ति) । दस्य च तत् अगुलं चेति दद्यागुलम् । प्रसन करने वाली चेष्टा का साधन (= शक्ति) । तत् वर्तते यस्मिन् कर्मणि तस्या स्वान् तथा । निया विशेषण । अतः प्रसनशील शक्ति के साथ (अन्यतिष्ठन्) सब कुछ को अति दान्त कर के वर्तमान है ।

१. देखो महीधर का भाष्य—नामोः सनाशाद् दशाह्वलमातिरूप्य इति स्थितः ।

संहितापाठ

पदपाठ

२३. पुरुष एवेदं सर्वं
यद् भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो
यदन्नैनातिरोहति ॥ २ ॥

पुरुषः । एव । इदम् । सर्वम् ।
यत् । भूतम् । यत् । च । भव्यम् ।
उत । अमृतत्वस्यै । ईशानः ।
यत् । अन्नेन । अतिरोहति ॥ २ ॥

यजुर्वेदे 'वेद'-स्थाने 'वेदः' 'भव्यम्'-स्थाने 'भाव्यम्' वर्तते ।

सायणभाष्य—यत् इदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव । यत् च
भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव । यथाम्निन्
कल्पे वर्तमाना प्राणिदेवा सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवा तथैवातीता
गामिनोरपि कल्पयोर्द्वष्टव्यमित्यभिप्रायः । उत अपि च अमृतत्वस्य देव-
त्वस्य अयम् ईशान स्वामी । यत् यस्मान् कारणात् अन्नेन प्राणिना
भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीया कारणावस्थामतिक्रम्य
परिदृश्यमाना जगदवस्था प्राप्नोति तस्मान् प्राणिना कर्मफलभोगाय जग-
दवस्थास्त्रोन्नारान्नेन तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[इदम्] यह [सर्वम्] सब कुछ—[यत्] जो
[भूतम्] उत्पन्न हुआ हुआ है [च] और [यत्] जो [भव्यम्] उत्पन्न
होगा [उत] और [अमृतत्वस्य] अमरता का [ईशान] स्वामी (और)
[यत्] जो [अन्नेन] अन्न से [अति रोहति] उड़ता है—[पुरुष] पुरुष
[एव] हा (है) ॥ २ ॥

टिप्पणिया—१ पुरुष एव—इमं 'रचयित' किया जा रहा याहार किया है ।

२ यद् भूतं यच्च भव्यम्—(यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों
आदि का मूल स्रोत (भूतम्) अतीत से वर्तमान का पद्यन्त मत्ता मे

१ प्राणिदेवा ।

२ वस्तुत्वम् ।

३ यजुर्वेद के भाव्यम् के और सग्वेद के भव्यम् के अर्थ में कोई अन्तर
नहीं है । भाव्यम् के व्यम् में स्वतन्त्र स्वस्ति है ।

आया हुआ और (यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों के मेल से (मव्यम्) भविष्य में सना में आने वाला (इदम्) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् ।

(ii) मही० और दस० (कृमाभू० १५२) ने 'च' में 'वर्तमान जगत्' का वर्णन माना है ।

(iii) सा० और मही० का भाव यह है—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सदा ही सत्र प्राप्ति विराट् पुरुष के अवयव हैं । दस०—पुरुष ही सब कालों में सृष्टि का रक्षयिता है, अन्य कोई नहीं ।

३. उतामृतस्वस्येशान्—सा०—और देवत्व का भी स्वामी है क्योंकि वह प्राणियों के भोग्य (फल) के कारण कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् का रूप धारण करता है । उवट—मोक्ष का भी स्वामी है । मही० १. देवों का स्वामी है । २. मोक्ष का स्वामी है, अतः वह कभी नहीं मरता है । दस० १. अग्निनाशी मोक्षमुख का धारण का अभिष्टता (यमा०) । २. सत्र पर ईश्वर (होने से) मोक्षभाव का स्वामी (=) दाता है । इस मोक्ष को देने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है । मै०—अमरत्व अर्थात् देवताओं का स्वामी है । पुरुष देवों सहित समस्त जगत् के साथ-साथ पैदा हुआ है ।

(ii) पाद २, ३, ४, में पाद १ के 'इदं सर्वम्' का विस्तार है । अतः विचार्यमाण अंश (पाद ३) भी सृष्टि के अग का वर्णन करता है जिस को यदधेनातिरोहति से भिन्न धताना अभीष्ट है । पाद २ में कालविषयक वर्णन है । अतः यह। उत्तरार्ध में देशपरिच्छिन्न वर्णन है—(उत) रसयुक्त (अमृत त्वस्य) अन्न आदि की अपेक्षा से मुक्त सुप्त शरीर के धारक जन्ममृत्यु आदि के बन्धन से हीन मुक्त जीवों का स्वामी है । उत-पद 'उतः' (उ० ३।६८) के समान ✓ उन्द् भिगोना से व्युत्पन्न हो कर भीगा हुआ, गीला, पानीयुक्त, अतः रसयुक्त । इस में आये मन्त्र ३ के निपादस्यामृतं दिशि में विरोधित अमरत्व का निर्देश भी माना जा सकता है ।

४. यदधेनातिरोहति—मन्त्र में इस की योजना और अर्थ अनेक प्रकार से लिए गए हैं । उवट का कहना है कि पुरुष मोक्ष का स्वामी है ' (यत्) क्यों

नि (वह) (अग्नेन) अमृतसे (अतिरोहति) अतिरोध करता है ।' मही० दो अर्थ देत है—१. पुरुष देवों का स्वामी है ' (यत्) क्यों कि (वह) (अग्नेन) प्राणियों के भोग्य पलक कारण (अतिरोहति) अपनी कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् क रूप को प्राप्त होता है ।' सा० ने इस व्याख्यान को अश्वरस्य अपनाया है । २. ' (यत्) जो कुछ भी जीवजात (अग्नेन) अन्न से (अतिरोहति) उत्पन्न होता है उस सब का स्वामी है ।' ऋ० ने यजुर्वेदभाष्य में पाद ३ को 'पुरुष' का विशेषण माना है । उन का अर्थ यह है—जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होने वाला (उत) आर ' (यत्) जो (अग्नेन) पृथिवी आदि क सम्बन्ध से (अतिरोहति) अत्यन्त बढ़ता है उस' (इत्म्) इस प्रत्यय परोक्ष रूप समस्त जगत् को (अमृतत्वस्य) अविनाशी मोक्षमुक्त वा कारण ना (ईशान) अधिष्ठाता (पुरुष) सत्य गुणकर्म स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा ही रचता है । उन्होंने ने ऋभाभू. (पृ० १-२-१५३) में भिन्न भाव लिया है—' (यत्) क्यों कि (अन्न) पृथिवी आदि जगत् क साथ (अतिरोहति) व्यापक हो कर स्थित है और इस से अलग भी ।

(II) म्यूर लिखते हैं कि भागवत पुराण क व्याख्यान में इस का भाव ' देखते हुए उस ने मानवी अन्न का आत्मनमन किया है' है । अं० १९।६।४ में इस का पाठ—' उतामृतत्वस्मैश्चरो यदन्यनामवत् सह—वह अमरत्व का स्वामी है क्यों कि वह दूसरे से मिल गया है' है ।

(III) म्यूर ने इस का अर्थ ' क्यों कि वह अन्न से फैलता है' किया है । प्रास० इसे अमृतत्वस्य से सम्बद्ध करते हैं—(अमरता) ' जो हमारे यज्ञों से पुष्ट की जाती है ।' पाण्डन इस का अर्थ चेतन जगत् (= और जो कुछ अन्न से पुष्ट होता है या बढ़ता है) करत हैं और इर्द सर्व यद्भूत यच्च मव्यम् का बड़ जगत् (तु क. आगे मन्त्र ४) । पाद ३ को व अग्ने अनुवाद में पुरुष का ही विशेषण रखत हैं ।

(IV) मै० का विचार है कि मन्त्र १ क अत्यतिष्ठत्, मन्त्र ५ क अत्यरित्यत से अतिरोहति की तुलना इंगित करती है कि पुरुष कर्त्ता है और यद् (देवता) कर्म और यह कि पहला (= पुरुष) पिछले (= देवों) को अन्न से, अर्थात्

यज्ञान द्वारा अतिक्रांत करता है। 'जो (देवता) (यज्ञ र) अन्न से उद्भूत है', तथा 'और जो कुछ अन्न से उपन्न होता है उस का—इन दानों व्याख्यानों में 'आत' का भाग पूरा पूरा प्रगट नही होता है।

(४) जैसा ऊपर पाठ ३ की टिप्पणी में लिखा गया है यहाँ पर भा देश परिच्छिन्न दृष्टि का उल्लेख है जो अमर-मुक्तों की अप्रत्यक्ष स्थूल शरीर धारण करता है। अतः इस का सीधा अर्थ 'जो कुछ भी अन्न = भाजन आदि पौष्टिक पदार्थों से उपन्न, वृद्ध और विवशान होता है'— प्रतीत होता है।

महितापाठ

पठपाठ

२४. एतावानस्य महिमा-

स्तो ज्यायांश्च पूरुष ।

पादोऽस्य त्रिधा भूतानि

त्रिपादस्यामृतं द्विदि ॥३॥

एतावान् । अस्य । महिमा ।

अतः । ज्यायान् । च । पूरुषः ।

पादः । अस्य । त्रिधा । भूतानि ।

त्रिपात् । अस्य । अमृतम् । द्विदि ॥३॥

सायणभाष्यम्—अतीतानागतवर्तमानरूप जगदावदस्ति एतावान् स्रजोऽपि अस्थ पुरुषस्य महिमा स्वभायसामर्थ्यशेषः । न तु तस्य पास्तवस्वरूपम् । वास्तवस्तु पुरुष अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अति शयेनाधिकम् । एतन्नोभय स्पष्टीक्रियते । अस्त्र पुरुषस्य त्रिधा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिनातानि पाद चतुर्धाऽऽश् । अस्य पुरुषस्य अवशिष्ट त्रिपात् स्वरूपम् अमृत त्रिपादरहित सत् द्विदि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यतिष्ठति इति शेषः । यद्यपि "मत्तः शानमनस्त ब्रह्म" (तै० ब्रा० ८।१ तै० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मा इयतामायात् पादचतुष्टय निरूपयतुमशक्य तथापि चणान्द ब्रह्मस्वरूपापञ्चात्ममिमांसा विचारतत्वात् पादत्वापन्यासः ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्य] इस (पुरुष) का [महिमा] विस्तार [एतावान्] इतना है । [च] और [पूरुष] पुरुष [अतः] इस से भी अधिक [ज्या

यान्] बड़ा है । [त्रिधा] सम्पूर्ण [भूतानि] उत्पन्न पदार्थ आदि [अस्य] इस का [पादः] एक चौथाई (भाग है), [दिवि] बुलोक में [अमृतम्] अमर [अस्य] इस का [त्रिपात्] तीन-चौथाई भाग है ॥ ३ ॥

१ दिव्यग्निस्य—आधे भाग से विश्व का रचना—अवे० १०।७।८-९ में जिरासा ना गई है कि सृष्टम् = ब्रह्म ने विश्वरूप जिस परम अयम और मध्यम, तथा भूत और भविष्यत् का रचना की उस में उसका स्थितता अंश प्राप्त हुआ । अवे० १०।८।७ में कहा है कि ब्रह्म ने अपने एकनेमि सहस्राक्षर एकचक्र रूप का आधे भाग से सम्पूर्ण विश्व का रचना की । उस का शेष आधा भाग कहा है—अधेन त्रिध भुवन जज्ञान यत्स्याध क तद् नभूव । इस भाव को महा भिन्न रूप से वर्णित किया गया है ।

२ पुनर्वानस्य—ऋग्वेद का प्राचीन भाग में यह सन्धि नहीं मिलती है । वहा पर ऐसे स्थलो पर आन् को ओं हा जाता है । अतः प्रकृत सन्धि सूक्त का रचना का काल को इंगित करता है ।

३ पुरुष—सहिता में दीध हो गया है । पस्पष्ट म 'पुरुष' होगा ।

४ अमृतम्—मा०—विनाशरहित पुरुष । उ०—१. ऋन्, यजु और साम रूप वाला २. आदित्य रूप । दम०—नागरहित महिमा ।

५ दिवि—मही०—प्रातनात्मक स्वप्रकाश स्वरूप में ।

६. भाव यह है कि प्रजापतिमान अगत् एक अक्ष मान है । प्रकाशन स्व रूप इस से तीन गुना है । इस में ब्रह्म की अनन्तता समझ नहीं होती । यह वर्णन तो उत्तम मानव की बुद्धि को अगस्त कराने का दृष्टि से किया गया है ।

संहितापाठः

पठपाठः

२५. त्रिपादुर्ध्व उदैत्पुरुषः । त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः ।
 पादोऽस्पृहामनुत्पुनः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति ।
 ततो विष्वङ् व्यक्रामत् । ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् ।
 साशनानशने अभि ॥ ४ ॥ साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

यजुर्वेदे 'व्य'—इत्यस्य स्थाने 'व्यु' इति वर्तते ।

सायणभाष्यम्—योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः
 सोऽयं ऊर्ध्व उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुण-
 दोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्य अस्य योऽयं पादः लेशः सोऽयम्
 इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । अस्य
 सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं—“विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकाशेन
 स्थितो जगत्” (म० बी० १०।४२) इति । ततः मायायामागत्यानन्तरं
 विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान् ।
 किं कृत्वा । साशनानशने अभिलक्ष्य । साशनं मोक्षनादिव्यवहारोपेतं
 चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम् । तदुभय
 यथा स्यात् तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [त्रिपात्] तीन-चौपाई [ऊर्ध्वः]
 ऊपर का [उदैत्] पैदा हुआ है [पुनः] और [अस्य] इस का [पादः]
 एक-चौपाई अंश [इह] यहाँ (इस जगत् में) [अभवत्] है । [ततः]
 उस से [विष्वङ्] सब कुछ का अन्तर्भाव करने वाला [व्यक्रामत्] प्रादुर्भूत
 हुआ (और) [साशनानशने] खाने वाले और न खाने वाले [अभि
 (अक्रामत्)] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियाँ—१. त्रिपात्—सा०—संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष जो समस्त
 पुरुष का तीन-चौपाई भाग है ।

२ ऊर्ध्व उदैद—उवट—ऊपर प्रकाशमान है । मही०—इस अज्ञान कार्य मसार से पृथक् इस मसार के गुण दापा से अद्वैता उत्कर्ष से विद्यमान है । दस०—पालरु परमेश्वर 'सब से उत्तम भुक्तिस्वरूप मसार से पृथक् उदय को प्राप्त होता है (य० भाष्य) । मै०—ऊपर अमरो के लोक में ।

३ पादोऽस्यहर्भिवत् पुन—उवट—एक भाग तीना लोको में बीजरूप हो गया । महा०—जगत् रूप ब्रह्म यहा माया में सृष्टि आर संहार के द्वारा बार बार आता है । दस ६—इस पुरुष का एक भाग इस जगत् में बार बार उत्पत्ति प्रलय के चक्र से होता है (य० भाष्य) । पूर्वोक्त मसाररूप एक अज्ञान पृथक् हा है । मै०—पुन = अर्थात् अपने मूल रूप से ।

४ विश्वेभ्य—उवट—भुरनकोश । महा०—रिपु सर्वशास्त्रतात् विश्वेभ्य । देव, तिर्यक् आदि अनेक रूपो वाला । दस०—(जड आर चेतन के प्रति) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (= व्यापक) (य० भाष्य) । विश्व = सम्पूर्ण जड चेतन जगत् (ऋग्वेद० पृ० १५४) ।

५ साशुनानुशने—उवट—साशन = रसर्ग । अनशन = मोक्ष । मही०—खाने आदि व्यवहार वाले चेतन प्राणी ओर न खाने आदि व्यवहार से रहित जड पदार्थ । मै —यह समाप्त ऋग्वेद में इन्द्रसमाप्तो का अर्वाचीनतम अवस्था का द्योतक है ।

संहितापाठ

पदपाठ

२६. तस्माद्विराज्जायत	तस्मात् । वि॒राट् । अ॒जाय॑त ।
विराजो अधि पूरुषः ।	वि॒राजः॑ । अधि॑ । पु॒रुषः॑ ।
स ज्ञातो अत्यरिच्यत	सः । ज्ञा॑तः । अति॑ । अ॒रिच्य॑त ।
पश्चाद्भूमिथो पुरः ॥ ५ ॥	प॒श्चाद्भू॑मि॒थो अ॒थो इति॑ पुरः ॥ ५ ॥

यजुर्वेदे प्रथम पादस्त्वेयम्—

‘ततो विराज्जायत’

ततः । वि॒राट् । अ॒जाय॑त ।

सायणभाष्यम्—विधद् व्यक्रामदिति बहुलं तदेवात्र प्ररञ्ज्यते । तस्मात्
आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः । विविधानि राजन्ते
वस्तून्त्येति विराट् । विराजोऽधि विराट् देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं
कृत्वा पुरुषः तदेहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । सोऽयं सर्ववेदा-
न्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराट् देहं ब्रह्माण्डरूपं
सृष्ट्वा यत्र जीवस्त्वेन प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् ।
एतच्छास्त्रेणैव उत्तरतापनीये विराट्प्रमाणमस्ति—“स वा एष भूतानांन्द्रियाणि
विराज देवताः कोशाश्च सृष्ट्वा प्रविशामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव”
(नृता० ०२ । १ । ९) इति । स जातः विराट् पुरुषः अत्यरिच्यत अति-
रिक्तोऽभूत् । विराट् व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चात्
देवाद्विजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेंति शेषः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं
तेषां जीवानां पुरः ससर्ज । पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि । ५।

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस से [विराट्] विराट् [अजायत]
उत्पन्न हुआ । [विराजः] विराट् से [अधि] थोड़ा [पुरुषः] पुरुष (है) ।
[अथो] और [पुरः] पहले [जातः] उत्पन्न हुआ [सः] वह [पश्चात्]
पीछे [भूमिम्] उत्पन्न पदार्थों से [अत्यरिच्यत] सगौरि हो गया ॥

टिप्पणिया—१. तस्मात्—तद् को उ० १ । १३२ मे ✓/तन् से निष्पन्न
जिया गया है । अतः उस विस्तृत सर्वव्यापन ऊपर वर्णित पुरुष से । मे०—
पुरुष के अष्टावृत्त चतुर्थी से । दस०—पूर्ण आदि पुरुष से । (य० भाष्य)
कला रूप परमेश्वर के सामर्थ्य से (कृष्णभा० पृ० १५६) ।

२. विराट्—मही०—विविध राजन्ते वस्तून्त्येति विराट् । ब्रह्माण्डदेह ।
दस०—विभिन्न पदार्थों राजते प्रकाशते स विराट्—विभिन्न प्रकार के पदार्थों से ।
प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप समार (य० भाष्य) । इस भाव का विस्तार करते
हुए कृष्णभा० पृ० १५५ पर लिखते हैं—जिम का ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन
किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिम को ‘मूल प्रकृति’

१. यजुर्वेद में इसके स्थान पर (ततः) पाठ है । दोनों का अर्थ एक ही है ।

कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समानुत्पत्त्य, जिस के मूर्ध चन्द्रमा नेत्रस्थानी है, वायु जिस का प्राग ओर पृथिवी जिस का पश्चिम है, इत्यादि ऋग वाला [सब शरीरों का समष्टि दह (—संस्कृत मूल से)] जो यह आकाश है सो 'विराज्' कहाता है ।

(11) डा० फतहमिह ने वैदिक दर्शन पृ० २०६ पर इस म्थल न विराज् को परम पुरुष से उत्पन्न प्रकृतिपुरुष माना है जिस का होम हो जाने पर नाना रूपा मन्त्र विश्व उत्पन्न हुआ है । मै० ने आदि पुरुष और व्याकृत पुरुष के नाच की स्थिति को विराज कहा है ।

(111) अब० १०।७-८ म इस विराज का विस्तृत वर्णन किया गया है । ऋ० १०।७।२८ म इने हिरण्यगर्भ कहा है—हिरण्यगर्भ परममनस्युग्र जना गिदु । यह तप से उत्पन्न होता है—य धमात् तरसो जातो लोशान्सर्वान्स-मानगे । यह उत्पन्न वस्तु अप्रमत्त सखि ही य जो ब्रह्म क तर से उत्पन्न आदि सृष्टि कह गए हैं । व्याकृत होने की स्थिति में वर्तमान ये अव्याकृत सखि ही यहा विराज नाम से कहे गये हैं । अब० १० । ७ । ४१, आर ८।३९-४० भी देखे ।

(11४) विराजजायत—मन्त्रि क कारण ट को 'ट्' हुआ । पहले और पीछे दो गुरों न आने से इस ट् को 'ळ' हो गया है । तु क—पदमध्यस्थद्वकारस्य ळकार नहुचा जगु । पदमध्यस्थद्वारस्य ळहकार नहुचा जगु ॥

३ विराजो अधि पूरप—मै०—विराज में पञ्चमा को उत्पादकत्व का धोतन मानते हैं—विराज् से पुरुष उत्पन्न हुआ । उक्त—अधिपुरुष का एक मान कर 'प्रधान तेज क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा सृष्टिकृत' अथ करते हैं तथा 'स जात' में इसी का निर्देश मानते हैं । महीधर-विराज् के शरीर पर उसे अधिकरण बना कर उस शरीर का एक अभिमानि (= कर्त्तित चेतन ?) पुरुष नामन पुमान् उत्पन्न हुआ । यह पुमान् अपनी माया से आनरूप बना हुआ ब्रह्माण्डाभिमाना देवतामा जाव रूप ब्रह्म ही था । दस० य०भाष्य में इस में विराज न उत्पत्तिकारण आदि पुरुष की उत्कृष्टता मानते हुए यह अर्थ देते हैं—'(विराज) विराट्

मंमार के (अधि) ऊपर अधिष्ठाता (पुरुषः) परिपूर्ण परमात्मा होता है ।^१ परन्तु ऋभाभू० पृ० १:१५-१:१६ पर भिन्न विचार रखते हैं और पुरुष का अर्थ समस्त प्राणियों का शरीर मानते हैं—‘उम विराट् क तत्त्वो के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है । जिस में सब जीव काम करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है ।’

(ii) अवे० १०।७-८ तथा ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ आदि सूक्तों में विराज् हिरण्यगर्भ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानी है । वेद में—‘वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं बृध परिपश्यन्ताते’ आदि सुप्रसिद्ध मन्त्र में तथा ‘नयः केक्षिन ऋतुथा यि चक्षते सप्तत्सरे वपत एक एषाम् । विधमेसो अभि चष्टे शचीभिर्प्रा-जिरेकस्य ददरो न रूपम्’^२ में ब्रह्म, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् माना गया है । अतः यहाँ विराजो अधि पुरुषः में जीव की उत्पत्ति की कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है । अधि ‘अधिक, उत्कर्ष, स्वामित्व’ का शोभक भी है । विराज में पट्टी विभक्ति है, पञ्चमी नहीं । अतः यहाँ पर पूर्ण आदि पुरुष के विराज् से श्रेष्ठत्व का वर्णन मानना अनुचित न होगा ।

४. स ज्ञातो अर्यश्चित्यतः—मै०—जब वह पैदा हुआ तो वह पृथिवी से परे आगे और पीछे पहुँच गया । उबट-बह क्षेत्रज्ञ सृष्टिहृत् ब्रह्मा उत्पन्न होते ही प्रसुर हो गया । फिर इस के पहले पृथिवी और उस के बाद १४ प्रकार के भूतों के शरीर उत्पन्न हुए । मही०—यह विराट् पुरुष देव मनुष्य आदि रूप वाला हो गया । फिर देवादि के जीवभाव के उपरान्त भूमि और उस के पश्चात् शरीरों की सृष्टि की । दस०—‘(पुरः) पहिले से (जतः) प्रसिद्ध हुआ (अति, अरिच्यत) जगत् से अतिरिक्त होता है (पश्चात्) पीछे (भूमिम्) पृथिवी को उत्पन्न करता है ।’ ऋभाभू० में प्रधान भाव तो यही लिया है, परन्तु

१. ऋ० १।१६४।२०

२. ऋ. १।१६४।४४—न्याय्या के लिए देगो बुद्धदेवविद्यालंकार—
श्रुतवाद का महावाक्य, वेदा० ६।४।

‘पश्चात्’ का अर्थ संस्कृत मूल में ‘फिर उस पुरुष के सामर्थ्य में जीव न भा शरीर धारण किया और वह परमात्मा उस जीव से भा पृथक् है’ है । हिन्दी अनुवाद में यजुर्वेद भाष्य के भाव को ही लिया गया है ।

५ भूमिम्—ममस्त उपलब्ध पदार्थ आत्मा । भविष्य में होने वाले पदार्थ आत्मा पहले भी हो चुके हैं । अतः इस पद से तीनों काओं के पदार्थों आत्मा का बोध होता है ।

संहितापाठ

पदपाठ

२७. यत्पुरुषेण हविषा

यत् । पुरुषेण । हविषा ।

देवा यज्ञमतेन्यत ।

देवाः । यज्ञम् । अतन्यत ।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं

वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् ।

ग्रीष्म इध्मः शरद्धनिः ॥६॥

ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥६॥

यजुर्वेदस्य मन्त्रश्चतुर्दश । तत्र तृतीयपाद एवमस्ति—

वसन्ताऽस्यासीदाज्यं

वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् ।

सायणभाष्यम्—यत् यः । पूर्वोक्तक्रमेण शरारेषूपसृष्टं सत्तु देवा उक्ता स्थापित इत्यथ बाध्यव्यस्तानुपज्ञत्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविर्हेन भवत्य्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानस यज्ञम् अतन्यत अन्य तिष्ठन् तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्त वसन्तर्तुरेव आज्यम् आसीन् अभूत् । तमेवाज्यत्वेन स्वल्पितवन्त इत्यर्थः । एव ग्रीष्म इध्म आसीत् । तमेवेध्मत्वेन मरुत्पितवन्त इत्यर्थः । तथा शरद्धनि आसीन् । तामेव पुरोडाशादिहविष्येन स्वल्पितवन्त इत्यर्थः । पूर पुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन संपन्नः । अनन्तर वसन्ताऽनाम्ना यादिरितोरूपत्वेन मरुत्प इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] अब [देवा] देवताओं ने [पुरुषेण] पुरुष रूप [हविषा] हाव स [यज्ञम्] यज्ञ का [अतन्यत] विस्तार किया [अस्य]

उस यज्ञ (के लिए) [वसन्तः] वसन्त ऋतु [अज्यम्] तथा हुआ घी [आसीत्] थी, [ग्रीष्मः] गर्मी [इष्मः] समिधाए (और) [शरद्] शरद् ऋतु [हविः] आहुतिया ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. आप्यकारों के विभिन्न भाव-भाष्यकारों ने इस मन्त्र में देवताओं द्वारा पुरुष को हविस् बना कर बाण द्रव्यों के अनुपलब्ध होने के कारण उत्तर सृष्टि की निधि के लिए मानस यज्ञ का विस्तार माना है। मही० टिप्पणत है कि पहले पुरुष का सामान्य हविः के रूप में संकल्प किया गया, फिर आज्ञा इष्म और हविः—इन विशेष अग्रा की पूर्ति के लिए वसन्त आदि ऋतुओं का संकल्प किया गया। उन्म ने इस में योगियों द्वारा अमृतभूत दीपित आत्मा से आत्मयज्ञ के विस्तार का भाव भी ग्रहण किया है। इस यज्ञ में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् के अर्थ त्रिमशः मत्स्यगुण, रजोगुण और तमोगुण किए हैं। दस० ने भी घृत आदि सामग्री के अभाव में '(हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोगों का मानस यज्ञ' माना है जिस में '(वसन्तः) पूर्वाह्नकाल (ग्रीष्मः) मध्याह्न काल और (शरद्) आधी रात' को भी आदि माना है। भाव यह है कि इस यज्ञ में ये 'काल ही साधन रूप से कल्पना करने चाहियें।' ऋषाभू० पृ० १६१-१६२ पर भिन्न भाव लिया गया है—(देवाः) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उन को (पुरुषेण) ईश्वर ने अपने अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर का (हविषा) दिए पदार्थों का ग्रहण कर वे (यद् यज्ञम्) पूर्वोक्त यज्ञ का (अतन्वत) विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को ब्रह्मा ब्रह्माने की सामग्री कहते हैं। देवा विद्वानः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राग्निधमेवान्त गिरन्-विद्यामय च यज्ञ यज्ञ प्रकाशितमतन्वत विस्तृत कृतान्तः कुर्वन्ति वरिष्यन्ति च।' मन्त्र के उत्तरार्द्ध में ब्रह्माण्डयज्ञ से जगदुत्पत्ति के लिए वसन्त आदि को काल-व्यय माना है। आप ने इष्मः का अर्थ प्रदीप्त करने वाली या अग्नि क्रिया है। मै० के विचार में यहा देवता व्याकृत पुरुष को हवि बना कर आदि पुरुष के लिए आदर्श पुरुष (मिथ) यज्ञ करते हुए वर्णित किए गए हैं।

२ सम्भावित अर्थ—इस मन्त्र से यह लाभत होता है कि भूमि आदि लोकों की रचना के पश्चात् प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति को सम्भव बनाने के लिए ऋतुओं की उत्पत्ति हुई। ऋतुओं से ही उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय होते हैं। वसन्त में उत्पत्ति होती है, शरद् में वृद्धि रस का विकास आदि और ग्रीष्म में पशु पक्षी तन्मयी हो सुखना क्रियाएँ लक्षित होती हैं। आग्न को प्राण (सौ० ३।८।१५।२३) हवि = जो यज्ञ की आत्मा (सौ० १।६।३।३९) और इक्ष्म को अग्नि का प्रतीक (सौ० १।३।५।१) कहा है। अतः यहाँ पर ऋतुओं के द्वारा उत्पत्ति, विनाश और पार (=ह्रास)—इन तीन शक्तियों का वर्णन किया गया है।

(११) पूषा म पुष्प विराज का द्योतक है, आद्य पूर्ण परमात्मा का नहो यह विराज ही अगत् का उत्पत्ति का साम्रा (= हरि) है।

३ देवा — ऊपर ऋ० २।१२।१ म देवो देवान् पर गिर्या दत्तं। ब्रह्माण्ड म प्रकाश आदि गुणों से युक्त समस्त पदार्थ भाव और गिर्याया 'देव' है। अतः सृष्टि का रचना में लगे हुए समस्त शक्तियाँ भी देवता हैं। वे ही विराज रूप सामग्री से सृष्टिरचना करी यज्ञ का विस्तार करता है।

(११) अथ० १०।७।१४ म ब्रह्मन्ताओं को 'देव' कहा है—'यन् देवा ब्रह्म ज्येष्ठमुपामतः।' इस आधार पर यहाँ 'देवा' का अर्थ ब्रह्मन्ता विद्वान् भावित जा सकता है। इस म 'जब विद्वान् ने विराज पुष्प रूप सामग्री से संपन्न सृष्टिमण पर विचार किया तब उन्होंने उन म वसन्त आदि के योग को जाना' ऐसा भाव लेना होगा।

४ मुहम्—मैं—होम, गल। सामान्यतः इस पद से यहाँ अथ समझा जाता है। परन्तु वैदिक और मरुत वाङ्मय म इस का अर्थ बहुत विस्तृत है। यह पद देवपूजा समातकरण और गान अथ वाङ्मय यन् से बनता है। अतः इस के अर्थों में ये ताना भाव सृष्टि या समाधि रूप में पाए जाते हैं। ब्रह्मन्ता यज्ञ के यज्ञ के अर्थों—प्राण, अवर, नम, मग, बृहन् विराज, अयना, मुहन्, भद्रतम कम, विद्, ब्रह्म, ययी विज्ञा, प्रजापति, विष्णु अन्न, अन्न, पार,

वायु, सरस्वर आदि म, गीता व यज्ञगर्भे म अयज्ञ, प्राणापानयज्ञ आदि म यह स्थिति नितान्त स्पष्ट हो रही है। अतः सृजन भी यज्ञ है, सृजन भी यज्ञ है और सृजन का सामग्री भी यज्ञ है। परन्तु यह स्थिति तब तक ही है जब तक कि कम, कर्त्ता और सामग्री आदि श्रेष्ठतम कम = परोपकार के साधक हैं अन्यथा नहीं। विद्वान् ऐसे ही अङ्गों से यज्ञ कर के साक्षत नियमा और मृत्यु आदि की व्यवस्था करते हैं (देखो आगे मन्त्र १६)।

महितापाठ

पदपाठ

२८, तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्	तम् । यज्ञेमा बर्हिषि । प्र । औक्षन् ।
पुरुषं जातमग्रतः ।	पुरुषम् । जातम् । अग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त	तेन । देवाः । अयजन्त ।
साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥	साध्याः । ऋषयः । न । ये ॥ ७ ॥

यजुर्वेदे मन्त्रो ५ व नवम ।

सायणभाष्यम्—यज्ञ यज्ञसाधनमूत त पुरुष पशुत्वभावनाया यूषे बद्ध बर्हिषि मानसे बन्ने प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्त । कीदृशमित्यत्राह । अग्रतः सर्वसृष्टे पूर्वं पुरुष जात पुरुषत्वेनोत्पन्नम् । एतच्च प्रागेद्योक्तं “तस्मात् विराळनायत विराजो अधि पूरुष” इति । तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसयाग निष्पादितवन्त इत्यर्थः । के ते देवा इत्यत्राह । साध्या सृष्टिसाधनयोग्या प्रजापतिप्रभृतय तदनमूला ऋषय मन्त्र प्रष्टार च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ॥ ७ ॥

दिन्दी अनुवाद—[अग्रतः] तब से पहले [जातम्] उत्पन्न हुए [तम्] उम [यज्ञम्] यज्ञ (= पूजाय) [पुरुषम्] (विराट्—) पुरुष को [बर्हिषि] बाह (स आ-उत्पत्ति यज्ञरक्षा) पर [प्रौक्षन्] जल में डिङ्का । [तेन] (उम यज्ञमय पुरुष से) [देवा] देवता विद्वान् । [साध्या] साध्य (च) और [ये] जो [ऋषयः] ऋषि य (उन्होंने ने) [अयजन्तः] यज्ञ किया ॥ ७ ॥

टिप्पणिया—१ तम्—उबट ने यहा पर योगियों के आत्मज्ञ का ही वर्णन माना है । भाष्यकारों ने 'तम्' क भाव का व्याख्यान नहीं किया है । मै० ने ज्ञातमयत का भाव विराज् से उत्पन्न व्याकृत पुरुष = अधि पुरुष (मन्त्र +) लिखा है । उबट ने 'उत्पन्न दिव्य ज्ञान' भाव लिखा है । और दस० ने पूर्ण परमात्मा ।

(11) परन्तु यहाँ पर सृष्टिरचना चानू हो चुका है । विराज् पुरुष का हवि बनाया जा चुका है । सृजक शक्तिया उत्पन्न हो चुकी हैं । अतः यहा विराज् पुरुष का ही वर्णन चल रहा है ।

२ यज्ञम्—विराज् पुरुष जीवों व कल्याण के लिए सृष्टि रचता है, अतः वह यज्ञ है । पिछले मन्त्र में 'यज्ञम्' पर टिप्पणी भी देख ।

३ बुद्धिपि—उबट—तृतीयान्त मान कर प्राणायाम में दीपित अर्थ लेते हैं । महा०—मानस यज्ञ । दस०—मानस ज्ञान यज्ञ (य०भाष्य) हृदयान्तरिक्ष (ऋभाभू० पृ० १५८) । मै०—धातु ।

(11) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थों में प्रजा, पशु, ओषधिया, और भूमा आदि हैं । इन से अगले मन्त्र में प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है । अतः 'पशुआ की सृष्टि रूप महान् यज्ञ' अर्थ करना समीचीन होगा ।

४ प्रौक्षन्—प्र + √ उष् + लङ् प्रथमपु० बहुवचन । मै०—छिड़का । महा०—सम्भारा से संस्कृत किया । दस०—मींचते हैं अर्थात् धारण करते हैं ।

(11) यहा पर 'लगाया, नियोजित किया' अर्थ अधिप्रेत है ।

५ पुरंधं ज्ञातमम्रत—ऊपर तम् पर टिप्पणी देखें । लोकों, नालविद्या आदि की रचना में पूर्व उत्पन्न विराज् पुरुष ।

६ देवा—पिछले मन्त्र में देवा पर टिप्पणी देखें ।

७ साध्या ऋषयश्च ये—मै० ने साध्या को एक पुरानी दिव्य योनि या ज्ञात माना है और ऋषय को 'ऋषि, मन्त्ररक्षयिता वरि' । मही० ने साध्या का अर्थ सृष्टिसाधनयोग्य प्रजापति आदि और दस० ने योगाभ्यासी ज्ञानी किया है ।

ये गेता ऋषि को मन्त्रदृष्टा और मन्त्रार्थवित् मानते हैं। मै० का सुहाव है नि साध्या को देवा का विशेषण भा माना जा सकता है।

(11) श० १० । २ । २ । ३ में मन्त्र १६ के साध्या देवा को विशेष्य-विशेषण मान कर 'प्राग' अर्थ किया है। ऐ० १ । १६ में इन्हें 'छन्दासि' कहा गया है। ऋषयां को श० ६ । १ । १ । १ में तप से उत्पन्न बताया गया है—ते यपुरास्मात् सवस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपमारियस्तस्मादगय । यह पद गत्ययक✓ ऋध् धातु से बनता है। निघ० । ५ । ५ । १४ अ में ऋयय को पन्ताम माना गया है। अतः इस भाग का अर्थ—(देवा) सुजन शक्तिया (साध्या) प्राग (च) और (ये)^१ यशशाल (ऋयय) तप आर श्रम—पुत्रा । इस की योजना—ये साध्या ऋयय च देवा सन्ति ते—जो प्रागरूप यशशाल तप और श्रम से युक्त सुजन् शक्तिया—वरुन पर अथ सुसंगत हो जाता है।

सहितापाठ

पदपाठ

२९. तस्माद्यज्ञात्सर्गहुतः	तस्मात् । यज्ञात् । सर्वहुतः ।
संभृतं पृषदाज्यम् ।	सम्भृतम् । पृषत्पृषदाज्यम् ।
पशून् तौश्वके वायुण्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायुण्यान् ।
आरुण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥	आरुण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥ ८ ॥

यजुर्देवस्य मन्त्र पठ । तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेयम्—

पशूस्तौश्वके वायुण्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायुण्यान् ।
आरुण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥	आरुण्याः । ग्राम्याः । च । ये ॥

मायणभाष्याम्—सर्गहुत । सर्वात्मनः पुरुष यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत् । तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तान् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्य दधिमिश्रमाज्य संभृत संपादितम् । दधि चाज्य चेत्येवमादिभोग्यजात

१. यह पद✓यञ् धातु से निष्पन्न है। देखो उ० १।१३२।

सर्वं संपादितमित्यर्थः । तथा वायव्यान् वायुदेवताकौलिकप्रसिद्धान्
आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरिणादयः । तथा ये
स ग्राम्या गवाश्चादयः तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्व
यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—“वायव स्येयाह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याप्यग्ना । अन्त
रिक्षदेवत्या खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददाति” (तै० ३।२।१।१)
इति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस [सर्वहुत] अच्छी प्रकार होम किए
गए [यज्ञात्] (हवि बनाए हुए विराजू पुरुष रूप) यज्ञ से [पृषदाज्यम्]
पशु [सभृतम्] उत्पन्न हुए । [तान्] उन [पशून्] पशुओं को [वायव्यान्]
वायु में निवास करने वाले [आरण्यान्] जंगल में रहने वाले [च] और
[ये] जो [ग्राम्या] गाँव (आदि) में रहने वाले (हैं उन को बैठा)
[चक्रे] बनाया ॥

टिप्पणिया—१, यजुर्वेद ४ पाठ में अयं म कोइ अन्तर नहा होगा ।

२ यज्ञात्—देखो ऊपर मन्त्र ६ में यज्ञम् पर टिप्पणी । यहा पर मन्त्र ७
में वर्णित ‘पशुरचना रूप यज्ञ’ का भाग लेना अधिक सगत रहेगा । दस०—
ने इस में पूजनाय पुरुष परमात्मा=आदि पुरुष का वर्णन माना है (म०
भाष्य) । यह विचारणीय है ।

३ सर्वहुत —मर्हा०—सर्वं हुतं यस्मिन् न सर्वहुत् । तस्मात् । मंत्र कुछ
की आहुति को प्राप्त करने वाला पुरुषमेधयज्ञ । २स०—सब से ग्रहण नय
जाने वाला (पूजनाय परमात्मा) ।

(११) यज्ञ की सिद्धि तब ही होता है जब वह अच्छे प्रकार सम्पन्न हो ।
आज मैं पशुओं को डालने का एक प्रयाजन उन्हें सुमतम बना कर वायु द्वारा
सबत्र फैला देना है । यह तब ही सम्भव है जब आज खूब प्रचलित हो ।
यह भाग यहा मा अभिप्रेत है । अतः इस का अर्थ—‘सबत्र शक्तियों ४ योग
से विराजू रूप सामग्री से किए जा रहे प्रागिरचना रूप यज्ञ का आज खूब
प्रचलित थी । उस समय उस विराजू सामग्री के सूत्र तत्त्वों से’ अभिप्रेत है ।

४. संमृत्तम्—सम् + √ हृ + क्त । वेद में √ हृ और √ मृह् के हृ को मृ हो जाता है । अच्छे प्रकार सम्पन्न, सम्यक् सिद्ध, सम्यक् उत्पन्न । यहाँ क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

५ पृषदाज्यम्—मही०—दधि से युक्त आज्य अर्थात् दध्यादि भोग्य पदार्थों का समूह । मै०—घी । दस० भी मही० का ही भाव लेते हैं ।

(11) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ अन्न, प्राण, पयः और पशु मिलते हैं । यहाँ प्राणिरचना यज्ञ हो रहा है । उस से पहले प्राणी उत्पन्न होंगे, तब दधि आदि से उपलब्ध भोग्य पदार्थ उत्पन्न हो सकेंगे । यद्यपि यहाँ कार्य-कारण के पीवांपर्य का व्यवसाय रूप अतिशयोक्ति अलंकार माना जा सकता है, परन्तु मन्त्र की रचना इस के विरुद्ध है । पाद ३ में 'तान्' 'पृषदाज्यम्' का निर्देश करता है और उस का अर्थ 'पशून्' देता है । इन पशुओं के तीन विभाग किए गए वायव्य, आरव्य और प्राग्य ।

६. तान्—मै०—त्तत् के स्थान पर पशून् के प्रभाव से 'तान्' का प्रयोग हुआ है ।

७. ध्रावुष्यान्—यह उन विरल पदों में से है जहाँ उच्चारण काल में भी स्वतन्त्र स्वरित की सत्ता बनी रहती है । इस के आन् को आगे आने वाले 'आ' के कारण ओं नहीं हुआ क्यों कि यह पाद के अन्त में है । इस से ऐसा आभास मिलता है कि पहले मन्त्रों का प्रत्येक पाद अन्य पादों से स्वतन्त्र समझा जाता था (मै०) ।

संहितापाठः

पदपाठ

३०. तस्माद्भुज्जात्सर्वभुत
ऋचुः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्
यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वभुतः ।
ऋचः । सामानि । जज्ञिरे ।
छन्दांसि । जज्ञिरे । तस्मात् ।
यजुः । तस्मात् । अजायत ॥ ९ ॥

मन्त्रोऽयं यजुः संहिताया सप्तमः । तत्र 'छन्दांसि'—इत्यत्र 'छन्दा' छ, 'सि'—
इति पाठः ।

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः । तस्मात् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे । तस्मात् यज्ञान् यजुः अपि अजायत ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मान्] उस [सर्वहुतः] अच्छी प्रकार निष्पन्न [यज्ञात्] (विगजू पुरुष रूप सामग्री बलि) मृष्टियज्ञ मे [ऋचः] ऋचाएँ (और) [सामानि] सामन् [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए । [तस्मात्] उस मे (ही) [छन्दांसि] छन्द और [तस्मात्] उस से (ही) [यजुः] यजुप् [अजायत] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियाँ—१. यज्ञान् सर्वहुतः—दस०—सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुष (सर्वहुतः) मन्त्र के पूजनीय, सब के उपास्य सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से । ये दस ऋचः आदि का विशेषण भी मानते हैं क्योंकि चारों वेद सब मनुष्यों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य हैं । उवट के विचार मे (१) प्रज्वालित (पुरुषयज्ञ) से देव ऋक्ताम यजुः और छन्दों को उत्पन्न करते हैं । २. प्रगव से आगमयज्ञ के प्रदीप्ति हो जाने पर स्वयमेव ज्ञान से (ऋक् आदि) अवस्थित हो जाते हैं ।

२. ऋचः, सामानि, छन्दांसि, यजुः—दस० ने ऋक् आदि का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद समायोजित है । उन का विचार है कि ऋचः सामानि और यजुः मे ही समस्त ऊन्दों का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः छन्दांसि का प्रयोग निरर्थक होने से यह अथर्ववेद का श्रोतक है । मेट पीटरवर्ग कोप मे छन्दस् का अर्थ ऋक्, यजुः और साम मे भिन्न, सम्भवतः मूलतः, एक जादू-टोने का वाक्य किया है । इस आधार पर पीटर्सन भी दस० के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । मै० समझते हैं कि इस मे केवल तीन वेदों का ही सीधा और साश्रुत वर्णन है, अथर्ववेद बहुत पीछे तक चतुर्थ वेद के रूप मे स्वीकार नहीं किया गया ।

(ii) ऋ० १०।१४।१६ मे त्रिष्टुप्, गायत्री और छन्दांसि को यम मे निहित बताया गया है । ऋ० १०।११।५ मे त्रिष्टुप् एक सुपर्ण को बध्वरों मे छन्दों को युक्त करते हुए बहुधा कल्पित करते हैं । मन्त्र ६ मे छन्दों को धारण

करते हुए विद्वान् ऋक् और सामन् से यज्ञ का सम्पादन करते हैं, मन्त्र ९ में प्रश्न है कि छन्दों के योग को कौन जानता है। ऋ० १०।१३०।३ में मन्त्रों को छन्द कहा है, मन्त्र ७ में इन के दो विभाग किए हैं—स्तोम और छन्द। अतः छन्द समस्त मन्त्रों का द्योतक पद है। यहा पर ऋक्, साम और यजुः से बचे हुए मन्त्रसमूह का अभिप्राय है, और यह अथर्ववेद ही है।

३. मन्त्र की समस्या—परन्तु अभी मानवसृष्टि का वर्णन नहीं किया गया है। इस से पहले मन्त्र में पशु शब्द से मानव का भी ग्रहण तो किया जा सकता है, परन्तु अगले मन्त्र में पशुओं का पुनः विस्तार किया गया है। मानवों का वर्णन केवल मन्त्र १२ में आया माना जा सकता है, फिर ऋग्वेद आदि की उत्पत्ति कैसे हुई। क्या इस में नित्य वाणी के प्रकाश का भाव ले कर वाणी के अग होने के कारण ही ऋग्वेद आदि का वर्णन किया गया है, अथवा अन्य किसी दृष्टि से यह विचारणीय है। उधर ब्राह्मणग्रन्थों में ऋक् आदि के कुछ अर्थ मिलते हैं, क्या उन में से भी कोई अर्थ यहा अभिप्रेत है।

संहितापाठः

पदपाठः

३१. तस्मादश्वा अजायन्तु

ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्

तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥

तस्मात् । अश्वाः । अजायन्तु ।

ये । के । च । उभयादतः ।

गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् ।

तस्मात् । जाताः । अजावयः ॥१०॥

यजुःसंहितायां मन्त्रोऽयमष्टमः ।

१०

मायणभाष्यम्—तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के च अश्वज्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरु २+ उभयोः दन्त्युक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त । तथा तस्मात् यज्ञान् गावः च जज्ञिरे । किं च तस्मात् यज्ञात् अजावयः च जाताः ॥१८॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [ये] जो [के] कोई (भी) [उभयादतः] (ऊपर नीचे —) दोनों ओर दन्तों वाले (हैं वे) [अश्वा.] घांटे

[तस्मान्] उसी (यज्ञ) से [अनाद्यन्त] उपन हुए । [ह] निश्चय से [गाव] गौए [तस्मान्] उसी (यज्ञ) से [जज्ञिरे] उपन हुई [अनाद्य] बकरी और भेड़ [जाता] उपन हुई ॥ १० ॥

टिप्पणिया—१ भाष्यकारों का अर्थ—भाष्यकारों ने पहले दो पादों को एक साथ ले कर श्रोत्र और दोनों ओर दान्तों वाले गंधे आद की उपत्ति का वर्णन माना है । परन्तु गाव क ऊपर और नाच तथा दोनों ओर दष्टाए होती हैं, तथा बकरियों क ऊपर और नाच दान्त होत हैं, अन ये सब ही 'अनाद्यन्त' हैं । ऐसा स्थित म ह्य० का योजना उचित जान पड़ती है । भाष्यकारों का अर्थ यह है—

उस स घोड़े उपन हुए और ये ओ काह भी दोनों ओर दान्ता वाले हैं । उस से गाए उपन हुई । उस से बकरी और भेड़ उपन हुई ।

२ अनाद्य —द्वन्द्व समासों को पन्पाठ में अग्रहात नहा लिया जाता है ।

सहितापाठ

पक्षपाठ

३२. यत्पुरुषं व्यदधुः	यत् । पुरुषम् । वि । अदधुः ।
कृतिषा व्यक्ल्पयन् ।	कृतिषा । वि । अक्ल्पयन् ।
मुखं किमस्य को ब्राह्म	मुखम् । किम् । अस्य । को । ब्राह्म
का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥	इति । को । ऊरू इति । पादौ ।
	उच्येते इति ॥ ११ ॥

यज्ञ सहितायामय दशमो मन्त्र । तत्र तृतीयचतुर्थपादो त्वेव स्त —

मुखं किमस्यासीत्कि ब्राह्म	मुखम् । किम् । अस्य । आसीत् ।
किमूरू पादा उच्येते ॥	किम् । ब्राह्म इति ।
	किम् । ऊरू इति । पादौ । उच्येते इति ॥

सायणभाष्यम्—प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणान्सिद्धिं वक्तुं ब्रह्मवादिना प्रश्ना उच्यन्ते । प्रजापते प्राणरूपा देवा यत् यदा पुरुष विराड् रूपं व्यदधुः सकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः । अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत् । कौ वाहू अभूताम् । का ऊरू । कौ च पादौ बुध्येते । प्रथमं सामान्यरूपं प्रश्न पश्चात् मुखं किमप्याग्निना विभोर्विपया प्रश्ना ॥ २१ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जन (देवा ने) [पुरुषम्] विराजू पुरुष की [व्यदधुः] (साष्टयज्ञ में) आहुति दी (तब उस को) [कतिधा] कितने प्रकार से [व्यकल्पयन्] वर्णन किया ? [अस्य] उस का [मुखम्] मुख [किम्] क्या (था) [वाहू] दो भुजाएँ [कौ] कौन-कौन सी (थी) [ऊरू] जघाएँ (और) [पादौ] पैर [का] कौन-कौन [बुध्येते] कहे जाते हैं ?

टिप्पणियाँ—१ अगले मन्त्र की भूमिका—यह मन्त्र अगले मन्त्र के वर्णन की प्रस्तावक पृष्ठभूमि है ।

२ यत्—मही०—जब । तसः—क्यों कि (ऋषामू०) उस (पुरुष) को (य०भाष्य) ।

३ पुरुषम्—सा०—विराजू पुरुष । तसः—पूर्ण पुरुष ।

४ वि व्यदधु—मै०—जब देवा ने पुरुष को हवनीय पशु के रूप में काटा । मही०—काल से उत्पन्न किया । तसः—(य०भाष्य)—विविध प्रकार से धारण करते हैं । (ऋषामू०)—विविध प्रकार से व्याख्यान करते हैं ।

(11) आश्रित वाक्य होने पर भी पट्पाठ ने 'वि' को अन्धु से पृथक् किया है । इस से ज्ञात होता है कि 'वि' को पञ्चारुपसर्ग नहीं माना रह है ।

५ कतिधा—कितने प्रकार से । इस के उत्तर अगले मन्त्रों में पाए जाते हैं । मन्त्र १२-१४ में चार-चार प्रकारों का उल्लेख है और मन्त्र १५ में दो प्रकारों का ।

६. वि अकल्पयन्—मै०—वाटा, उ०—विचार किया। मही०—(कितने प्रकार) कल्पना की। दस०—विशेष कर कहते हैं (य० भाष्य)। उस के सामर्थ्यगुणों की कल्पना करते हैं (ऋभाभू०)।

(11) इस घातु का कल्पना करने, सोचने, विचारने, व्याख्यान करने के अर्थ में ऋ० १०।११४।५ में भी प्रयोग हुआ है—

‘सुपर्ग विप्रा. कवयो वचोभिरेकं मन्त बहुधा कल्पयन्ति।’ ऋ० १।१६४।४६—
‘एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति’ से तुलना करने पर उपरोक्त अर्थ सुस्पष्ट हो जाता है। अतः—कितने रूपों में व्याख्यान किया—यह मार हुआ।

७. मुखम्—सा०—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सामान्य प्रश्न किया गया है और इन भाग में उस प्रश्न का विस्तार किया है। सा० आदि ने इन का अर्थ—
पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु और पैर क्या थे—लिखा है। दस० ने य० भाष्य में
“(मुखम्) के समान भेष्ट, (बाहु) भुज बल को धारण करने वाला, (ऊरु) घोंटू के कार्य करने वाले और (पादो) पाव के समान नाच करने वाले’ और
ऋभाभू० पृ० १५८ में (i) मुख्य गुणों से, (ii) बल, शीर्ष, दृढ़ता और युद्ध आदि विद्यागुणों से, (iii) व्यापार आदि मध्यम गुणों से और (iv) मूर्खपन आदि नीच गुणों से जिस की उत्पत्ति हुई—अर्थ किया है।

(11) इस मन्त्र के पूर्वार्ध में पूजा गया है कि विराट् का विद्वानों ने कितने प्रकार व्याख्यान किया। अतः उत्तरार्द्ध में मुख, बाहु, ऊरु और पाद को दृष्टि से विराट् के चार प्रकार से अर्थात् चार व्याख्यान अभिप्रेत हैं। ये चारों व्याख्यान और इन में प्राप्त नाम उन्ही प्रकार एक विराट् के चोतक हैं जिस प्रकार ‘एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यनि यम मातरिभानमाहुः’ में अग्नि, यम और मातरिश्वा ‘एक सत्’ के चोतक हैं। विराट् का मुख आदि मात्वा नहीं है। उस की शक्तियों को ही मुख आदि नाम दिया है। मुख=मुख के सदृश मुख निरपेक्ष, ज्ञान प्रवचन और नेतृत्व आदि के गुण। बाहु—✓बहु धारण करना से। धारक, शक्ति, बल, शीर्ष, रक्षा, सहार आदि गुण। ऊरु—✓ऊर्ण टङ्गना से। अतः आच्छादन, पालन, निम्तार करना आदि गुण। पद (पाद)—

✓ पद जाना से । अतः गति, प्राप्ति, ज्ञान, श्रम और तप आदि । भाव यह है कि इन शक्तियों की दृष्टि से निराज् के क्या-क्या नाम हुए । यज्ञेय के पाठ में 'कौ' और 'का' के स्थान पर 'किम्' पाठ से भी यही निष्कर्ष निकलता है । वहा अर्थ यह है—इस का मुख किस नाम का था, ब्राह्म, ऊरु और पाद किस नाम के थे ।

८. कौ—डा० मै० लिखते हैं कि व्यञ्जनों से पूर्व द्विवचन के 'औ' के स्थान पर ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में 'आ' का प्रयोग पाया जाता है ।

संहितापाठः

पदपाठः

३३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्	ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् ।
ब्राह्म राजन्यः कृतः ।	ब्राह् इति । राजन्यः । कृतः ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः	ऊरु इति । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः ।
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥	पदभ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥ १२ ॥

यजुःसंहितायामयं मन्त्र एकादशः । तत्र ब्राह्मणो, राजन्यः इत्युभयप्रापि
• णो, • न्यः एवं पाठः । 'पद्भ्यामित्यस्य स्थाने 'पद्भ्याम्' पाठो वर्तते ।

सायणभाष्यम्—इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति । अस्य प्रजापते, ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखमुत्पन्न इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः सः ब्राह् कृतः ब्राह्मत्वेन निष्पादितः । ब्राह्म्यामुत्पादित इत्यर्थः । तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् यौ ऊरु तद्रूपः वैश्यः संपन्नः ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत । इत्थं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणानामुत्पत्तिर्विदुःसंहिताया मत्स्यपुराणे "स मुखतस्त्रित्वा निरयिमात्" (तैम० ७ । १ । १ । ४) इत्याद्यां निराह्वयमात्ता । अतः प्रश्नोचरे उभे अपि तत्परतयैव योजनाये ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ब्राह्मणः] ब्राह्मणी [अस्य] उस (निराज् पुरुष)
का [मुखम्] मुख [आसीत्] था । [राजन्यः] शासक [ब्राह्] दोनों

भुजाए [कृत] बनाया गया । [यत्] जो [वैश्य] (सामान्य) प्रजाजन (य) [तत्] व [अस्य] इस की [ऊरू] दोनों जघाए (कल्पित किए गए) । [पद्म्याम्] पैरों से (वह) [शूद्र] शूद्र (= तपस्वी) [बनायत] हो गया ।

टिप्पणियाँ—१ वर्णों की उत्पत्ति—इस मन्त्र के आधार पर मन भाष्यकारों ने ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जघाओं से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी है, और समाज में उन का स्थान भी उनरोत्तर अवर माना है । मध्यकालीन और उस विचार के अनुयायी पण्डित इन वर्णों को जन्मगत मानते हैं और दस० गुणसमन्वयभाव के अनुसार वयसश मान कर एक दूसरे वर्ण में परिवर्तन का लक्ष्दान्त प्रतिपादित करते हैं ।

(11) जैसा पहले मन्त्र (११) की टिप्पणियों में लिखा गया है वहाँ पर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र विराजू के ही विभिन्न दृष्टियों से अनेक नाम हैं । भाव यह है कि मुखरत् शान और प्रसन्न की दृष्टि से विराजू का नाम ब्राह्मण है बल, वीर्य आदि की दृष्टि से क्षत्रिय या राजन्य, निस्तार करने और सर्वत्र व्यापक होने का दृष्टि से वैश्य और गति, शान और प्राप्त की दृष्टि से शूद्र नाम है । लघुणा से लोचन में इन गुणों के आधार पर विश (= प्रजा) के भा पृथक् पृथक् नाम कल्पित कर लिए गए । ऊपर मन्त्र ऋ० २ । १२ । ६ (कमलरत्ना १२) में भी टिप्पणियाँ देखें ।

(111) प्रचलित शैली के अथवा के अनुसार भी चार वर्णों के प्रासङ्गिक नाम ऋग्वेद में बवल इती ॥ ३ में आए हैं । यही नहा, चारों सहिताओं में इन क्रम से चारों वर्णों के ये नाम इसी मन्त्र में मिलते हैं और इसी में नहा । डा० अम्बेकर दस मन्त्रों को विशेष रूप में प्रशिक्षित मानते हैं ।

२ कृत — भै० ने इसे कृतों के स्थान पर राजन्य से प्रभावित प्रयोग माना है, परन्तु यह विचार ठीक नहीं । कृत और राजन्य समानाधिकरण हैं ।

३ यद्वैश्य — भै० ने दस का अर्थ—उस का ग जगाए जो वैश्य या हो गई—किया है । ऊपर के व्याख्यान की दृष्टि में यह अयोग्यता उत्पत्ती है ।

४ पद्म्याम्—ये जनन की प्रकृति की शीतक पञ्चमी मानी गई है । पिछले मन्त्र की दृष्टि में 'अजायत' का मार 'उच्यत' है । अतः अहा पञ्चमी नहीं मानी जा सकता । जन्मिस्तापस क समान द्रव्यभूतलक्षण में तृतीया है—गति शीलता, श्रम और तप के कारण विराज श्रद्ध कहलाता है ।

(11) गति दो प्रकार का होती है—१. श्रेय का ओर और २. प्रेय की ओर । अतः पद्म्याम् में द्विवचन का प्रयोग किया गया है ।

(111) शक्ति भी दो प्रकार की होती है—१. पोषक और सहारक । ससार और राष्ट्र के धारण में दोनों प्रकार की शक्तियाँ काम आती हैं । अतः 'बाहू' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है ।

(112) विस्तार भी अपना और दूसरों का हाने से दो प्रकार का है । अतः ऊरु में भी द्विवचन का प्रयोग किया गया है ।

संहितापाठ

पदपाठ

३४. चन्द्रमा मनसो जात-	चन्द्रमाः । मनसः । जातः ।
श्वाः सूर्यो अजायत ।	चक्षीः । सूर्यः । अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च	मुखात् । इन्द्रः । अग्निः । अजायत ।
प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥	प्राणात् । वायुः । अजायत ॥ १३ ॥

अथ मन्त्रो यजुः संहिताया द्वादश । तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम-

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च	श्रोत्रात् । वायुः । प्राणः । अजायत ।
मुखादिग्निरजायत ॥ १२ ॥	मुखात् । अग्निः । अजायत ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम्—यथा दध्यायान्द्रिज्याग्नि गगान्य पशवः क्रगाणि यदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एव चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोपन्ना इत्याह । प्रजापते मनसः सकाशात् चन्द्रमा जातः । चक्षी च चक्षुषः सूर्य अपि अजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवानुत्पन्नौ । अस्य प्राणात् वायुरजायत ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—(उसके) [मनस] मन से [चन्द्रमा] चन्द्रमा [जातः] बना । [चक्षो] आस से [सूर्य] सूर्य [अजायत] उत्पन्न हुआ । [सुखात्] सुख से [इन्द्र] इन्द्र [च] और [अग्नि] अग्नि [च] और [प्राणात्] प्राणों से [वायु] वायु [अजायत] उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

टिप्पणियाँ—१. चन्द्रमाः—चन्दति हृषयति दीपयति वा स चन्द्रः (उ० रा० ३ वमा०) । चन्द्र मिमीतेऽसौ चन्द्रमाः (उ० ४।२२८) । आनन्दप्रद, प्रकाशक । चन्द्रमा को चन्द्रमा भी इन्हीं गुणों के कारण कहते हैं । इस की एक अन्य व्युत्पत्ति भी सम्भव है—चन्दति चन्दयति वा चन्द्रः । चन्दे आनन्दे प्रकाशे वा रमतेऽसौ चन्द्रमाः । आनन्द और प्रकाश में रमण करने वाला, अतः आनन्दमय, प्रकाशस्वरूप । निघ० ५।५।३ में इसे पदनामों में पड़ा गया है । शाकल्य ने इसे पदपाठ में अग्रहीत नहीं किया है । सम्भवतः वे इस की दूसरी व्युत्पत्ति मानते हों किम में पूर्णपद में विकार होने के कारण यह पद अग्रहीत नहीं हो सकता । तैत्तिराय ब्राह्मण में इसे चन्द्र + मे से और नि० ११।५ में चाय + √ द्रम् आदि से व्युत्पन्न किया गया है । इस के अर्थों में सोम, वृत्र, वरेण्य, सविता, मनस, रेतसू, अन्न, प्राण, प्रजापति, ब्रह्मा, धाता, विशांता, रान, उदान, मनुष्य लोक, राक्ष, भर्गः, सब कुछ आदि मिलते हैं ।

२. मनस —चन्द्रमा और मन का धनिष्ठ सम्बन्ध है । चन्द्रमा की किरणां विदोष प्रकार में पड़ने पर मन में अनेकविध विकारों की उत्पत्ति उत्पन्न होती है । शुद्ध पक्ष में कृष्ण पक्ष का अपेक्षा मानसिक गति अधिक ३ तीन होता है तु० ष० तै० ३।१०।८।५—चन्द्रमा में मनसि श्रित । तथा ज० उत्रा० १।२८।५ तत्तन्मनश्चन्द्रमास्य । अतः यहां पर पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति कही गई है । मनस्-पद √ मन् जानना, मनन करना से बनता है । जानने का साधन, अथ ज्ञानसाधक, अनुभवशक्ति आदि । ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे सविता, इन्द्र, ऋत, समुद्र, देव, वृषा, वायु, प्राणों का अधिपति, यज्ञ, अध्वर्यु आदि कहा गया है । बृहत्, पर ब्रह्मा, होता, प्रजापति, मन, कुछ, पितर, अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि ।

३. चक्षोः—डा० मै० लिखते हैं कि चक्षु का पञ्चम्यन्त यह रूप केवल दृशी मन्त्र में आया है। सामान्यतः यह पद चक्षुप् है। सूर्य के कारण ही आलोक प्राप्त कर के मनुष्य देखने में समर्थ होता है। सूर्य स्वयं सब जगत् को अपने प्रकाश से देखता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ सत्य, निवित्, रुक्, बृहस्पति, जमदग्नि ऋषि, मैरावरुण, अप्सर्व्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, देव, आदित्य, अर्क, सूर्य, यज्ञ, त्रैलोक्य, उल्लिख आदि दिए गए हैं।

४. मुखान्—पिछले मन्त्र में मुख पर टिप्पणी देखे। श्र० १४।४।१।७ में मुख को 'प्रतीक' कहा है।

५. इन्द्रः—पीछे ऋ० २।१२।१ में इन्द्रः पर टिप्पणी देखें। पाठ० सु स० ११ में इन्द्रः पर भी टिप्पणी देखें।

६. अग्निः—डा० फतह सिंह ने वै० ७ में इसे मूलतः अ-√कनू से व्युत्पन्न माना है। वैदिक वर्णनो में इस के अग्रणीत्व, प्रकाश और गति-शीलता गुण ही विशेष लक्षित होते हैं। मुख में भी अग्रणीत्व, प्रकाश और मानसिक गति सुविदित हैं। ये भाष० ४।१३, तथा परिशिष्ट २।१ भी देखें। पाठ० सुस० ३१ में अग्नि पद पर टिप्पणी देखे।

७. प्राणात्—यह पद प्र + √अन् वाम लेना से बनता है। श्वासक्रिया और उत्त में अन्दर आने और बाहर जाने वाली वायु ही प्राण है। प्राण शब्द से स्वयं प्राण का और प्राण, अपान, ध्यान आदि दसों प्राणवायुओं का श्रोतक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राणों को प्र, आदित्य, अर्क, सविता, सोम, चन्द्रमा, अग्नि, अमृत, अतयेदस्, वायु, वात, मानरिधा, वनस्पति, वरुण, रुद्र, वसु, मित्र, साव्य देव, विश्वे देवा, ऋषि, वसिष्ठ ऋषि, ऋक्, यजु, रश्मि, होता, सत्य, सक्त्वर, मधु, ज्योति, हिरण्य, क, प्रजापति, तनूनगात्, पिता, अर्णव, अन्न, ताम्रवद, आपः आदि कहा गया है। देखो वैका०।

८. वायु —√वा जाना, उहना से। गतिशील, ज्ञानवान्, प्राप्त वस्तु आदि वायु शब्दोत्पत्ति होते हैं। पिछले साहित्य में यह पद योगरूढि हो कर

‘हवा’ का द्योतक बन गया है। अग्निमानशाकुन्तल अंक ७ म वायु के मार्गों का उल्लेख मिलता है।

(11) ब्राह्मणग्रन्थों में वायु के अर्थों में हवा, सत्र को पृथक् पृथक् व्यक्त करने वाली, देव, ब्रह्म, ब्रह्मपात, पावत्र प्रजापात, इन्द्र, उज, पूषा, तार्क्ष्य, सरिता, विश्वकर्मा, पशुपति उष, पुणोहित, वान्, देवों की आत्मा, यजु, अभ्यर्च्य शान्त आदि दिए हैं।

९ जेमा ऊपर मन्त्र ११ की टिप्पणियाँ में लिखा है वहाँ से आहुत पुरुष के नामों या व्याख्याना का प्रकरण चल रहा है। वही विषय प्रकृत मन्त्र में तथा अगले मन्त्र में चल रहा है। इस प्रकरण का उपसंहार अगले मन्त्र (सं० १४) के पाठ ४ म—तथा लोकों अकल्पयन्—इस प्रकार लोकों = स्वरूपों का व्याख्यान किया—में किया है।

(11) ऊपर टिप्पणियाँ में विभिन्न पदों के ब्राह्मणग्रन्थों में अर्थों के अव्ययन और तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्र पदों के वातपर्यय अर्थ समान हैं। यह तब ही सम्भव है जब व एक ही मन्त्र के विभिन्न पदों के द्योतक हों। इस दृष्टि से भी यहाँ पुरुष के स्वरूपों का वर्णन ही अभिप्रेत है। इस की पुष्टि चन्द्रमा और मन के, सूर्य और चक्षु के, मख तथा इन्द्र और अग्नि के तथा प्राण और वायु के धनिष्ठ सम्बन्ध में भी होता है।

(111) परन्तु मनस, चक्षो, मुखात् और प्राणात् में पञ्चमो निभक्ति का प्रयोग विचाराणीय है। पिछले मन्त्र १२ में पद्मस्य म इधभूतलस्य में तृताया लेने से समस्या हल हो गई है। परन्तु प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में यहाँ हनु में पञ्चमा माननी समानीत रहनी। मननशक्ति, दशनशक्ति, महनशीलता और धारण करने की शक्ति के कारण उम के नाम के मन्त्र चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र और आग्र तथा वायु पडे। ✓बन् धातु का प्रयोग उपाच द्योतक ही नहीं है, प्रसिद्धि का द्योतक भी है।

10 श्रोत्रात्—यजुर्वेद में प्राण और वायु को श्राव से उच्यते कहा गया है। अतः श्रोत्रश्राव के कारण वह पुरुष वायु और प्राण कहलाया।

सहितापाठ

पदपाठ

३५. नाम्या आसीदन्तरिक्षं । नाम्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम्
 शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत
 पद्भ्या भूमिर्दिशः श्रोत्रात् । पद्भ्याम् । भूमिः । दिशः ।
 तथा लोकौ अकल्पयन् ॥ १४ ॥ तथा । लोकौ । अकल्पयन् ॥ १४ ॥

यस्य सहितायाः त्रयोदशोऽयमन्तरिक्षं । तत्र अन्तरिक्षम् इति लोकौ, इति च
 स्थाने 'अन्तरिक्ष' इति, 'लोकौ' इति च पाठौ । पदपाठस्तु अत्रैव दृश्यते ।

सायणभाष्यम्—यथा च द्वात्रीन् प्रजापते मन प्रमृतिभ्योऽकल्पयत् तथा
 अन्तरिक्षाणीन् लोकान् प्रजापते नाम्नाभ्यो देशा अकल्पयन् उपाश्रितवत् ।
 एतदेव दर्शयति । नाम्ना प्रजापतेर्नाभे अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णं शिरसि
 द्यौः समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्या पान्नाभ्या भूमि उपपन्ना । अस्य
 श्रोत्रात् दिश उत्पन्ना ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[नाम्या] (उस की) नामि स [अन्तरिक्षम्]
 आनास [आसीत्] हुआ [शीर्ष्ण] शिरसि [द्यौः] बुगैक [समवर्तत]
 रना । [पद्भ्याम्] पैरों से [भूमि] प्राथवी [श्रोत्रात्] कानों से [दिश]
 दिशाओं [तथा] और [लोकौ] (दोप सत्र) लोकों को [अकल्पयन्]
 फलित किया ॥ १४ ॥

टिप्पणिया—१ नाम्या—यह पद ✓ नहू बाधना से बनता है । जो गत्र
 कुंठ की श्राव हुए है, व्यास किए हुए हैं । ब्राह्मणग्रन्थों की दृष्टि में नामि म
 प्राण, अन्न और रेतस् स्थित हैं । नामि पदार्थों का मध्य भाग होती है, जो
 मयूरहित होता है । अन्तरिक्ष—आनास सत्र को व्यास किए हुए है । इस
 मध्य श्लोक भी कहते हैं । वायु और वृष्टिजल की स्थिति भी इसी में रहता है ।

२ अन्तरिक्षम्—दा० फतहसिंह न दो व्युत्पत्तिया (१ अन्तर + ✓ १५
 स २ अन्त + यक्ष्म से) ब्राह्मणों से और तीन (—१ अन्तर + क्षातम्

२ अन्तरा + √ भि ३ अन्तर + धयम्) निरुक्त से सकलित की हैं । आभास क अर्थ में य इसे अन्तर + √ ईप् से व्युत्पन्न करना उचित समझते हैं । ताण्ड्यमहाब्राह्मण में एक अन्य व्युत्पत्ति अन्तर + ख का मन्त्र भी मिलता है (देखो वै० ५६) । ऊपर लिखी १ म उचित अन्तरिण क रूप की दृष्टि में अन्तर + √ भि व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है । इसी से यह पुरुष का उस क सब कुछ को असल अन्दर धारण करने और सब कुछ क अन्तर व्याप्त होने क कारण नाम बन जाता है ।

३ क्षीर्ण — इसे √ भि से व्युत्पन्न किया गया है । मन्त्र में धारक, सब का शरणभूत, अत उन्नत, परम कमनाय । तु क अतारी भाषा का तिरि । इस का सामान्य अर्थ शिरम् होता है । इसे प्राणों का योनि, प्राण, अग्नि, गायत्री छन्द, विधानु, निवृत् आदि कहा गया है (देखो वै० पृ० ५४४) ।

४ द्यौ — यह काश, त्रिजगत्ता, सन्धि, गात, मोक्ष, मन्त्र, दम्भ, व्यवहार, गुण, श्रुति अथा म प्रयुक्त √ द्यि धातु से व्युत्पन्न किया गया है । ता० २० । १४ । ५ म इसे √ द्युत् से व्युत्पन्न किया गया है । ब्राह्मणग्रन्थों ने इस प्रकाशता द्वारा फैलाया हुआ, हरिणा (= सुवर्णमयी), प्राण, ब्रह्म, अन्तर पात छन्द, विश्वन्मा, वरुण, वैश्वानर, वाक् आदि कहा है ।

५ पुन्यसाम् — ऊपर मन्त्र १२ म पञ्चसाम् पर लिखी देख । वही भी हनु म पञ्चमी माना जा सकता है ।

६ भूमि — नवनीति भूमि । सब कुछ का उत्पत्तिस्थान हान स पृथिवी भूमि कहलाता है । सब को जन्म और सुख आदि प्राप्त कराने वाला हान क कारण वह पुरुष भूमि कहलाया ।

७ दिशः — √ दिश् से बनता है । प्रकाशक, निर्देशक । ब्राह्मणग्रन्थों में रर्गलाक, नाक, अग्नि, विश्वदेवा, ऋतुए, धान, अवगशाक्त, छन्दम्, परिधिया, प्राण, समान, वैरूप साम आदि का 'दिश' कहा गया है । अतः प्रकरण म इस का बहुवचन रूप कोई सम्प्रदाय उत्पन्न नहीं करता है । वेदक पदों का योजना परम कृत्रिम है । वे कवि क सत्य ज पदों क समान नहीं हैं । उन की योजना अनेक दृष्टियों को ध्यान में रख कर की गई है ।

८ तथा लोको अकल्पयन्—✓ कल्प का अर्थ ऊपर मन्त्र ११ में व्याख्यान करना, बताना, कल्पना करना निर्धारित किया जा चुका है। लोक पद✓लोर् देराना, प्रकाशित होना से जनता है। अतः प्रकाशित, प्रकाशमय, प्रकाशपद। अतः शापक = स्वरूप = नाम। इसी आधार पर इस का अर्थ 'पत्र' भी किया जा सकता है। पुराण के विभिन्न नामों, पक्षों स्वरूपों का व्याख्यान ऊपर वर्णित रूप में किया।

९ ऊपर मन्त्र ११-१४ में सुझाए गए अर्थों के साथ-साथ इन मन्त्रों से पद्य आदि की सृष्टि के समान जगत् के पदार्थों की शक्तियों और कमों की सृष्टि का बोध भी आल्कारिक शैली में होता है। वर्णन के क्रम में अव्यवस्था हान से यहाँ सृष्टिरचना का प्रक्रम सम्यक्कर्ता का मूलतः अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता।

सहितापाठ

पदपाठ

३६, सप्तस्यामन् परिधयस्

त्रिः सप्त समिधः कृताः ।

देवा ययुजं तन्नाना

अयधन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

सप्त । अस्य । आसन् । परिऽ-

धयः । त्रिः । सप्त । समुऽ इधः ।

कृताः । देवाः । यत् । ययुजम् ।

तन्नाना । अयधन् । पुरुषम् ।

पशुम् ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम्—अस्य सान्तिष्वयस्य गायत्र्यादीनि सप्त उन्नासि परिधय आसन् । ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रय परिधय उत्तरवेदिकास्य आदित्यस्य सप्तम परिधिप्रतिनिधिरूप । अत एवात्रायत—‘न तस्य पुरस्तात् अथ त्वाद्यादित्यो ह्येतेषां पुरस्तात् गन्धार्याहन्ति’ (तैत्ति० २।१।६।३) इति । तत एत आदित्यसहिता सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपा । तथा समिध त्रि सप्त त्रिगुणोक्तसप्ततयासा एरुमिश्रिता कृता । “द्वादश मासा पञ्चतर्कस्य इमे सोमा जसावादित्य एरुमिश्रिता” (तैत्ति० ५।१।१० २) इति श्रुता पदार्था एकास्मिन्निदानीयुक्तेभ्यस्त्वेन आविता । यन् य

पुरुषो नैरोनोऽस्ति त पुरुष देवा प्रनापनिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञ तन्वाना
मानस यज्ञ तन्वाना कुर्वाणा पशुम् अबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन
भावितवन्त । एतदेवामिषं य पूषन् "यपुरुषेण हविषा" इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जन [देवा] देवों ने [यज्ञम्] (सृष्टि—)
यज्ञ का [तन्वाना] त्वस्तार करत हुए [पुरुषम्] (विराज) पुरुष को
[पशुम्] (हार रूप) प्राण [अबध्नन्] बनाया (तत्र) [अस्थ] हम यज्ञ
की [परिधेय] सीमाएँ [सप्त] सात [आसन्] थीं, (आर) [समिध]
सामवाएँ [त्रि सप्त] इक्कीस [कृता] बनाई गई ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—१ सूक्त परिधेय—परिधि—परि + √ धा से । धारक,
अतः सीमा । ब्राह्मणग्रन्थों में त्रिधाओं आर लोकों का परिधि कहा है । सा०
ने १) गायत्री आदि मात छद्म आर २ आहवनाय की तीन परिधियों, तान
उत्तर वात्काआ आर आदित्य को परिधि बताया है । ऋग्भा० में दस० न
ब्रह्माण्ड के एक च ऊपर एक च क्रम से स्थित १ समद्र २ नमरण साहस
वायु ३ मेघमण्डलार्थ वायु ४ वृष्टिजल ५ वृष्टिजल के ऊपर वायु ६ अत्यन्त
सूक्ष्म धनञ्जय आर ७ सबत्र व्याप्त सूत्रा मा—इन मात आवरणों की परिधि
माना है । मै० न यज्ञमि के चारों ओर रखी जाने वाली तीन हरी समिधाओं
को परिधि बताया है । सृष्टियज्ञ के वर्णन में दस० का अर्थ अधिक समीचीन है
सात छद्मों का मात्र वाग्रहण से सृष्टि की उत्पत्ति में आधक संगत होता है ।
वेद के कतिपय मन्त्रों में सृष्टिरचना से छद्मों का सम्बन्ध बताया गया है ।
(यभाप० ४ । १८२ १७३, १७८ १८० देखें ।)

२ त्रि सूक्त समिध—इक्कीस सामवाएँ । सा०—१२ मात, ५ ऋग्वेद,
३ लोक आर आदित्य । दस०—इक्कीस पदाथा (१ प्रकृति महत्, बुद्धि,
अन्तःकरण और जीव का समुदाय, १० इन्द्रिय,—१ तन्मात्राएँ, और ५ भूत)
रूप सामग्री । यभा० में यह पारगणन इस प्रकार किया है—१ प्रकृति, १ महत्
१ अहकार, ५ सूक्ष्म भूत, ५ सूक्ष्म भूत, ५ ज्ञानेन्द्रिय, और ३ गुण—सत्त्व, रजस्
और तमस् । ब्राह्मणग्रन्थों में प्राणो, वसन्त, गम और अस्थिया की समिध कहा
गया है । तै० २ । १ । ३ । ८ के अनुसार यह पद सम् + √ दा (= यच्छ)

से बनता है। श० ९।२।३।४४ में इसे सम् + √ हन् से व्युत्पन्न किया गया है।

(११) ऋ० १।१६४।२५ में गायत्र की तीन समिधाएँ बताई हैं। ऋ० ३।२।९ में परिष्मन् यह अग्नि की तीन समिधाओं का वर्णन है। इन में से एक मृत्युलोह में स्थापित की गई है और दो ऊपर अन्तरिक्ष में। ऋ० १०।५१।२ में अग्नि की समिधाओं को देवयानों कहा है। अथ० ५।२६।१ में यजुस् ही समिधाएँ हैं, ५।२९।१४ में अग्नि की समिधाएँ विशाचनम्भनी हैं, और १९।६४।४ में अग्नि समिधाओं से ममिन् मन पर अमर आयु देता है। अथे० ८।९।१८ में समिधाओं की संख्या सात बताई है।

(१२) नि सप्त वा प्रयोग भी एक समस्या है। ऋग्वेद में यह संख्या अग्नि के गुह्य पदों (१।७।२।६), विष्णुस्मिन्को (१।१९।१।२२), सात मोर नियों (१।१९।१।१४), अम्या व नामों (७।८७।४), सोमश का उल्लासों (८।४६।२६), सखा व पद में सुखों (१) आदि (८।६९।७), गिरिओं की सानुओं (८।९६।२), पूर्य व्योम में सय आशिर की दोहक धेनुओं (९।७०।१, ८६।२१), नदियाँ (१०।६४।८) की संख्या की श्रोतय है और अथे० १२।२।२९ में ऋषिवा की संख्या की।

(१३) यहाँ पर सृष्टियज्ञ का वर्णन है। नि सप्त और समिध के ऊपर दिए गए वैदिक और ब्राह्मण के वर्णनों की दृष्टि में इन का भाव 'सृष्टिरचना को सम्पन्न करने वाले २१ पदार्थ या शक्तियाँ या कारण' लेना उचित होगा। इस दृष्टि से दस० का व्याख्यान हमारी सहायता करता है।

३ देवा — ऊपर मन्त्र ७ में देवा पर टिप्पणी देखें।

४ यज्ञम् — ऊपर मन्त्र ६, ७ में यज्ञम् पर टिप्पणी देख। यह यज्ञ मानस भी माना गया है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोग परम पुरुष का चिन्तन करते हैं (देखो ऋग्वेद० पृ० १६३)।

५ सन्व्याना — √ सन् + शानच्। विस्तार करते हुए।

६ पशुम्—सा० आदि ने इस का अर्थ बलि का पशु ही समझा है, यह भिन्न बात है कि वह पशु 'पुरुष' है जो अस्थिमांस की देह वाला नहीं है । ऋ० ने इसे ✓ दृष्ट घातु से मान कर इस का अर्थ 'सर्वद्रष्टा, सर्वपूजनोप ओर द्रष्टव्य' ग्रहण किया है । इस अर्थ की पुष्टि ब्राह्मणों व पशुपद क अर्थों से होती है जहाँ केवल गाय आदि को ही पशु नहीं कहा है प्रत्युत अग्नि, सविता, वैश्वदेव राज्ञ, देवी विश्व, सोम श्री, यक्ष, शान्ति, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तन्, अन्न, वाज, मेघ, धान, इत्या प्राश्, आमा, यज्ञमान वज्र, मावन्, उक्थ ऊषा, स्वर, यज्ञ आदि को भी पशु कहा है ।

सहितापाठ

पदपाठ

३७. यज्ञेने यज्ञमयजन्त देवासु	यज्ञेने । यज्ञम् । अयजन्त ।
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।	देवाः । तानि । धर्माणि ।
ते ह नाकं महिमानं सचन्त	प्रथमानि । आमुन् । ते । ह ।
यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः	नाकम् । महिमानं । सचन्त ।
॥ १६ ॥	यत्र । पूर्वं । साध्याः । सन्ति । देवाः ।
	॥ १६ ॥

सायणभाष्यम्—पूर्व प्रपञ्चेनोक्तमथ साध्याश्च दशयात । देवा प्रजापति प्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सन्त्येन यज्ञ यथोक्तयज्ञस्वरूप प्रजापतिम् अचयन्त पूजितवन्त । तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जाग्रदूपविकाराणा धारकाणि प्रथमानि मुर्याति आसन् । एतावता सृष्ट प्रतिपादकनूतभागाथ सगृहीत । अयोपासनतः पञ्चानुरादकभागाथ सगृह्यत । यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वं साध्या पुरातना विराडुपासि साधका देवा सन्ति तिष्ठन्ति तन् नाकं विराट्प्राप्तिरूप स्वर्गं ते महिमानं तदुपासका महात्मान सचन्त ममयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[देवा] देवों ने [यज्ञम्] (पुरुषरूप) यज्ञमय (हवि) से [यज्ञम्] (सृष्टि—) यज्ञ का [अयजन्त] मय्यान् किया ।

[तानि] वे [धर्माणि] नियम [प्रथमानि] प्रमुख [आत्मन्] हो गए ।
 [इ] निश्चय ने [ति] वे [महिमानः] (प्रमुख धर्म रूप) कीर्तियां [भावम्]
 (उम) सुखमय (मोक्षस्थान) में [सचन्त] विद्यमान हैं [यत्र] जहां
 [पूर्व] पुराने [साध्याः] सृष्टि के साधक [देवाः] देव [सन्ति] विद्य-
 मान हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणियां—१. देवाः—सृष्टि की उत्पादक शक्तियों—पुरुष के मन में
 नामनारूपी यक्षमय बीज, अप्रमेय सलिल आदि । सा०—प्रजापति के प्राण
 रूप देव ।

२. यज्ञेन—सा०—मानस यज्ञ । दम०—ज्ञान यज्ञ (यमा०) ; श्रुति
 प्रार्थना उपासना आदि पूजन से (ऋभा०) । सूक्त के वर्णन से यह पद
 'पुरुष' का निर्देश करता प्रतीत होता है । परन्तु यह पुरुष विराजू है या अव्या-
 कृत परम पुरुष । विराजू तो यह सृष्टि ही है । पहले परम पुरुष को ही यज्ञ
 की हवि = सामग्री बनाया गया है । उमी से सर उत्पत्ति बताई गई है । यह
 उत्पत्ति 'विराट्जायत' का व्याख्यान कहीं जा सकती है । अतः अनुवाद में इस
 का अर्थ 'पुरुष रूप यक्षमय हविम्' किया गया है । पाठ० सूक्त० १४ में यज्ञपद
 पर टिप्पणी भी देखें ।

३. यज्ञम्—मै०—जिस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में विष्णु को यज्ञ के रूप में फलित
 किया गया है वैसे ही यहा पुरुष को भी यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है ।
 सा०—यज्ञस्वरूप प्रजापति । दस०—यज्ञनीय पूजनीय परमेश्वर । इन दोनों ने
 अयजन्त को देवपूजा के अर्थ में लिया है । यद्यपि ये अर्थ अनुचित नहीं, तो
 भी प्रकरण की दृष्टि में यहाँ हिन्दी अनुवाद का अर्थ—सृष्टियज्ञ अधिक उपयुक्त
 रहेगा । ✓ यज्ञ धातु का अर्थ सगतिकरण भी होना है अतः अयजन्त =
 किया ।

४. तानि—दस में पूर्व पाद—'यज्ञेन यक्षमयवन्त देवाः' में वर्णित धर्मों =
 नियमों की ओर ही निर्देश माना जा सकता है । सा० ने 'प्रसिद्ध जगद्रूप
 विकारों के धारक धर्म' लिख कर इस भाव का प्रकाशन किया है । पाद १ में

ये धर्म केवल 'देवा' पद से ही निर्दिष्ट माने जा सकते हैं। दस० ने तानि मे अयजन्त क भाव का निर्देश माना है।

५ धर्माणि—सा०—धारक । दस०—धारणात्मक (यमा०) करने योग्य (ऋभाभू० १६४) । यह प०✓धृ से बनता है। अत धारक । नयम, शक्तिया आदि ।

६ प्रथुमानि—✓प्रथू से । अत विस्तृत, प्रमुख । दस०—१ अनाम भूत मुख्य । २ सब कर्मों क आदि म करन योग्य (ऋभाभू०) । पहला अथ अधिक सगत है ।

७ नाकम्—मा०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग । दस०—१ दु खविहीन मुक्तिगुण २ सबहु बरहित परमेश्वर ।

८ महिमान —मा०—प्रजापति क उपासक महात्मा जन । दस०—महत्त्व से युक्त । विद्वान्, पूय । मै०—सम्भवत यह म निहित शक्तियों ।

(11) यह पद✓मह् से बनता है । अत पूजनीय, महान् । इस का विशेषण पद 'त' पूर्वपादस्थ तानि न ही निर्देशक हो सकता है । अत हिन्दी अनुवाद म ऊपर वर्णित 'प्रमुख धर्म रूप कीर्तियों' अर्थ ग्रहण किया गया है ।

९ सचम्—✓सच् से लट् प्रथम पु० बहुवचन का अट् से हीन रूप । मात होती हैं, मिलती हैं, मिश्रमान हैं ।

१० यत्र—सा०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग । दस०—मोक्ष । यह पूर्वपादस्थ 'नाकम्' की ओर संज्ञत करता है ।

११ पूर्वे साध्या दवा —सा०—पुरातन विराट् की उपासना क साधन देवता । दस०—साधनों से युक्त (याग-) साधन कर देने वाले प्राचीन देदीप्य मान विद्वान् । मै०—प्राचीन साध्य, देवता । ऊपर मन्त्र ७ मे साध्या पर टिप्पणी भी देखे । यह पद ✓साध से बनता है । अत साधक । इसे 'देवा' से घृयक् लेने के लिए मन्त्र मे कोई समुच्चय बोधक पद नहीं है । अत इस 'देवा' का विशेषण बताया गया है ।

संहितापाठः

पदपाठः

३८.

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च
विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रै ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति
तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानुमग्रै ॥
य० ३१।१७ ॥

अद्भ्यः इत्युत्सङ्गः । सम्भृतः इति
सम्भृतः । पृथिव्यै । रसात् । च ।
विश्वकर्मणः इति विश्व-
कर्मणः । सम् । अवर्त्तत । अग्रै ।
तस्य । त्वष्टा । विदधदिति वि-
दधत् । रूपम् । एति । तत् ।
मर्त्यस्य । देवत्वमिति देवत्वम् ।
आजानुमित्याजानम् । अग्रै ॥
य० ३१।१७ ॥

महीधरभाष्यम्—“अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यनुपस्थाप”
(१।३।६।१।२०) इति षट् कण्डिका उत्तरनारायणम् । उपान्त्ये द्वे अनुष्टुभौ दोषा-
न्निष्ठुमआदित्यदेवताः । पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तः लूयते ॥ ॥

अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च । पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चको-
पलक्षकम् । भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः । तथा विश्वं कर्म यस्य
विश्वकर्मणः कालस्य रसात् प्रीतेर्यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्त्तत समभवत् ।
भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्ग
शरीरे पञ्च भूतानि तुष्टानि कालश्च । ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद्रसविशेषफलस्य
उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः । तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयस्त्वष्टा-
दित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति । अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य
पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण । द्विविधा देवाः
कर्मदेवा आजानदेवाश्च । कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्तः कर्मदेवाः । सुष्टयादा-
हृतत्वा आजानदेवाः । ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः—“ये दात कर्मदेवानामानन्दाः स
एक आजानदेवानामानन्दः” (बृ० ४।३।३३) इति श्रुतेः स्यादम
आजानदेवाः ॥ १७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [पृथिव्यै] सुविस्तृत सृष्टि (रचना) के लिए [अद्भ्य] (आदिकारण) जलों से [सम्मृत] निकाले हुए [विश्व कर्मण] समस्त (रचना रूप) कम म समर्थ [रसात्] सार से [अग्ने] सृष्टिरचना के समय [समवर्तत] (यह सृष्टि) उत्पन्न हुई । [त्वष्टा] सृजक पुरुष [तस्य] उस (दृश्यमान जगत्) को [रूपम्] रूप [विदधत्] देते हुए [षति] (सर्वत्र) पहुँचा हुआ है । [अग्ने] आरम्भ से [तत्] वह ही [मत्पैस्थ] मरणशील प्राणियों में [आजानम्] सब ओर से (समस्त वनस्पति कर्मों आदि का) उपादक [देवत्वम्] । द्रव्य गुण (है) ॥ १७ ॥

टिप्पणियाँ—१ अद्भ्य सम्मृत पृथिव्यै०—भाष्यकारों का इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—दस०—पृथिवी को उत्पत्ति के लिए जलों से रस निकाल कर पृथिवी बनाई । इन्होंने इसे उपलब्ध मान कर जल आदि की सृष्टि का व्याख्यान किया है । विश्वकर्मा परमेश्वर है जिस के सामर्थ्य में कारण रूप जगत् कार्यरूप जगत् से भी पहले विद्यमान रहता है । उसी कारणरूप जगत् के अंशों से सृष्टिरचयिता इस जगत् को रचता है । सृष्टि के आदि में वह मनुष्यों को अपने कर्मों से सुख प्राप्त करने के लिए वेद की आज्ञा देता है (—देवत्वमाजानमग्ने) (ऋभाभू०) ।

(II) उवट—जलों और पृथिवी ने रस से उपरि विश्वकर्मा से पूर्व सयोग रूप में विद्यमान प्रजापति अपने एकाग्र रूप मर्त्यलोक में प्राप्त प्रभुत्व है । मही०—जल और पृथिवी आदि पांच भूतों और काल के रस को धारण करता हुआ सूर्य प्रतिदिन उदय होता है । वह आबान देव = मरुत देव है ।

(III) उवट और महीधर ने पृथिव्यै को पञ्चभ्यर्ण्य म चतुर्धा माना है । हिन्दी अनुवाद के अनुसार ऐसा मानना अनावश्यक है । यहाँ पर तादर्थ्य चतुर्थी का प्रयोग है । पृथिवी पद √ प्रथ् से बनता है । अद्भ्य को सब भाष्यकारों ने पांच भूतों का चोतक माना है । यदि इन जलों को आदिकारण 'मलिल' मान लें तो इसे उपलब्ध मानने की आवश्यकता न रहेगी । सम्मृत का रसात् से सम्बन्ध सीधा और स्वाभाविक है । अतः इसे पञ्चम्यन्त लिया गया है । दस प्रथमान्त मान कर भाष्यकारों की योजना अल्प है ।

२ विश्वकर्मण — व्युत्पत्ति और मूल अर्थ में तो सब भाष्यकारों का एक मत है, परन्तु व्याख्यान में भेद है। वे सब इसे स्वतन्त्र विशेष्य पद मानते हैं। परन्तु प्रकरण और मन्त्र की रचना में यह रसात् का विशेषण और पञ्चम्यन्त मालूम पड़ता है।

३ स्वर्णं—भाष्यकारों ने इस का अर्थ सूर्य किया है। परन्तु यहाँ पुरुष रूप सामग्री से सृष्टि की रचना का वर्णन किया गया है। अतः सूर्य अर्थ अप्रासंगिक है।

४ तद्—तु० व०—एक सत् (ऋ० १।१६।४६) और तदेकम् (ऋ० १०।१२९।२)।

५ आजानम्—मही०—आजान श्रेणी के अर्थात् प्रमुख श्रेष्ठ देवता। दस०—समन्ताजनाना मनुष्याणामिदं कर्त्तव्यं कर्म—आ + जन से। हिन्दी अनुवाद में इसे आ + √जन् (आ समन्तात् जनयति कारयति कर्माणि) से लिया गया है।

६ तत्सं—√तन् से तद् शब्द का पठ्यन्त रूप। सामान्यतः यह निर्देशक सर्वनाम क रूप में आता है। यहाँ यह 'वृथिव्यै' पद से सकृत् सृष्टि रचना का द्योतक है। इसे सर्वस्य के साथ भी जोड़ा जा सकता है।

सहितापाठ

पदपाठ

३६० वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव त्रिदित्वातिं मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

य० ३१।१८॥

वेदं । अहम् । एतम् ।
पुरुषम् । महान्तम् ।
आदित्यवर्णमित्यादित्यऽवर्णम् ।
तमसः । परस्तात् । तम् । एव ।
त्रिदित्वा । अति । मृत्युम् । एति ।
न । अन्यः । पन्थाः । विद्यते ।
अयनाय ॥ य० ३१।१८॥

महीधरभाष्यम्—एत महान्त सर्वोत्कृष्ट पुरुष सूर्यमण्डलस्थमह
वेद जानामीति ऋषेर्वचनम् । कीदृशम् ? आदित्यवर्णमादित्यस्येव वर्णो
यस्य तम् । उपमान्तराभवात् स्योपमम् । तथा तमस परस्ताद् दूरतरम् ।
तमोरहितमित्यर्थः । तमशब्देनाविद्योच्यते । तमेवादित्यं विदित्वा
ज्ञात्वा मृत्युमत्येत्यतिक्रामति परब्रह्म गच्छति । अयनायाश्रयायान्य पन्था
मार्गो न विद्यते । सूर्यमण्डलान्तं पुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वैव मुक्तिः ॥ १८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अहम्] मे [एतम्] इस (ऊपर वागत) [महा
न्तम्] महान् [आदित्यवर्णम्] सूर्य के समान तेज वाले [तमस] अन्धकार
के [परस्ताद्] परे [पुरुषम्] पुरुष को [वेद] जानता हूँ । [तम्] उस
[पद] ही [विदित्वा] जान कर [मृत्युम्] मृत्यु को [अति एति] पार कर
जाते हैं । [अयनाय] मोक्ष के लिए [अन्य] दूसरा कोई [पन्था] मार्ग
[न विद्यते] नहीं है ।

टिप्पणियाँ—एत पुरुषम्—मही०—सूर्यमण्डलस्थ पुरुष । उग्र, तम०—
परमेश्वर । यह अर्थ ही प्रकरणोचित है क्यों कि एतम् म पूर्व मन्त्रों में वर्णित
पुरुष की ओर निर्देश है ।

२ आदित्यवर्णम्—उग-√वृ से व्युत्पन्न होते व कारण तेज का प्रपाय
माना जा सकता है । रग भी पण्यों का स्वरूप = तेज ही है । ज्ञात पण्यों
में आदित्य का तेज ही समाधर होता है । यह पद आत्ति (न + √ गे
अनप्रपन्ने स) का तद्धितप्रत्ययात् रूप है । अतः तेज की अनिर्वाता,
अव्यण्डता और सातय का भी स्रोतक है । दम० न इस का अर्थ स्वप्रकाश
'निदानस्वरूप' दिया है ।

३ तमस—यह अन्धकार, अज्ञान, सामान्य बन्धन और दुःख आदि
का है ।

४ अयनाय—महा०—आश्रय शरण के लिए । त्स०—१ व्यावहारिक
और पारमार्थिक मुक्त के लिए (कृष्णभू०) । २ अमान स्थान मान
के लिए ।

सहितापाठ

पदपाठ

४०. प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्त- | प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः ।
 रजायमानो बहुधा वि जायते । चरति । गर्भे । अन्तः ।
 तस्य योनिं परिं पश्यन्ति धीरा- | अजायमानः । बहुधा । वि ।
 स्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ जायते । तस्य । योनिम् । परिं ।
 पश्यन्ति । धीराः । तस्मिन् ।
 ह । तस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥

य० ३१।१९ ॥

य० ३१।१९ ॥

महीधरभाष्यम्—य सर्वात्मा प्रजापतिरन्तर्हृदि स्थित सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्य सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मातृया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थान स्वरूप परिपश्यन्ति । “अहं ब्रह्मास्मि” इति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थु स्थितानि । सर्वं तदारम्भमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रजापति] पुष्प ही [गर्भे अन्त] उत्पन्न बलुआ व अन्दर [चरति] मिचरण करता है । [अजायमान] उत्पन्न न होने पर (भी) [बहुधा] अनेक प्रकार से विविध रूपों में [जायते] उत्पन्न होता है । [धीरा] धैर्यशाली जन [तस्य] उस के [योनिम्] (जगत् के उपादय) स्वरूप को [परिपश्यन्ति] देखत हैं । [ह] अत्रत्यमेव [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] पदार्थ [तस्मिन्] उस में [तस्थु] स्थित हैं ॥

टिप्पणिया—१ गर्भे अन्त—मही० और दश० (यमा०) ने दश का अर्थ ‘गर्भस्थ जीवों व अन्दर’ लिया है । पिउन् समस्त वर्णन में पुष्प को सर्वव्यापक और समस्त उत्पन्न पदार्थों की सामग्री बताया गया है । वही सर्व व्यापकता यहाँ अभिप्रेत प्रतीत होती है । ऋभाभू० पृ० १६७ भी देखें ।

२ बहुधा विज्ञायते—मही०—कार्य रूप में उत्पन्न होता है । दत्त०—उस परमेश्वर की सामर्थ्य से अनेक प्रकार से विशेष रूप में उत्पन्न होता है । इन्होंने इसे जगत् से सम्बद्ध किया है ।

सहितापाठ

पदपाठ

४१. यो देवेभ्यः ऽ आतपति
यो देवानां पुरोहितः ।
पुरो यो देवेभ्यो ज्ञातो
नमो रुचाय ब्राह्मणे ॥

य० ३१ । २० ॥

यः । देवेभ्यः । आतपतीत्या-
ऽतपति । यः । देवानाम् ।
पुरोहितः ऽ इति पुरः ऽ हितः ।
पूर्वः । यः । देवेभ्यः । ज्ञातः ।
नमः । रुचाय । ब्राह्मणे ॥

य० ३१ । २० ॥

महीधरभाष्यम्—य प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्धायातपति
द्योतते । यश्च देवानां पुरोहित सर्वकार्येष्वमे नीत । यश्च देवेभ्य सफा
ज्ञात् पूर्वो जात प्रथममुत्पन्नस्तस्मा आदित्याय नमः । कीदृशाय ? रोचते-
ऽसौ रुचस्तस्मै दीप्यमानाय । 'इगुपध'—(पा० ३ । १ । १३०) इति
कप्रत्यय । तथा ब्राह्मणे ब्राह्मणोऽपत्य ब्राह्मि । हवि त्रिलोप । ब्रह्मावयव
भूताय वा ॥ १० ॥

हिन्दी अनुवाद—[य] जो [देवेभ्य] देवों के लिए [आ तपति]
धर्म आर तप करता है, [य] जो [देवानाम्] देवों में [पुरोहित] अग्र-
गण्य है, [य] जो [देवेभ्य] देवों से [पूर्व] पहले [जात] निरमान
था, (उस) [रुचाय] तेजस्वी प्रकाशमय [ब्राह्मणे] ब्रह्म का स्वरूप के लिये
[नमः] नमस्कार है ॥

टिप्पणियाँ—१. देवेभ्यः—मही०—देवताओं के लिए । दत्त०—विद्वाना
के लिए । यदि इस का अर्थ 'तमस्त प्रकाशमान पदार्थ' किया जाए तो मूल
भाव के अधिक समीप रहेगा । समस्त पदार्थों में प्रजापति की ही व्योमि है ।
ममा० में दत्त० ने यही अर्थ लिया है ।

२ पुरोहित—मही०—मन कामों में आगे किया हुआ । दस०—
१. विद्वानों को मोक्ष में सर्वमुखी से युक्त करने वाला । २. पहले से ही हित क
लिए (पण्यों क) नीच में स्थित—सूर्य का विशेषण मानते हैं । उवत्—इन्द्र
रूप में देवों न आगे वर्तमान ।

३ नमो रुचाय ब्राह्मणे—मही०—दीप्यमान ब्रह्म के पुत्र या अगस्त्य
आदित्य क लिए प्रणाम । दस०—१. रुचिर ब्रह्म और ब्रह्ममेव क लिए प्रणाम
(सद्भाभू०), २ रुचि कराने वाले परमेश्वर की सन्तान क तुल्य सूर्य से अन्न
(= नम) उत्पन्न होता है ।

(11) मन्त्रस्य 'य' से पिछले मन्त्र के प्रजापति का परामर्श होता है ।
सूर्य का वर्णन अप्रासंगिक है । अतः हिन्दी अनुवाद । ब्रह्मण स्वरूपमिति
ब्राह्मि, तस्मै ।

सहितापाठ

पदपाठ

४२. रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	रुचम् । ब्राह्मम् जनयन्तः ।
देवाऽअग्रे तदनुमन् ।	देवाः । अग्रे । तत् । अनुमन् ।
यस्त्यैवं ब्राह्मणो विद्यात	यः । त्वा । एवम् । ब्राह्मणः । विद्यात् ।
तस्य देवाऽअमन्यन्ते ॥	तस्य । देवाः । अमन् । वशे ।
य० ३१ । २१ ॥	य० ३१ । २१ ॥

महीधरभाष्यम्—देवा दीप्यमाना प्राणा रुच शोभन ब्राह्म ब्रह्मणो
ऽपत्यमादित्य जनयन्त उत्पादयन्तोऽग्रे प्रथम तद् बचोऽनुमन् उचु ।
'ब्राह्माऽनार्ता' (पा० ६ । ४ । १७१) इति निपात । तत्किमत आह । यो
ब्राह्मणो, हे आदित्य, त्वा त्वामेवमुक्तविधिनोत्पन्न विद्याजानीयाम् तस्य
ब्राह्मणस्य देवा यशे अमन् वक्ष्या भवन्ति । आदित्योपासिता जग-पूज्यो
भरतीत्यर्थ ॥ २१ ॥

हिन्दी अनुवाद—[रुचम्] प्रकाशमान रुचिर [ब्राह्मम्] ब्रह्म, ज्ञान
आर प्रकृत क स्वरूप न ज्ञान का [जनयन्त] प्राप्त करने वाले [देवा]

देव पुरुष [तत्] उम (ब्रह्म जीव प्रकृत क स्वरूप के ज्ञान) को [अग्ने]
श्रेष्ठ [देवा] देवपुरुष [अनुबन्] व्याख्यान करते आए हैं । [य] जो
[ब्राह्मण] मनुष्य [त्वा] भेदन करने योग्य [एवम्] इस प्रकार प्राप्त ज्ञान को
[विद्वान्] जान ले [देवा] देव पुरुष [तस्य] उस की [वशे] कामना में रहत हैं ॥

टिप्पणिया—१ ब्राह्मम्—ब्रह्मण इदं (स्वरूपम्) । ब्रह्म ✓ वह से बनता
है । ब्राह्मणग्रन्थों में ब्रह्म ४ वाक्, सत्य, स्रष्टा, मन, हृद्य, चक्षु, श्रोत्र, मणय,
प्रज्ञावति, बृहन्पति, आन्त्रित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राग विद्युत्, षण, पञ्चाश, सच, अन्त
रिध आदि अर्थ दिए हैं । अत यह पद जीव, प्रकृति और पुरुष तीनों का
वाचक है । मही० ने इस का अर्थ आन्त्रित्य और दम० ने ब्रह्मोपासक किया है ।

२ देवा—मही०—दीप्यमान प्राण । उपठ—तेजस्वीयोगों । दस०—विद्वान् ।

३ तत्—यह ब्राह्मम् के लिए आया है । दम०—ब्रह्म, जाव और प्रकृति
का स्वरूप ।

४ अग्ने—पहले । उ० २ । १० म इम की व्युत्पत्ति अगति गच्छति इति
अग्रम्—✓ गू जाना से दी गई है । अत गतिशील, अग्रगामी, श्रेष्ठ । उ०
१।२८ पर दभा० भी देखे । दभा० में '०अग्ने०' पाठ है । अन्यत्र '०अग्ने०' पाठ है

५ ब्राह्मण—दौ० १।२।१।४० में कहा है—तस्मादपि (दीक्षित) राजन्य
वा वैश्य वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायत यो यराजायत । इस क
अनुसार तीनों वर्ण ब्राह्मण हैं । इस का पुष्टि शतपथब्राह्मण में उपनयनविधि
के वर्णन में मनुष्य मात्र के लिए ब्राह्मण पद के प्रयोग से होती है । ऐ० ७।१९
में हुताद् प्रजा को ब्राह्मण कहा गया है । श० १३।४।१।३ में प्रत्येक हवन
करने वाला ब्राह्मण होता है । दस० ने ऋग्भाष्य० में (हिन्दी) में ब्राह्मण का
अर्थ 'मनुष्य' ही लिया है । पितृममीथा में प० मधुसूदन शर्मा भी यही मानते हैं ।

६ त्वा—यह युष्मद् का अन्वादेश रूप है । युष्मद् ✓ युप् सेवा करना
से बनता है । अत सेमनीय ।

७ देवा अंसन् वशे—मही०—देवता वश में हो जाते हैं, वह पूजनीय
हो जाता है । दस०—इन्द्रिया वश में हो जाती है । यमा० में 'देवा' का
अर्थ विद्वान् लिया गया है ।

८ 'वने'—वो ✓वद् कामना करना से । अतः कामनाओं के वशीभूत होना, अनुकूल होना । देखो मन्त्रापीठ ।

९ अस्तु—✓अस् + लट् प्रथम पु० चटुवचन । अडागम का लोप है ।

१० एवम्—भाष्यकारों ने इस का अर्थ 'इस प्रकार' किया है । यह ✓इ जाना से बनता है । अतः गति, प्राप्ति और ज्ञान का चेतक हो कर 'इम प्रकार प्राप्त ज्ञान' अर्थ को प्रकाशित कर रहा है ।

सहितापाठ

पदपाठ

४३. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या-
होरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम-
न्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निपाणामुं
मंडपाण सर्वलोकं मे इपाण ॥
य० ३१।२२ ॥

श्रीः । च । ते । लक्ष्मीः । च ।
पत्न्यौ । अहोरात्रेऽदृश्यहःऽरात्रे ।
पार्श्वेऽदिति पार्श्वे । नक्षत्राणि ।
रूपम् । अन्विनौ । व्यात्तमिति
निऽआत्तम् । इष्णन् । इपाण ।
अमुम् । मे । इपाण । सर्वलोक-
मिति सर्वलोकम् । मे । इपाण ॥
य० ३१।२२ ॥

महीधरभाष्यम्—ऋषिरदित्यं स्तुत्वा प्रार्थयते । हे आदित्य, श्रीलक्ष्मीश्च
ते तव पत्न्यौ जायास्थानीये, त्वद्दृश्ये इत्यर्थः । यया सर्वजनाभ्रयणीयो
भवति सा श्री । श्रीयतेऽनया श्री सम्पदित्यर्थः । यया लक्ष्यते दृश्यते
ज्ञै सा लक्ष्मी । सौन्दर्यमित्यर्थः । अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्था
नीये । नक्षत्राणि गगनगास्तारास्तव रूपम् । तत्रैव तेजसा भासमानत्वात्—
“तेजसा गोलकं सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः” इति ज्योतिःशास्त्रोक्तेः । “अन्विनौ
द्यानापृथिव्यौ । इमे ह्रीदं सर्वमस्तुवाताम्” इति श्रुतेः । य ईदृशस्त त्वा याचे
इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन् । इपाणेच्छ । ‘इपु इच्छायाम्’ विकरणव्यायय ।
यद्वा ‘इय आमीदृष्ये’ कयादि । अनेच्छार्थः । निमेषणीय तत्राह । अमु पर

लोक मे ममेपाण मम परलोक समीचीनोऽस्तित्यतीच्छ । अमोघेच्छ
त्वादिष्ट भवतीत्यर्थ । सर्व मे ममेपाण सर्वलोकात्मकोऽह भवेयमित्यतीच्छे
त्यर्थ । मुक्तो भवेयमित्यर्थ । “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (आन्योग्योप० ३।१४।१)
इति सामश्रुत ॥

अ मन्महाधरकृत वदन्तप मनाहरे ।

नरमधाध्याय एष एकविंशोऽयमारित ॥

हिन्दा अनुवाद—[च] आर [श्री] गोभा [च] आर [लक्ष्मी]
मम्पन्नता [न] तुम्हारी [पत्न्यौ] शक्त्या (हैं) [जहोरात्रे] दिन आर रात
[पार्श्वे] परङ्गने वाला (अर्थात्—नाशक शक्त्या) (हैं), [मभिराणि]
न रत्न [रूपम्] तन (ह) [अभिराणि] आश्वदवता (तुलोक आर पृथ्वालोक)
[व्यात्तम्] प्रसार (हैं) । [इष्णम्] (स्थापन करने क) इच्छुः [इष्णम्]
(मर वल्याग) चाह । [मे] मर [अमुम्] उस (नाशकान परोप
मुत्) को [इष्णम्] ३ । [मे] मर [सर्वलोकम्] ममस्त प्रसाश [इष्णम्]
प्रदान कर ॥ २२ ॥

टिप्पणियाँ—१ पत्न्यौ—आम्र, वरुण आर का बो पहिया बताई गई हैं
वे उन की शक्तिया हैं । लोक म मी अनुभव किया जाता है कि अनुकूल पत्नी
सहायक, विनाशक शक्ति होती है ओर प्रतिकूल पत्नी हास, निराशा, अननति
आद लाने वाली शक्ति होती है । यह शब्द यज्ञयोग म पति शब्द से नह
लगा कर बनाया जाता है । अतः यहां यज्ञशाल परोपकाररत रत्न शक्त्या
भाव होता है ।

२ पार्श्वे—यह पद √ स्पृञ् छूना स बनता है । छूने—परङ्गने वाला,
विराट् डालने वाला, अतः नाशक शक्तिया ।

३ अभिराणि—ब्राह्मणग्रन्थों में इस का अर्थ बावापृथिवी भा दिया गया है ।
पाउ० म सू० ६१ में अभिराणि पर विचार देखें ।

४ व्यात्तम्—वि + आ + √ दा + क्त । विनाश रूप में चारों ओर स
ग्रहण करने वाला, अर्थात् सब ओर फैला हुआ, खुला हुआ ।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र,
 श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी के शिष्य, श्रीयुत डा०
 फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीरकुमार
 गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री
 प्रभाकर स्वर्णपदकी द्वारा सम्पादित,
 सकलित और रचित बेदलावण्य
 मे विष्णु, इन्द्र और पुरुष
 सूक्तों का शादिक

हिन्दी अनुवाद और सुरुशिनी टिप्पणिया समाप्त हुई ।



परिशिष्ट १

संहितापाठ से पदपाठ

पदपाठ का स्वरूप

१. पदपाठ को वेदमन्त्रों का व्याख्यान कहा जा सकता है। इस के रचयिता शाकल्य की एक दृष्टि है जिस के अनुसार व पदच्छेद करते हैं, इति आर अग्रह लगाते हैं। पदकार क अर्थों को जानना सम्भव नहीं है। वे अनुमान या विग्रह ही कहे जा सकते हैं। अत पिछले भाष्यकारों ने अनेक बार शाकल्य के पदच्छेद को खोकार न कर क अपना पदच्छेद दिया है^१। अनेक बार 'इति' और 'अग्रह' क प्रयोग में नियमों की उपेक्षा की जाती है^२। ऐसे कतिपय स्थलों पर एक से अधिक पदच्छेद सम्भव हैं, यथा 'चन्द्रमा'^३। शाकल्य क अतिरिक्त राजग आर दयानन्द स्वामी क भी पदपाठ मिलते हैं।

संहितापाठ से पदपाठ लिखना

२. संहिता पदों से बनता है—पदमङ्गलि संहिता अत पदों का ज्ञान परम आवश्यक है। इसी निमित्त पदपाठ किया जाता है। संहितापाठ में एक अर्धचँ में सब पद एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उन का एक दूसरे पर प्रभाव रहता है। उन में सन्धि क कारण स्वर ओर रूप में परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ में इन सब पारस्परिक प्रभावों को दूर कर दिया जाता है। प्रत्येक पद को स्वतन्त्र रूप में दूसरे पदों से पृथक् पूरा विराम लगा कर अथवा पूर्ण विराम के बिना ही दिखाया जाता है।

१ वेभाष० ९। ४-७, २९। ४, ६-२५ और उन में निर्दिष्ट परिशिष्ट।

२ वही, ९। १२-१६।

३ मस०-३४ में इस पद पर टिप्पणी देखें।

पारस्परिक प्रभाव से उत्तम स्वरों के परिवर्तन को दूर कर दिया जाता है, प्रत्यक्षों के आगे 'इति' लगा दी जाती है और समासों, प्रकृति-प्रत्यय और उपसर्गों और क्रियाओं आदि के वृत्तिपथ स्थलों पर अवग्रह (ऽ) लगा दिया जाता है।

३. उदाहरण के लिए—

१. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि । (अ० २ । १२ । ४)

२. श्रुग्नीच यो जिग्गीवाँ लक्ष्मादत् । (अ० २ । १२ । ४)

३. यं चन्दसी संवती विह्वयेते । (अ० २ । १२ । ८)

इन तीन मन्त्रभागों को लें। इन का पदपाठ इस प्रकार है—

१. येन । इमा । विश्वा । च्यवना कृतानि ।

२. श्रुग्नी ऽ इव । यः । जिग्गीवान् । लक्ष्म् । आदत् ।

३. यम् । चन्दसी इति । संवती इति । समुऽप्यती । विह्वयेते इति । विऽह्वयेते ।

४. इन में ये परिवर्तन किए गए हैं—

(१) 'येनेमा' में सन्धिच्छेद किया गया है। सन्धि के कारण यहां दो अनुदात्त वर्ग मिल गये थे। उन में से एक 'ये' उदात्त पहले आने के कारण स्वरित हो गया। अन्य पदों को भी पूर्णविराम लगा कर पृथक् कर दिया है। संहिता में 'श्वा' अनुदात्त दो उदात्तों के बीच में आने से स्वरित नहीं हुआ है। पदपाठ में अगला 'च्य' उदात्त नामने नहीं रहता है। अतः 'वि' उदात्त के कारण पदपाठ में यह 'श्वा' स्वरित के रूप में लिखा गया है।

(२) इस में पदों को पृथक् करते हुए श्रुग्नी और इव के बीच में अवग्रह लगाया है। इस में तथा जिग्गीवाँ लक्ष्म् में सन्धि छिन्न कर दी गई है। ग्रीव में सन्धि से उदात्त और अनुदात्त मिल कर एक उदात्त हो गया था। अब वे पृथक् हो गए—(ई + इ = ई ई) श्रुग्नीऽइव । अतः 'इ' स्वरित हो गई है। संहिता में 'यो' उदात्त के कारण 'जि' अनुदात्त स्वरित हो गया था। पदपाठ में दोनों के पृथक् हो जाने से 'जि' अपने मूल अनुदात्त रूप में दिखाया गया है।

(३) इस में पदों को पृथक् करने के साथ-साथ द्विवचन के ई और ए के पश्चात् 'इति' लगाई है, तथा उस के पश्चात् पद को आनुष कर के अवग्रह

लगाया गया है। स्वर में ये परिवर्तन किए गए हैं—‘मी’ संहिता में स्वरित ‘न्द’ के पश्चात् आने से अचिह्नित था, पदपाठ में ‘इति’ का ‘इ’ उदात्त सामने आने से अपने चिह्न से चिह्नित कर दिया गया है। संहिता में ‘सम्’ अनुदात्त ‘न्द’ स्वरित के पश्चात् आने से अचिह्नित था। पदपाठ में यह प्रभाव दूर हो जाने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है।

पदपाठ लिखने के नियम

५. (१) संहिता पाठ की सन्धिया तोड़ते हुए प्रत्येक पद के आगे पूर्ण विराम लगा-लगा कर उन्हें स्वर के चिह्नों के बिना पृथक् पृथक् लिख लो। साथ ही जहाँ-जहाँ संहिता में दीर्घ हुआ है, वहाँ-वहाँ उसे ह्रस्व कर दो—जैसै, यं स्माँ = यम् । स्म ।

(२) इति और अवग्रह लगाने के आगे लिखे स्थलों पर इति और अवग्रह लगा दो।

(३) जिस पद में इति और अवग्रह दोनों को लगाने की आवश्यकता हो उस में पहले इति लगा दो, फिर उसे पुनः लिख कर अवग्रह लगा दो (ऊपर उदाहरण सख्या ३ देखो)।

(४) कुछ और अन्य स्थलों में भी इति लगा कर पद को पुनः लिखा जाता है। जैसे अकुरित्यक (ऋ० २।१२।४) ऐसे स्थलों पर भी पद को पुनः लिख लो। इस संग्रह में ऐसा स्थल केवल यही है।

(५.) सत्र से पहले अपनी लगाई ‘इति’ पर स्वर का चिह्न लगाई जो ‘इति’ है।

(६.) अब प्रत्येक पद में स्वर लगाई। उस में ये बातें ध्यान में रखते—

(i) पहले पद के उदात्त के कारण अगले पद में यदि स्वरित हुआ है तो स्वरित को अनुदात्त कर दो—यो जिगीवान् = यः । जिगीवान् ।

१. कई बार इस प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं की जाती है।

(ii) पहले पद के स्वरित वर्ण के कारण यदि आगे के पद का अनुदात्त पद अचिह्नित हो तो उसे अनुदात्त चिह्न से चिह्नित कर दो—**अन्द्सी संयती = अन्द्सी इति । संयती० । सधस्यं विचक्रमाणः = सध ५ स्यम् । वि ५ चक्रमाणः ।**

(iii) पहले पद में उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त यदि अगले पद के उदात्त के कारण स्वरित न हो कर अनुदात्त ही हो तो पत्रपाठ में उसे स्वरित कर दो—**यत्र गात्रो मूरिर्गंगाः = यत्र । गात्रः । मूरिः ५ गंगाः ।**

(iv) दो उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों की सन्धि में स्वर का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

(अ) उदात्त + उदात्त = उदात्त । सः + इति = सेति । वृत्वा + अति = वृत्वाति । महिमा + अणः = महिमर्णः ।

(आ) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त । परि + अमूयन् = पर्यमूयन् । अस्ति + इति = अस्तीति ।

(इ) स्वरित + उदात्त = उदात्त । पुद्गलि + अक्षीयमाना = पुद्गम्यक्षीयमाना । गुहा + अर्क = गुहाकः । अत्र + अह = अत्राह ।

(ई) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । वि + अक्षमन् = व्यक्षमन् । वि + अक्षपयन् = व्यक्षपयन् । आश्रणः + अस्व = आशरणोऽस्य ।

(उ) उदात्त अ या आ + अनुदात्त स्वर = उदात्त । श्रेष्ठा + उद्गायः = श्रेष्ठोद्गायः । उतर्द्धम् = उतम् ।

(ऊ) अनुदात्त + अनुदात्त = अनुदात्त । वास्तूनि + उस्मि = वास्तून्मुस्मि ॥ स्वरित पद मूलतः अनुदात्त ही होता है । अतः स्वरित + अनुदात्त = स्वरित होगा ।

अस्तीति + एनुम् = अस्तीत्येनुम् । किल + अस्मि = किलोस्मि ।

॥ स्वरित के पश्चात् आने के कारण न्यु, इम और सि अनुदात्त अचिह्नित हैं ।

यदि इस प्रकार के स्वरित के पश्चात् कोई उदात्त आया हो तो यह स्वरित न रह कर अनुदात्त हो जायगा—

येन + इमा = येनेमा । यस्य + उरुषु = यस्योरुषु ।

(४) उदात्त को पहचानने की रीति—ऋग्वेद में उदात्त आचक्षित रहता है । सामान्यत एव पद में एक ही उदात्त होता है । स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त भी अचक्षित रहते हैं । अतः पहले स्वरितों को देख कर उन के पश्चात् आने वाले पदों को अनुदात्त मान लो । जो आचक्षित पद दोष वचन सब उदात्त होंगे । जिस स्वरित के आगे १ या ३ का अक्ष हो उस से अगला अचक्षित अक्षर भी उदात्त होता है ।

(४I) स्वरों के चिह्न लगात समय स्वर के सामान्य नियम—[(१) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । (२) उदात्त + अनुदात्त + उदात्त = ऐसे ही । (३) स्वरित + अनुदात्त = स्वरित + आचक्षित वर्ण] का प्रयोग कर ।

(४II) 'इति' के पश्चात् आवृत्त पद में उन का मूल स्वर ही लगाए, अर्थात् 'इति' के स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्तों को भी चिह्नित करें—सुयसी इति सुयसी ।

(४III) 'इति' लगाने पर पद के अन्तिम वर्ण पर इन 'इति' के 'इ' उदात्त का प्रभाव पड़ता है । उसे व्यक्त करें । (१) क्रन्दसी इति । विद्वयेत् इति० । यहा 'सी' और 'ते' का अनुदात्त के चिह्न से चिह्नित किया गया है । (२) अकुरित्यक । यहा पहले 'क' को स्वरित नहा दिया गया है ।

(IX) जिन पदों में अवग्रह लगाया जाता है उन में सन्धि तोड़ दी जाती है । जैसे गिरिऽस्था ।

(X) वाच्य सन्धि के कारण उत्पन्न मूधन्य ण् और ण् को क्रमशः दन्त्य सू और न् में बदल दे । यथा मो णु वरुण = मोइति । मु । वरुण (ऋ० ७।८१।१) ॥

पदपाठ में इति लगाने के नियम

६. प्रगुह सज्ञको के आगे इति—

(१) द्विवचन के ई, ऊ आर ए के पश्चात् इति लगाई जाती है । जैसे क्रन्दसी इति । ऊरु इति । उच्येते इति ।

(२) 'उ' निपात के आगे 'इति' लगाई जाती है । इसे साननासिक् ओर दार्घ्य मी कर लिया जाता है—ऊँ इति ।*

(३) ओदन्त निपातों क आगे 'इति' का प्रयोग किया जाता है—अयो इति ।

(४) जिन पदों क अन्त में सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त ई और ऊ आए हों उन के आगे भी 'इति' लगाई जाता है—सुरसी इति । शयानम् । (ऋ० ७।१०।३।२) ।

(५) एकसन्त अस्मे, युष्म आदि क आगे 'इति' लगाई जाती है—अस्मे इति । (ऋ० १।९।७) । युष्मे इति । (ऋ० ४।१०।८) ।

(६) ओन्मासत सम्बोधनों के आगे 'इति' लगाई जाता है—इन्द्रो इति । (ऋ० १।४३।८) ।

७ अन्य पदों के आगे इति—

(७) यदि पद क अन्त म 'रू' को विसर्ग बन हों आर साहता में उन क आगे किसी वर्ण क आन से संधि स 'रू' न हुआ हो तो पदपाठ म इन विसर्गों क आगे इति लगा कर विसर्गों को 'रू' कर दिया जाता है ।—अन्तरिति (ऋ० १।६२।९) । पुनरिति (मस० २५) । परन्तु तु० क० अन्तराग्निम् = अन्त । अग्निम् । । यहा पर संहिता में ही विसर्गों को 'रू' हो गया है । अतः पदपाठ में इति नहा लगाई गई है ।

८ अवग्रह लगाने के नियम

१ यदि पूर्व पद म कोई विकार न हुआ हो तो दो पदों क समास वाले पद क पूर्व पद और उत्तर पद क बीच में अवग्रह लगाया जाता है । जैसे गिरिऽस्था । भूरिऽश्वहा । सधऽश्वम् । बुधऽग्राह्य । परन्तु तु०—क०—उभयादित् ।

२ द्वन्द्व समासों को अवग्रहीत नहा किया जाता है । जैसे साक्षिनाम्नये इति । अनाथय ।

३ 'इव' को उस से पहले आने वाले पद से अवग्रहीत किया जाता है । —घन्तीऽइव । विर्नऽइव ।

* कुछ संस्करणों में ऊँ इति, ऊम् इति लिखा मिलता है । पा० १।१।

१८—ऊँ देखें ।

४ उपसर्गो को सज्ञाओं और कृदन्त पदों से अवगृहीत किया जाता है ।
वि॒ऽकर्म॑णेषु । प्र॒ऽस्य॑तम् । प्र॒ऽ कु॑पितान् । अ॒प॒ऽधा । स॒म्ऽवृ॑क् । सु॒ऽ शि॑प् ।
प्र॒ऽ दि॑शि । आ॒ऽरोह॑न्तम् नि॒ऽचित् । वि॒ऽराट् । स॒म्ऽभृ॑तम् । प॒रि॒ऽ ध॑य ।
स॒म्ऽ इ॑ध ।

५ प्रधान वाक्य में उपसर्ग को क्रियाओं से पृथक् रखा जाता है—अति ।
अ॒नि॒ष्ट॒त् (म॒म० २२) । वि॒ । अ॒क्रा॒म॒न् (म॒स० २५) । अति । अ॒रि॒च्य॒त्
(म॒म०-२६) ।

६. आभित (या गौण) वाक्यों में उपसर्गों को क्रियाओं से अवगृहीत किया जाता है । —वि॒ऽ मु॑मे (म॒स० १) । अ॒धि॒ऽ क्षि॑यन्ति (म॒स० २)
प॒रि॒ऽ अ॒भूष॑न् (म॒म० ७) । उ॒त्ऽ आ॑र्षत् (म॒स० ९) । अ॒ति॒ऽ रो॑हति
(म॒स० २६) । परन्तु वि॒ । अव॑धु (म॒स० ३२) में अवगृहीत नहीं है । इस पर गिप्पणी देखे ।

७ अवग्रह क स्थलों पर एक से अधिक उपसर्ग इकट्ठे आ जाएँ तो प्रथम या अन्तिम उपसर्ग को ही अवगृहीत किया जाता है । सु॒प्त्ऽ अ॒व्य॑म् (ऋ० १ । ६० । १) । उ॒प॒ऽ प्र॑चन्त (ऋ० १ । ७४ । १) ।

८. यदि प्रकृति में कोई विचार न हुआ हो तो मु, भ्याम्, भिम्, भ्यस्, इमु, त्, तरप्, तमप्, मत् और यत् आदि प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है । —
उ॒त्ऽतर॑म् । त्रि॒ऽभि॑ (परन्तु तु० क० प॒देभि॑ । स॒मन्ऽसु॑ । आ॒त॒स्थि॒
ऽवा॒सा । परन्तु तुवि॒ष्मन् । अ॒मृत॑ऽत्वत् । पु॒न॒ऽभ्या॑म् ।

९. अकारान्त नामधातुओं के अ को दीर्घ हो जाने पर भी 'य' और 'यु' प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है—दे॒वऽय॑व ।

१०. जहाँ उपसर्ग और प्रत्यय दोनों में अवग्रह प्राप्त है वहाँ सामान्यतः प्रत्यय को ही अवगृहीत किया जाता है । आ॒त॒स्थि॒ऽवा॒सा ।

११. अवग्रह लगाने के सामान्य नियम ऊपर दिए गए हैं । अनेक बार इन के अपवाद भी मिलते हैं । यथा कुचुर (म॒स० २) । वि॒ष्व॑द् (म॒स० २५) । चन्द्र॑मा (म॒स० ३४) ।

१२. एक पद में एक से अधिक अवग्रह नष्ट लगाया जाता है । (देखो ऊपर नियम ७, १०) ।

परिशिष्ट २

वैदिक स्वर

(कोष्ठकों में इस समूह के मन्त्रों की क्रमसंख्या दी है ।)

१. मूल वेदसंहिताओं, शाखासंहिताओं और ब्राह्मणों में स्वराकन की चार रीतियाँ प्रचलित हैं । यहाँ फल ऋग्वेद में स्वराकन की रीति पर सामान्य प्रकाश डाला जाता है ॥३॥

२ ऋग्वेद में तान स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । उच्च ध्वनि से बोले जाने वाला स्वर उदात्त होता है—(उर्ध्वोदात्त —पा०) । नीची ध्वनि में बोले जाने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है—(नीचोऽनुदात्त —पा०) । जिस स्वर पर उदात्त और अनुदात्त का क्रम से उच्चारण बन्धित हो जाए वह स्वरित होता है । (समाहार स्वरित —पा०) । इस में उच्चारण ऊँचा चढ़ कर नाचे उतरता है । इस प्रकार उदात्त में आश्रय (गात्रों को ऊपर की ओर रचना), अनुदात्त में विश्रम्भ (गात्रों का शिथिलता) और स्वरित में आक्षेप (गात्रों का त्रिभू गमन) होता है । वैदिक स्वर सगीतात्मक हैं, लौकिक भाषात्मक । तीनों ही स्वर अच् युष् च्वञ्जुन या अच् पर ही रह सकते हैं । एफ वर्ण पर एक ही स्वर रहता है ।

३ ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है । अनुदात्त के नाचे पङ्कट रेखा (—) और स्वरित के ऊपर एफ रखी गयी (।) लगाई जाती है ।

स्वर के उपयोगी नियम

४ सामान्यतः एक पद में एक ही उदात्त स्वर रहता है—(तु क —अनुदात्तं पदमेकवर्जम्—पा०) ।

॥३ अन्य स्वराकन रीतियों के लिए देखो बुधिशिर मीमांसक—वैदिक स्वर मीमांसा और वैयास० ।

५. कुछ देवताद्वन्द्व समासों आदि में दोनों पदों में अपने-अपने स्थान पर उदात्त स्वर बना रहता है। जैसे—मित्रावरुणौ । इन्द्रावृहस्पतौ । वृहस्पति । एतच्चै ।

६ उदात्त के तुरन्त पश्चात् आने वाले अनुदात्त स्वरित हो जाता है।— (उदात्तादनुदात्तस्य मग्नित्वात् । पा०) जैसे—भूस्थिगा (६) । युक्त्वाग्नि (१२) । यहाँ भू और क्त उदात्तों के पश्चात् रि और ग्रा अनुदात्तों की स्वरित हो गया है ।

७. यदि उदात्त के पश्चात् आने के कारण स्वरित रने हुए अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् उदात्त या स्वरित आ जाए तो स्वरित न रह कर वह अगर अनुदात्त ही रहता है। अतः दो उदात्तों के मध्य में अथवा उदात्त या स्वरित में पूर्ण आये हुए अनुदात्त में कोई विराम नही आता है। जैसे—य सुन्वन्तु मवन्ति य पचन्तम् (१०) में 'सु' 'न्तु' और 'ति' (—स्वरित और उदात्त के बीच में स्थित) की स्थिति है ।

८. स्वरित के तुरन्त पश्चात् आने वाले सर अनुदात्त अचिह्नित रहते हैं। परन्तु जब ऐसे अचिह्नित किसी अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त या स्वरित आ जाए तो वह अनुदात्त अपने चिह्न से चिह्नित हो जाता है। ऐसे अचिह्नित अनुदात्तों को एक श्रुति या प्रचय ऋते हैं। जैसे—यार्वा चिदस्मै पृथिवी में 'वा' स्वरित के पश्चात् आने वाले चि, द, स्मै और पृ अनुदात्त अचिह्नित हैं। परन्तु 'धि' अनुदात्त के आगे 'वी' उदात्त आने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है ।

स्वतन्त्र स्वरित

९. कहीं-कहाँ ऐसा भी देखने में आता है कि उदात्त के पहले आए बिना ही अनुदात्त स्वरित बन जाता है। इस प्रकार के स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है। जैसे—वीर्ये णि (१) । वीर्येण (२) । राजन्ये (३३) ।

१० जिन स्थलों में वह स्वरित मिलता है उन में ऋषा पादपृति के लिए सन्धिच्छेद कर के अक्षर की संख्या बढ़ाई जाती है। इस सन्धिच्छेद में पहला

अक्षर उदात्त और दूसरा अक्षर अनुदात्त पाया जाता है। इस प्रकार इन स्थलों में मूलतः सामान्य स्वरित ही होता है, सन्धि के कारण ही स्वतन्त्र स्वरित का रूप लक्षित होता है। ऊपर के तीनों उदाहरणों को पादपूर्ति के लिए वीरि अंजि, वीरि गुण और रात्रिनि अ पढ़ा जाता है।

११ कई बार सहितापाठ में सन्धि के कारण स्वतन्त्र स्वरित का रूप दिखाई पड़ता है। पदपाठ में सन्धिच्छेद हो कर पदों के अलग हो जाने से वह समाप्त हो जाता है। यथा ग्राह्यणां ऽस्य (३३)। पदपाठ—ग्राह्य_ण । अ_स्य ।

१२. जब स्वतन्त्र स्वरित के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त आ जाए तो स्वतन्त्र स्वारत के ह्रस्व होने पर उस के आगे १ का अंक लिख कर उस के ऊपर स्वरित का और नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है, स्वतन्त्र स्वरित स्वयं अचिह्नित रहता है। जैसे—व्य १ स्मत् । वृष्य २ मभ । स्व १ जन्मन्ती ।

१३ जब स्वतन्त्र स्वरित दीर्घ हो आए उस के तुरन्त आगे उदात्त आ जाए तो इस के आगे ऊपर स्वारत के आगे नीचे अनुदात्त के चिह्न स युक्त ३ का अंक लिखा जाता है और स्वतन्त्र स्वरित के अपने नीचे अनुदात्त का चिह्न होता है। जैसे—बवे ३ दानाम् । वृष्य ३ न । वृष्या ३ अह ।

१४ कुछ पदों 'स्व' आदि में नित्य स्वतन्त्र प्रकृति है।

१५ प्रातिशाख्य ने इस के कई रूप माने हैं और उन के जात्य, अभिनिहित, प्रकृति और क्षेत्र नाम दिए हैं। इन सब भेदों का प्रयत्न एक में ही हो जाता है।

नित्य निघात (= अनुदात्त) पद

१६ इव, उ, चिन्, स्म, स्थि, ह, घ, च आदि का प्रपाठ (२) कुछ एकाच् व्यक्तीवाचक सर्वनाम, मे, त आदि और (३) निर्देशन सर्वनाम एन तथा इम्, स्त्रीम्, तथा (४) अनिश्चयामक सर्वनाम 'स्व' और 'सुम्' आदि सब अनुदात्त रहते हैं।

उदात्त का अभाव

१७ कुछ अवस्थाओं में सम्बोधनों और क्रियापदों आदि में उदात्त स्वर का सर्वथा अभाव हो जाता है और वे षूणतया निष्ठात (= अनुदात्त) ही रहते हैं। ऐसे स्थलों का विवरण नीचे दिया जाता है।

१८ निर्देशक सर्वनाम इदम् क आदेश 'अ' क रूप जब किसी सहा क लिए प्रयुक्त हुए हो और उन का अर्थ गौण हो तब वे निष्ठात हो जाते हैं। जैसे—अस्य जनिमान।

सम्बोधन पदों का स्वर

१९ सम्बोधन पद, चाहे एक पद का हो, चाहे कई पदों का यदि वाक्य के प्रारम्भ में आया हो तो उस का प्रथम वर्ण उदात्त होता है, शेष अनुदात्त। जैसे—पूषन्नो प्र गा इहि मे पूर्षन्। वास्तोष्पन् प्रति जानीहृस्मान् मे वास्तोष्पते। इन्द्रावरुणा वृधनाभिरप्रति मे इन्द्रावरुणा। उप आ भाहि भानुना मे उप पत्।

२० परन्तु यदि सम्बोधन वाक्य क मध्य में अन्य पदों के पश्चात् आया हो तो वह निष्ठात (= उदात्त स्वर से हीन) हो जाता है। यथा म जनास इन्द्र मे जन्ताम। मरुद्भिरग्न आ गहि मे 'अग्ने'।

क्रियापदों का स्वर

२१ यदि वाक्य क मध्य में आई हो तो प्रधान वाक्य का क्रिया निष्ठात (उदात्त स्वर से हीन) होती है। जैसे—विष्णोर्नु क वीचाणि ॥ वाचम् (१) म वोचम्। प्र तद् विष्णु स्तवते (२)। प्र विष्णवे शूषम् एतु (३)। अग्नि पाथो अश्याम् (५)। आदि।

२२ प्रधान वाक्य की क्रिया यदि वाक्य क प्रारम्भ में आई हो तो वह उदात्त स्वर से युक्त होती है। यथा—वेद् मासो धुनवतो मे 'वेद्'। अभूद्व सविता चन्द्रो नु न मे 'अभूत्'। अर्वापर्वपमुद पू गृभाय मे 'अवपां'। अकर्धन्वानि मे 'अर्क'।

२३. क्यों कि सम्प्रोपनपद वाक्य में नहीं गिना जाता है, अतः यदि प्रधान वाक्य की क्रिया ऐसे सम्प्रोपन के पश्चात् आई हो तो वह वाक्य के प्रारम्भ में आई हुई मानी जायगी और उदात्त स्तर से युक्त होगी। जैसे—आध्वर्युर्गर्ण ध्रुधि हव्यम् । 'हे मुनते वाले कानों वाले' हमारी पुकार मुनी' । वृहस्पते रक्षता दध्यु योनिम् । 'हे बृहस्पति' हम के घर की रक्षा करो' । इन में ध्रुधि और रक्षतान् उदात्त स्तर से युक्त ही गए हैं।

२४. एक वाक्य में एक ही क्रिया हो सकती है। अतः जब पहली क्रिया के समान एक ही कर्ता से सम्बद्ध एक से अधिक क्रियाएँ एक वाक्य में आ जायें तो प्रत्येक क्रिया नए वाक्य के प्रारम्भ में आई हुई मानी जाती है और इस कारण उन में उदात्त स्तर होता है। जैसे—अपार्मिर्विं वाधते वेति सूर्यम् में 'वेति' क्रिया। सुरगिरिर्जयाति ह्येति पुण्यति 'सफल यह जातता है, सासन करता है और पुष्ट होता है' में वेति और पुण्यति क्रियाएँ।

२५. यत्, या, इस् के रूपों, च, हि, चेत्, नेत् निपातों से प्रारम्भ होने वाले आश्रित वाक्यों की क्रिया में उदात्त स्तर रहता है। जैसे—यो विंममे (१)। यो अस्क्भावत् (२)। यस्य ... अविश्रियन्ति भुर्नानि विधा (३)। यो दानस्तन्मात् (४)। यो गा इदार्जदपूधा (५)।

२६. जब दो प्रधान वाक्य प्रतिपक्षी हों तो प्रथम को आश्रित वाक्य के समान समझा जाता है और उस की क्रिया उदात्त स्तर से युक्त होती है। जैसे—अथ स्विदासीद्दुपरि स्विदासीद् 'क्या नीचे या अथवा ऊपर या'। इन में दोनों वाक्य प्रतिपक्षी हैं। अतः पहले वाक्य को गौण मान कर 'आसी ३ स्' में 'सी' उदात्त है।

उपमर्गों का स्तर

२७. प्रधान वाक्यों में उपमर्ग की क्रिया से पृथक् रक्ता जाता है और वह उदात्त स्तर से युक्त होता है। जैसे—अ वद् विष्णुः स्ववते (१) और अग्नि पापों जडयाम् (५) में अ और अग्नि की पृथक् क्रिया गया है।

२८. आश्रित वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया के साथ समस्त माना जाता है और वह निघात हो जाता है। इस लिए पदपाठ में उसे अवग्रहीत करते हैं जैसे—यो देवान् ननुना पर्यभूषत् (७)। यो गा उदाजदपथा वलस्य (९)। यस्योरपु त्रिपु विज्रमणेप्यधिक्षियन्ति सुर्वनानि विश्वा (२)।

समासों का स्वर

२९. आग्नेडित (पुनरुक्त) पदों के समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अहरह । यथायथा । प्रप्र । इन को पदपाठ में अवग्रहीत किया जाता है ।

३०. बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—विश्वतो-मुखः । भूरिश्रगा (६)। युक्तर्माग्ण , सुतमोमस्य (१२)। नहुत से बहुव्रीहि समासों में उदात्त स्वर अन्तिम पद में होता है, विशेषतः जब पूर्वपद बहु, पुरु, नञ् (अ या अन्) और सु हो। जैसे—सुशिप्र (१२)। बुरुगापार्य (१)। उरुक्रमस्य (५)। कुचर. (२)।

३१. कमधारय में अन्तिम पद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—प्रथमजा प्रातुर्युज् । महाधन । परन्तु जब पूर्वपद नञ् में (अ या अन्) हो तो उदात्त पूर्वपद में होता है। जैसे—अनग्निदग्धा । अनश्वादा ।

३२. तत्पुरुषों में उत्तरपद में अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—गोश्र-भिद् । भद्र वादिन् । उदुमेघ । परन्तु षष्ठ्यन्त पूर्वपद वाले समासों में दोनों पदों में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—बृहस्पतिः । अषा नपात् । शुन शेष. ।

३३. द्वन्द्व समासों में समास करने पर बने प्रातिपदिक का अन्तम स्वर उदात्त होता है। जैसे—अज्जावय. (३१)। यहा अज्जावि प्रातिपदिक है)। सारात्तान्शने (२५)।

३४. देवताद्वन्द्व समासों के दोनों पदों में उदात्त स्वर होता है। जैसे—इन्द्रावरणा । सूर्यमाया । आगा. पृथिवी (१३)। इस पद में दोनों भागों को पृथक्-पृथक् प्रयुक्त किया गया है। इन के बीच में 'चिदम्मे' पद भी आ गए हैं।

परिशिष्ट ३

वैदिक व्याकरण

वर्णमाला

१. ऋग्वेद में ये सभी स्वर और व्यञ्जन तथा उन की ध्वनिया मिलते हैं जो लौकिक मनुष्य में पाए जाते हैं। ऋग्वेदशास्त्र के अनुसार तीन स्थानों—अथ स्विश्रामो ३ व, उपरि स्विश्रामो ३ व और भीतिव विन्दती ३—में ही स्वर का उच्चारण होता है।

२. इस के अतिरिक्त ऋग्वेद में दो और व्यञ्जन—ळ और ञह—का प्रचुर प्रयोग किया गया है। ये न्यूनतम वर्ण नहीं माने जा सकते क्योंकि वे एक ही वर्ण में दो स्वरों के बीच में आने पर दूनों ञ और ढ को ञह हो जाता है।

‘पदमध्यस्थद्वकारस्य ञकार व्यङ्ग्यो जगु ।

पदमध्यस्थद्वकारस्य ञकार उङ्ग्यो जगु ॥

यथा सत्माद्विराजयत में आ और अ के बीच में आने से ढ की ञ और ञह में ञ और आ के बीच में आने से ‘दू’ को ‘ढ’ हो गया है।

३. सन्धि—ऋग्वेद में लौकिक सन्धि के लगभग सभी अंश प्रयोग में आते हैं। कुछ नियम नए भी हैं।

५. स्वरसन्धि—कई बार एक ही पद में या समास के निमित्त पद में, अथवा एक वाक्य के निमित्त पदों में सन्धि का अभाव पाया जाता है। इन में पदान्त ‘ए’ और ‘आ’ के पश्चात् ‘अ’ का पूर्ण रूप रहता है। (तु. न. प्रवृत्तान्त पाठमन्त्रपरि—पा०) । यथा—यो अस्त्वजायत् (१) ।

६. इस मन्त्र में पूर्वरूप वाली सन्धिया ये मिलती हैं—याऽविता (१२)। परेऽर्वरे (१४)। पादोऽस्य (२४)। द्याऽङ्गोऽस्य (२३)। ऐसी सन्धियों को अर्वाचीनता का चोटक माना जाता है। परन्तु वसमण्डलो में भी ये पर्याप्त मिलती हैं।

पाथा अद्याम् (५) । यो अन्तरिक्षम् (८) । नपो अस्ति (११) । सो अर्य
(११) । निरात्रो अधि (२६) । † सूरिबस्य । सु अधिबस्य । वरणस्य जग्ने ।
अभि ण्ति ।

* इतिकरण क जो स्थल पूर्व परिशिष्ट म दिखाए गए हैं वहां सन्धि नहा
होती है । 'अ' आर उ—निपात की सन्धि से उत्पन्न 'ओ' की भा सन्धि नहा
का जाता है, जैसे अथो (अथ + उ), मो (मा + उ) आदि ।

६ व्यञ्जनसन्धि—पदान्त आन् को औ हो जाता है । यथा—होर्वा
अकृत्ययन् (३५) निगीर्वा लक्षम् (१०) । प्रकुपितो अरम्भात् (८) । परन्तु लेट्
कार प्रथम पुरुष बहुवचन म 'आन्' म कोई परिवर्तन नहीं होता है, यथा
आ गच्छान् उत्तरा युगाणि । इसी प्रकार पदान्त इन्, ऊन् आर ऋन् का ईर्
ऊर आर ऋर् हो जाता है, जैसे—रुस्मिरेव । इस नियम का अपवाद भा
मिलता है । यथा—एताव्रानस्य (२४) । † दर्धानां अमन्यमानाञ्छर्वा (१९) ।

७ याह्यसन्धि—इ श्चर अन्त सन्धि म लागू होने वाले नियम नाह्य
सान्ध म भा लगाए जात हैं । यथा—मो पु वरण । इस म 'मु' को 'पु' मो क
कारण हुआ है ।

८ लोप होने पर सन्धि—कई जार पाठपूर्ति न लिए लोप हो जात
पर भा साध मिलता है । जैसे—य स्मा पुच्छन्ति कुट्ट सेति घोरम् (११) म
सेति (स + इति) म त्रिमूर्ति का लोप हो जाने पर भा सन्धि की गई है ।

शब्दरूप

१ वैदिक भाषा लाटिक भाषा का अपना शब्दरूप म आधार समृद्ध है ।
वहा लैटिन भाषा म प्रयुक्त विभक्ति प्रत्ययों न अतिरिक्त आर भा विभक्ति
प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार मे उद्धा लाटिक भाषा क एत रूप न

† इन दोनों उदाहरणों की स्वतन्त्र भत्ता नहीं है । पाठपूर्ति के लिए
सन्धिच्छेद पर ये रूप होते हैं । ये उदाहरण डा० मकडोवेल ने दिये हैं ।

‡ मे०—दो पादों के बीच में 'आन्' की सन्धि नहीं होती है । पाणिनि
भी ऐसा ही मानते हैं । तु० क० दीर्घादनि समानपादे । जानोऽपि नियम् ।

स्थान पर दो या अधिक रूपों का प्रयोग पाया जाता है। इन अतिरिक्त रूपों का मा उक्त विवरण आगे दिया जाता है।

एकवचन

१०. तृतीया विभक्ति—अकारान्त पदों में 'आ' का प्रयोग भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दों में भी 'आ' मिलता है। यथा—युद्ध के युद्धेन और युद्धा। मनीषा के मनीषया और मनीषा।

११. पुन का 'अ' मा बहुधा दीर्घ पाया जाता है—एना। श्रुत्वे में पुनैर् रूप उपलब्ध नहीं होता है।

१२. कभी कभी इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एक वचन का रूप 'ई'—अन्त वाले भी होते हैं। यथा—क्षमा के क्षमाई और क्षमी।

१३. महिमन् का एक रूप 'मिहा' (७) भी होता है।

१४. चतुर्था—कभी कभी इकारान्त स्त्रीलिंग पदों का रूप 'इ' अन्त वाले होते हैं—कृति का कृती (२०) †।

१५. पञ्चमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों का रूप 'आ' अन्त वाले भा होता है—अपुषा (९)—'गाडे स'।

१६. ऋषि का रूप 'चक्षा' (३४) भी एक बार आया है।

१७. षष्ठी—पुङ्लिंग इकारान्त और नपुंसक लिंग उकारान्त पदों का रूप 'अस्' से भी बनते हैं। यथा—मधु का मध्व (५) और अरि का अर्य (४)।

१८. सप्तमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' में भी मिलते हैं। यथा—गुहा से गुहा (३०)। इकारान्त पदों का सप्तमी एक वचन में 'आ' का साथ साथ 'आ' और 'इ' का भी प्रयोग पाया जाता है, यथा अग्नी—अग्ना (अग्नि म) वेदा (वत्ति में)।

१९. 'अन्' अन्त वाले पदों की 'इ' का बहुधा लक्ष हो जाता है—परमे व्यामन्। क्षमन् और क्षमणि। मल्लन् और मल्लणि। इन पदों में उपधा

† इसे तृतीया का रूप भी माना गया है। सा० ने चतुर्था का माना है।

न 'अ' का लोप कभी नहीं होता है । अतः कवल अहनि, राजनि ही मिलते हैं, अहि और राज नहीं पाए जाते ।

२० अथ पदो म भी विभक्ति त्वह का अभाव देखा जाता है । यथा—
विश्वह (२१)—'मम गिनो म' ।

२१ सम्बोधन—मत्, वत् आर वस् प्रत्ययान्त पदों के सम्बोधन में 'अस्' आता है (तु० क० मनुसो व सम्बुद्धा छन्ति । पा० ।)—भानुमत् से भानुम (प्रथमा में—भानुमान्), हरिवत् से हरिव (प्रथमा में हरिवान्), चक्रवत् से चक्रव (प्रथमा में चक्रवान्) ।

द्विवचन

२२ 'आ' की अपक्षा प्रथमा आर द्वितीया क द्विवचन में 'आ' का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है—आतुस्थिवासा (१४)—'बैठे हुए दो जन' । अश्विना—'दो अश्विन् देव' । द्यावा (१३)—'दो सुलोक' । राजाना—'दो राजा' । द्वारा—'दो द्वार' । नद्या 'दो नदिया' ।

२३ ईश्वरान्त आलिङ्ग पदा व रूपों में 'ई' पाई जाती है—रोदसी—'दो लोक—पृथिवी आर आकाश' (७) । क्रन्दमी सयुती (१४)—'दो चलाता हुई सनाए' । दधी—'दो देवता' ।

२४ अस्मद् आर युष्मद् क द्विवचन में पाँच विभक्तियों में रूप मिलते हैं ।

१	२	३
अस्मद्—वाम्, आवाम् (श०)	आवाम् (श०)	×
युष्मद्—युवम्	युवाम्	युवाभ्याम् युवभ्याम्
	५	६ ७
अस्मद्—	आवाभ्याम् (कास)	आवयो (श०)
.	आवद् (तैस०)	

॥ तु० क० वाच्छन्दमि (पा०) ।

युष्मद्—

युवद्

युवो,
युवयो (तैम०)

२० इन ४ माथ ही २री, ४थी और ६टी विभक्तियों में नौ और वाम् ४ प्रयोग भी मिलते हैं ।

बहुवचन

२६ प्रथमा विभक्ति—अन्त पुल्लिङ्ग शब्दों के रूप बहुधा और स्त्रीलिङ्ग शब्दों के सभी रूपा 'आसम्' में मिलते हैं (तु० ४०—आसमेरमुन्—पा०) । यथा—अधाम् (६) अधामि, रधामि, जुनासु (१३), प्रियाम्, सुनीराम् (२१) । इन ४ माथ 'आसु' ४ रूप भी मिलते हैं, यथा—ग्रामा (१३), युध्यमाना (१५) ।

२७ इनागत स्त्रीलिङ्ग पदों के अन्त में 'इम्' होता है । यथा दुवी — दया' । (तिल) पृथ्विनी — 'तीन भूमिवा' ।

२८ तपुमन् लिङ्ग पदों के रूपों में आनि, इनि और उनि की अपरा ३, ऊ (कभी कभी अ, इ, उ) का प्रयोग अधिक मिलता है । तु० ४० गेहन्ति बहुम्—पा०) । यथा—भुजंगानि विधा (२) । त्री पूर्णा पुद्गानि (४) । भर्तापमाणा (४) । ता वास्तूनि (९) इमा निशा व्यर्जना क्तानि (१०) ।

२९ तृतीया—अकारान्त पदों में 'ऐम्' के साथ-साथ 'दाभम्' का प्रयोग भी तब मिलता है । यथा—वदेभि (३) । देवभि और दुर्वै ।

३० शब्दरूपों की रचना—शब्द रूपों की रचना में प्रमुख अन्तर इनागन्त और ऊकारान्त अक्षेपाच् शब्दों के रूपों में पाया जाता है । ऐत पदों में अविनाश स्त्रीलिङ्ग और कुछ पुल्लिङ्ग हैं । इन में से आसकान् ४ रूप एनाच् शब्दों—धा और भू ४ समान चरते हैं । भग्नत्वना हा है कि इन पदों में पञ्च ४ बहुवचन में 'नाम्' लगाया जाता है, और वा, भू में 'आम्' । जो प्रथम के 'इ' का प्रथम अविनाश नग और वपू ४ लौकिक रूपों के समान गत है । उदाहरण के लिए रुधी (पु०) नृनी (म्ना०) और तन् (म्ना०) के रूप हम प्रकार होते हैं—

३१. रथी

	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
१	रथी	रथ्या	रथ्या
सम्बोधन		रथ्या	
२	रथ्याम्	रथ्या	रथ्या
३	रथ्या		
४	रथ्ये		
५	रथ्या		
६	रथ्ये		रथीनाम्

३२. नदी (स्त्री०)

१	नदी	नद्या	नद्ये
८		नद्या	
२	नद्यम्	नद्या	नद्ये
३	नद्या		
४	नद्ये		
५	नद्ये		
६	नद्ये		नदीनाम्
७			

३३. तनू (स्त्री०)

१	तनू	तन्वा	तन्य
सम्बोधन		तन्वा	
२	तन्वाम्	तन्या	तन्य
३	तन्या		
४	तन्ये		
५	तन्वा		
६			तनूनाम्
७	तन्वि		

३४. पाणिनि ने शब्दरूपों के अन्य विकारों को 'सुपां सुलुक् पूर्वसर्वाणाच्छेयादाद्यायाजालः' में संयोजित किया है। इस के अनुसार विभक्तियों का लोप, उन के स्थान पर पूर्ण मवर्ण, आ, ए, आत्, या हो जाते हैं। काव्याधन में इन में इया, ई (सरसी-७ मी) ओर अया का मी कगन किया है।

धातुप्रक्रिया

३५. आगम—धातुओं के लड़ और लुङ् में अट् का आगम कुछ रूपों में निरन्तर ओर कुछ में छन्दःपूर्ति के लिए दोष पाया जाता है। जैसे—आर्षद्—
✓ लृट् प्रथम पु० एक व०—'उस ने टका हुआ है। आर्ष'क् (या आर्ष'क्)
✓ रिष् प्रथम पुरुष एक व० लृङ्—'उस ने रिक कर दिया है'।

३६. बहुधा अर्थ में भेद किए बिना ही इस अट् आगम का लोप कर दिया जाता है (तु-य-बहुल छन्दस्यमाद्योतेऽपि । पा०)। इस प्रकार के अट् से रहित रूप अंग्रेजी के इन्फिनिटिव के रूप में प्रयुक्त होते हैं (यथा प्र वौचम्) और आधुनिक अध्ययन में इसी नाम से पुकारे जाते हैं। 'मा' क योग में लौकिक संहृत में भी अट्हीन रूपों का प्रयोग मिलता है।

३७. उपसर्ग—सामान्यतः किया से सम्बद्ध उपसर्ग उस से पहले आते हैं, परन्तु कई बार क्रिया के पीछे भी प्रयुक्त हुए हैं। उपसर्ग और क्रिया के मध्य दोनो ही क्रमों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् मी रक्खा जाता है और उन के बीच में अन्य पद भी आ जाते हैं। (तु० व० उपसर्गाः निरायोगे । तं प्रागधातोः । छन्दमि परेऽपि । व्यवहिताश्च । पा० ।) जैसे प्र तद् विष्णुं स्तवते (२) । प्र विष्णवे श्रुषम् एतु (३) । अर्न भाति भूरि (६) । गमुद् वाजं-धिरा स नः । परन्तु आश्रित वाक्यों में उपसर्ग भवैव क्रिया में पहले आते हैं और उन के साथ समस्त होते हैं। जैसे विममे (१) । पर्यभूयत् (७) । उदाजत् (९) ।

तिङ् प्रत्यय

३८. लट्लकार में उत्तम पुरुष बहुवचन (कर्तृभाव्य) में 'मात्' की अपेक्षा 'मसि' प्रत्यय का प्रयोग प्रचुर है। (तु० क० इदन्तो मसि । पा० ।)

जैसे—उद्गमि (६)—इच्छा करते हैं (√ वद् से) । दुर्मि और दुमः ।

३९. मध्यम पुरुष बहुवचन में 'थ' और 'त' के अतिरिक्त 'यन' और 'तन' भी बहुधा मिलते हैं । (तु० क०—ततनमनयनाश्च-पा० ।) जैसे—याथ और याथन (तुम जाओ) । यात और यातन (तुम जाओ) ।

४०. लोट स्फार ने मध्यम पुरुष एक वचन में 'तात्' के रूप बहुधा मिलते हैं । इन रूपों में मणिष्य में किए जाने के लिए किसी काम का आज्ञा अभिप्रेत होती है । जैसे—रक्षेतात् । घृत्तात् । कर्मा कर्मा यह मध्यम पुरुष द्विवचन और बहुवचन तथा उत्तम पुरुष और प्रथम पुरुष के एक वचन के लिए भी प्रयुक्त हुआ है ।

४१. श्रु, शृणु, पृ कृ आर वृ धातुओं से लोट मध्यम पुरुष एक वचन में 'धि' लगाया जाता है । (तु व. श्रु-शृणु-पृ कृ-वृष्वदउन्दसि-पा०) । जैसे—श्रुधि (हवम्) । शृणुधि ।

४२. कुठ धातुओं के लट् प्रथम पुरुष एक वचन के रूप उत्तम पुरुष के रूपों में पर्यवसित हो जाते हैं । जैसे—येतै के स्थान पर शयै का प्रयोग ।

४३. द्वित्व—लिट् लकार में कुठ धातुओं के द्वित्व में अभ्यास में स्वर को दीर्घ हो जाता है । (तु० क० तुजागना दीर्घोऽभ्यासश्च) । जैसे—दाधार (४) (√ धृ से) । नूतुजानं । सृताव ।

४४. गण—वेद में गणों के प्रयोग में बहुधा व्यत्यय पाया जाता है । एक गण के धातु का रूप दूसरे गण के रूपों के तुल्य पाया जाता है । जैसे—हृजोमि । करमि । भेदमि । हृषेते (१४) ।

४५. लकार—वेद में लुङ्, लृट् आर लिट् के प्रयोग मत्र कान्ते में पाए जाते हैं । (तु. व. छन्दसि लुङ्लृट्ऌः । पा०) । लिट् का प्रयोग भूतसामान्य में ही होता है (तु. क. छन्दसि लिट्-पा०) । जैसे—स दाधार श्रुधिर्वा दामुते गम् में दाधार पद । डा० मैक्डोनेल का विचार है कि लृट् स्फार सदा वर्ण गानक भूतकाल का द्योतक है, परन्तु यह ठीक नहीं । (देखा वेमाप० । ५४ । १२) । लिट् का वर्तमान में प्रयोग—अमभ्यमानान्द्वौ जुधानं

(१६) । लृट् का—अ यतिष्ठद् दत्तासुरम् (२२) । उट् का—एते त्वे भानवा दशतार्याश्चित्रा उपमा अमृतासु आर्गु ।

१६ फाल—द्वि त की हुई धातु स पहले अट् का आगम कर क आध धातुन प्रत्यय लगा कर एने रूप भी प्रयुक्त हुए हैं । मै० न इन्ह 'अमृतासु' नाम दिया है । उदाहरण न लिए—√ चित् स-उत्तम पु० एक व०—अचिकितम् । प्रथम पु० एक व०—अचिकेत् । प्रथम पु० चतु व०—अचिकितु ।

१७ टी० मैग्नेटल के मत म सहिताआ म उट् का कोई निश्चित रूप नहीं मिलता है । कृच्-अतगात्री मञ्जाओं से ही इन लकार न रूपों का प्राप्ति फाल में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा ।

१८ भाष (मूठ)—लोपन भाषा में ग्रेट, रिडिलिन्, आशीर्लि आर रुट् का प्रयोग होता है । वेद म आशीर्लि का प्रयोग अल्प मात्रा म पाया जाता है । लृट् भविष्यत् काट का भूतसालर रूप है और भविष्य का गतक है ।

१९ परन्तु यहा एव और नये भार—लेट् का प्रचुर प्रयोग होता है । इस भार का प्रयोग विधि निमन्त्रण, आमन्त्रण अवाह, सप्रन प्रार्थना आदि हेतुहेतुमद्भूत, इच्छा कामप्रवर्त्तन और समानना—इन लोट् आर निधाल् क अर्थों उपसर्ग और आजका में होता है । (तु० क०—निधौ ले उपसर्गादशकयोश्च । पा०) । निधाल् का मूल रूप इच्छा आर समानना का प्रयोग है और कैट् का 'निश्चय प्रतिष्ठा । विभिन्न पुरुषा म इस का अर्थान्न मित्र भी लीति होता है । यथा उत्तम पुरुष म यह प्रतिष्ठा 'निश्चय' का गतक है

• वाक्या म इस का प्रयोग सामान्यतः दो प्रकार का है—प्रधान वाक्य में यह प्रनामक पूर्ण र साध आता है, जैसे—ब्रह्मा न शुभ्रबुद् गिर । गागनास्या म यह अनुषासन मा सम्प्रध-गोचर पूर्ण र साध आता है । जैसे—यानं धृतपात्रम् ।

२० लृट् म धातु क आगे अ या आ लगी आता है (लृट् इ चान-पा०) । जैसे—अवाति य चनर गाराम्य का प्रयोग भा देवना म आता है

(—सिब्रटुं लेटि—पा०) । यथा तारिपन् मे । परस्मैपद धातुओं के 'ति' आदि प्रत्ययों की 'इ' का लोप भी बहुधा हो जाता है (—इतश्च लोपः परस्मैपदेषु—पा०) । जैसे—तारिपन् मे ।

५२. लेट् में गार्धधातुव और आर्धधातुन—दोनों ही प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है । √भू और √मु के लेट् के रूप इस प्रकार हैं—

५३. √भू—

परस्मैपद

प्रथम पु०	भवाति, भवात्	भवात्	भवान्
मध्यम पु०	भवामि, भवाः	भवाथ	भवाथ
उत्तम पु०	भवानि	भवाव	भवामि

आत्मनेपद

प्र०पु०	भवानि	भवै से	भवन्त
म०पु०	भवसि	भवै थे	भवाम्वै
उ०पु०	भवै	भवावहे	भवामहे ।

५४. √मु—

परस्मैपद

प्र०पु०	मुनवत्	मुनवत्	मुनवन्
म०पु०	मुनव	मुनवथ	मुनवथ
उ०पु०	मुनवानि	मुनवाव	मुनवामि

आत्मनेपद

प्र०पु०	मुनवन्ति	मुनवैने	मुनवन्तः
म०पु०	मुनवसे	मुनवै थे	मुनवाम्वै
उ०पु०	मुनवै	मुनवावहे	मुनवामहे

लेट् के रूपों का वर्गीकरण

१५. आधुनिक वैदिक व्याकरणों ने लेट् के रूपों को विस्तृत कर रखा है कि इस के रूप केवल वर्तमानकाल के चोतर ही नहीं हैं, प्रत्युत

१६ तु. क सुचन्त (३०) ।

उन का प्रयोग लिट् और डृत् म भी होता है । उन क अनुसार लोट् और गिति लिट् क भी डृत् और लिट् में प्रयोग होते हैं । इन क कतिपय उदाहरण ये हैं—

लिट् लकारीय

लोट्	गितिलिट्	लोट्
✓ तुद् स—तुतोदत्	✓ वृत् स—वृत्त्यात्	मुच् से—मुमुग्धि
		✓ भू स—यभूतु
		✓ वृत् स—म० पु०
		आत्मनपद एक व०—वृद्धस्व

लुट् लकारीय

✓ नी से—प्र० पु०	✓ विद् से—विदेत्	✓ अर् से—
एक व०—	✓ अद् से—अद्यात्	म० पु० एक व० अविद्दि
नेपति, नेपन्	✓ मज् से—मज्जीष्ठ	द्वय०—अविष्टम्
✓ बुध् से—योधिषत्		गृह व०—अविष्टन
		प्र० पु० एक व०—अविष्ट
✓ पिद् से—विदत्		✓ सत् से—प्र० पु०
✓ कृ से—करति, करन्		एक व०—सदत्
		द्वि व०—मदताम्
		गृह व०—मदन्तु
		✓ भु स—म० पु०
		अभिभूतम् भूत
		प्र० पु० भूतु
		भूताम् भून्तु

५६ इज्जित्—यह परिभाषा आधुनिकों की है । जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अर् आत्म म हीन ट् और लृट् क रूप को इज्जित् कहते हैं । इस म प्रयोग लोट् क अन्तर्गत आ जाते हैं । उत्तम पुरुष में यह इज्ज को प्रक

करता है। यथा—विष्णोऽनु क वीयाणि प्रवोचम् (१)। मध्यम और प्रथम पुरुषों में यह प्ररणा और उसाह को यत्न करता है और बहुधा लोट् के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे—भुगा न सुपथा कृणु। पूषस्त्रिह ननु विद म विद इजाक्व है। इस भाग का प्रयोग कल्पद्रुम में बहुलता से हुआ है।

५६ सात यद्योनक कृदन्त पद—लाकव साहस्य में उपलब्ध मानयद्योतक कृत्त पण (गतृ गानच आ) के आत रक्त छुट लटार में भी बना और कम दोना में सात यद्योतक कृदन्त रूप मिलत है। जैन परस्मैपद—√कृ स—कृत। √गम् स—गमत्। √स्था स—स्थात्। आ मनपद—√कृ स—कण। √भुय स—भुधान।

५८ लट् लटार में कसु और वानच प्रत्ययात् रूप भी मिलत है (तु क लिङ् वानज वा। क्वसुश्च। पा०।)। यथा √गम् से शशमान। √गम् से विचक्रमण (वानच) (२०)। √स्था से तस्थिवासा (इतरचन—क्वसु) (१६)। √ब स—निगीवान् (१०) (क्वसु)।

५८ सृष्टेः में कनवतु प्रययान्त पणों का प्रयोग नहा किया गया है।

५९ कवा-अर्थ के रूप—वट में क वा न साथ साथ जी और वाय के रूप भी मिलत है। (तु क हर्षीनामातच। स्ना यात्यश्च। क रो यक् पा०)। स्वाय के प्रयोग अप है। जैसे—दिव सुपर्णो गवाय। बह्वान दवान्। पत्रा सोमस्य वावृधे। य और त्य प्रत्ययात् पण का अन्तम स्वरबहुधा दीध मिलता है।

तुमथ के रूप

६ तुमर्थ के रूप लाकव संस्कृत में न लिए क भाव के प्रकाशन के लिए कवल एक ही प्रयय—तुमन् का प्रयोग होता है परन्तु वट में इस न लिए लगभग एक दर्जन प्रययों का प्रयोग होता है। पागान मान ने इन को अशोक्त सूत्रा में सवालत किया है—

१ तुमर्थे से—सन्—अग—ऽमन्—कम—कसन्—अध्वे—अयैन्—कयै—कयैन्—गयै—गयैन्—तवै—तवेत्—तवन।

२ प्रयै रो ह्यै अयाययै।

३. हने विध्ये च ।

४. दाक णमुल्वमुल्य ।

५. इधरे तोमुन्वमुना ।

६१. आधुनिक दृष्टि से इन का वर्गीकरण द्वितीया, चतुर्था, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के रूपों से साम्य के आधार पर किया जाता है । इन में से पिछले तीन यगों के रूप अल्प हैं । शेष में से अधिकांश चतुर्थ्यन्त हैं जो द्वितीयान्तों में लगभग १२ गुना अधिक हैं ।

६२. द्वितीयान्त तुमर्थ रूप धातु से अथवा कभी-कभी तु प्रत्ययान्त नाम धातुओं से बनते हैं । जैसे—सुमिधम्—‘प्रदीत करने के लिए’ । प्रतिधाम्—‘रखने के लिए’ । मुत्तिरम्—‘जानने के लिए’ । कर्तुम्—‘करने, बनाने के लिए’ । भेत्तुम्—‘फाटने के लिए’ । विभाव (नागन्तु) । अपटुं (नागन्तु) ।

६३. चतुर्थ्यन्त तुमर्थरूप धातु से ओर अम्, मन्, यन्, तु, धि प्रत्ययान्त नामधातुओं से बनते हैं । यथा—गामध्वे (६)—‘जानने के लिए’ । भवसे (१५)—‘रक्षा के लिए’ । सत्तवे (१२)—‘रहने के लिए’ । दृशे—‘देखने के लिए’ । श्रद्धे—‘सच्चा विश्वास करने के लिए’ । जीवसे—‘जानने के लिए’ । विघ्नने—‘हानि देने के लिए’ । कर्तव्ये—‘करने के लिए’ ।

६४. पञ्चमी और षष्ठी के रूप एक समान होते हैं । ये रूप असू और तोम् में मिलते हैं । जैसे—अवृषद्—‘गिरने के लिए’ । नेत्तं—‘जानने के लिए’ । विचरितो—‘विचारण के लिए’ ।

६५. सप्तमी निमित्त में फेरल ‘सनि’ प्रत्ययान्त रूप ही निश्चयात्मक निगुद रूप है । जैसे—वेषणिं—‘ले जाने के लिए’ । धृष्टिं—‘देने के लिए’ ।

६६. कृत्यप्रत्यय—कृत्य-अर्थ में तवे, तेन्, तेन्य और तन् का प्रयोग होता है (तु० व० कृत्यार्थे तवेनेनेन्यतन.—ग०) । जैसे—दिदृशेण्यः ।

कै इस में दो उदात्त स्वर हैं, क और वै ।

कर्मप्रवचनीय निपात—

६७. वेद के मूल कर्मप्रवचनीय निपात इतना, पञ्चमी और सप्तमी के साथ और कुछ स्थलों पर तृतीया के साथ प्रयुक्त हुए हैं। ये इस प्रकार हैं—

६८. द्वितीया के साथ—अति—‘परे’। अधि—‘ऊपर को’। अनु—‘पीछे’। अन्तर्—‘म’। अभि, आ उप, प्रति—‘की ओर’। परि—‘चारों ओर’। पुर—‘सामने’।

६९ पञ्चमी के साथ—अधि—‘ऊपर से’। अन्तर्—‘अन्दर म’। आ—‘दूर से, तत्र’। परि—‘(चारों) ओर से’।

७० सप्तमी के साथ—अधि—‘ऊपर’। अन्तर्—‘अन्दर’। अपि, आ आर उप—‘समीप’।

वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ

कारक—७१ नह गार एक विभाक्त क स्थान पर दूसरा विभक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है। जेन—चतुथा न अथ म पञ्च, पञ्च न अथ म चतुथा और सप्तमा क अथ म चतुथा। यवा—अदस्मे धत्त (११) म सप्तमा न लिए अस्मै म चतुथा का प्रयोग किया गया है।

७२ घर्णविकार—नह पञ्च म वञ्च म निष्कार पाया जाता है। जस—सुधस्थम् (१) [तु क सधमादस्थयोऽष्टन्गान् ।] शुभ्णामि । सुम्भृतम् (२९) । [तु न --दृग्ग्रहोर्भःष्टन्गान् । पा० ।]

७३ साहित्यिक दीर्घ—अनेक बार साहता म स्वर को गाय कर दिया जाता है। पप्पाट म इन्ह इस्व कर दिया जाता है। जैसे—स्मां (११)। पूरूप (२४)।

७४ प्रत्ययों का प्रयोग—गुह से प्रत्यय साहता स्थला से अन्यत्र भी हो जाते हैं। जैसे—अद्यायुररातीना मर्चयति । इम म नद्यायु म क्वच् और उ प्रत्यय परेच्छा में हुए हैं।

७५. यत्यय—पाणिनि ने वैदिक भाषा के लौकिक सरसृत से भर्ता का 'यययो बहुलम्' कह कर वर्णित किया है। इस स्वर का विस्तार हम कारका में दिया गया है—

मुप्—तिङ्—उपग्रह—लिङ्—नराणा

काल—हल्—अच्—स्वर—इत्त—यडाञ्च ।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रदृष्टा

सोऽपि च मिध्यति बाहुल्येन ॥

भार यह है कि वैदिक भाषा में अनेक स्थानों पर विभक्तियों, निया के तिप् आदि प्रत्ययों आनने—परमै पणों, पुष्टिग, नपुमस्लिंग और ह्वालिग उत्तम, मयम और प्रथम पुरुषों, लप् आदि लकारों, वज्जनों, अ, आ आदि स्वरों उक्त आदि स्वरों कारको आर गणों के प्रयोगों में लौकिक भाषा के नियमों की उपमा पाई जाती है।



वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

मन्त्र	क्रमसंख्या	संकेत
अद्भ्य सन्भृत पृथिव्यै रसाद्य	३८	य० ३१ । १७
एतावानस्य महिमा	२४	ऋ० १०।९०।३ य० ३१।३
चन्द्रमा मनसो जात	३४	ऋ० १०।९०।१३ य० ३१।१२
ततो विराडजायत	२६	य० ३१।५
तदस्य प्रियमभि पाथो अश्व्याम्	५	ऋ० १।१५४।५
त यज्ञ बर्हिषि भौक्षन्	२८	ऋ० १०।९०।७, य० ३१।९
तस्मादश्वा अजायन्त	३१	ऋ० १०।९०।१०, य० ३१।८
तस्माद्यज्ञाद् सर्वहुत	३०	ऋ० १०।९०।९ य० ३१।७
तस्माद्यज्ञाद् सर्वहुत	२९	ऋ० १०।९०।८ य० ३१।६
तस्माद्विराज्जायत	२६	ऋ० १०।९०।५
ता वा वास्तुन्युभमसि गमध्वे	६	ऋ० १।१५४।६
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष	२५	ऋ० १०।९०।४ य० ३१।४
धाधा चिदस्मे पृथिवी नमेत	१९	ऋ० २।१२।१३
नाभ्या आसीदन्तरिक्ष	३५	ऋ० १०।९०।१४ य० ३१।१३
पुरुष पृचेद् सूर्य	२३	ऋ० १०।९०।१२ य० ३१।१२
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ अन्तर	४०	य० ३१।१९
॥ तद्विष्णु स्तवते वीर्येण	२	ऋ० १।१५४।२
॥ विष्णव शूयमेतु मन्म	३	ऋ० १।१५४।३
माक्ष्णोऽस्य मुखमासीत्	३३	ऋ० १०।९०।११, य० ३१।११
यज्ञेन यज्ञमयन्त दवा	३७	ऋ० १०।९०।१६ य० ३१।१६
यत्पुरुष व्यदधु	३२	ऋ० १०।९०।११, य० ३१।१०

मन्त्र	क्रमसंख्या	सञ्चेत
यत्पुरयेण हरिषा	२७	ऋ० १०।९०।६, य० ३१।१४
य प्रन्दर्मा मयती विह्वयेते	१४	ऋ० २।१२।८
य स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्	११	ऋ० २।१२।५
यस्मान्न ऋतेऽजयन्ते जनायो	१५	ऋ० २।१२।९
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि	४	ऋ० १।१५४।४
यस्याश्वाम प्रदिशि यस्य गावो	१३	ऋ० २।१२।७
येनेमा विश्वा ऋवना कृतानि	१०	ऋ० २।१२।४
यो जात एव प्रथमो मनस्थान्	७	ऋ० २।१२।१
यो द्वैभ्यो आतपति	४१	य० ३१।२०
यो रश्मस्य चोदिता य कृत्स्नस्य	१२	ऋ० २।१२।६
यो हत्वाहिमरिणात्सप्तमिन्धून्	९	ऋ० २।१२।३
य पृथिवीं व्यधमानामदृहद्	८	ऋ० २।१२।२
य क्षम्वर पर्यतेषु क्षियन्तम्	१०	ऋ० २।१२।११
य क्षम्वरो महेनो दधानान्	१६	ऋ० २।१२।१०
य सप्तरश्मिर्दृपमस्तुविष्मान्	१८	ऋ० २।१२।१२
य सुवन्ते पचते दुध आ चिद्	२१	ऋ० २।१२।१५
य सुवन्तमवति य पचन्तम्	२०	ऋ० २।१२।१४
रुच ब्राह्म जनयन्तो	४२	य० ३१।२१
दिष्णोर्नु क वीर्याणि प्र बोधम्	१	ऋ० १।१५४।१
वेद्राहमेत पुरष महान्तम्	३९	य० ३१।१८
श्रीश्च ते रक्षीश्च पश्यावहोरात्रे	४३	य० ३१।२२
यत्तास्यामन् परिधय	३६	ऋ० १०।९०।१५, य० ३१।१५
महसशीर्षा पुरष	२२	ऋ० १०।९०।१३, य० ३१।१

वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

तत्र

अकारादिवर्णां नुक्रमेण

टिप्पणीषु व्याख्यातानां पदानामनुक्रमणिका

अरु.	१०१९	अमन्यमानान्	१६१७	आजानम्	३८१५
अक्षीयमाणा	४१३	अमृतम्	२४१४	आतम्भिरासा	१४१७
अगळे मन्त्र की		अयनाय	३९१४	आद्रत्	१०१८
भूमिना	३२११	अयाम्.	६१७	आद्रर्दि	२११३
अग्निः	३४१६	अरम्णात्	८१२ (१११)	आवे भाग से विश्व की	
अग्ने	४२१४	अरिणात्	९१२	रचना	२४११
अच्युतच्युत्	१५१४	अर्यः	१०१९	आहुः	१११५
अजानय	३११२	अर्यः पुष्टीः	१११६	हत्या	५११०
अहत्, अरम्णा		अरति	२०१६	इदं दीर्घं प्रयत्नं सधत्तम्	
अलम्भात्	८१६	अरमनोरन्तरग्निं			३१४
अद्रवः सम्भूतः		जजान	९१८	इन्द्र	७११४
पृथिव्यै०	३८११	अश्वासः	१३१०	इन्द्रः	३४५
अधरं गुहाकः	१०१४	अखिनौ	४३१३	इमा विश्वा	१०११
अनुद्रवति	१६१८	अमन्	४२१९	ईम्	१११४
अन्तरिक्षम्	३५१२	अस्क्रमायत्	११८	उ	४१५
अपघा	९१६	अस्फुरत्	१८१७	उत त्व	२३१२
अपा नेता	१३१३	अस्य	५१२	उतामृतत्वस्येशानः	२३१३
अभि अभ्याम्	५१५	अहिम्	९११;	उत्तरम्	११९
अभ्यसेताम्	७११०		१७१५	उत्तः	५११५

उदात्तः	९।९	गमघै	६।५	ता	६।१
उभयाः	१४।६	गर्भे अन्तः	४०।१	तान्	२९।६
उदक्रमस्य		गाः	९।४	तानि	३७।४
हि उन्धुरितया	५।९	गात्रः भूरिष्टद्धा	६।६	तुर्विष्मान्	१८।१
उरगायः	१।१३	गिरिष्ठाः	२।५	त्रिः सप्त समिधः	३६।२
उरगायाय	३।२	गौः	६।६ (ii)	त्रिषातु	१।६
उश्मसि	६।४	घोरम्	११।३	त्रिषत्	२५।१
ऊती	२०।७	चहोः	३४।३	त्रिषः पदेभिः	३।६
ऊरु	३२।७ (ii)	चत्वारिंशः शरदि अन्व-		त्रिषु विक्रमणेषु	७।६
ऊरु	३३।४ (ii)	विन्दत्	१७।३	त्री, पूषा,	४।२
ऊर्ध्वं उदैत्	२५।२	चन्द्रमाः	३४।१	त्रेधा	१।१२
ऊचः, सामानि,		चित्	२९।२	त्वष्टा	३८।३
ऊन्दाति, मल्ल	१०।२	च्यवना कृतानि	१०।२	त्वा	४२।६
एयः	१।५	जधान	१६।६३	दधानान्	१८।४
एत पुरुषम्	३९।१	जात एय	७।२	दद्याच्छुलम्	२२।५
एतावानस्य	२४।२	जिगीवान्	१०।७	दस्योः	१६।९
एनः	१६।३	तन्	२।२;	दाधार	४।७
एयम्	४२।१०		५।१;	दानुम्	१७।६
धोगायमानम्	१७।४		३८।४;	दास वर्णम्	१०।३
धतिधा	३२।५		४२।३;	दिवि	२४।५
धरिः	१२।५	तथा लोको अवल्ययन्		दिशः	३५।७
दुधर	२।४		३५।८	दुमः	२१।१
दृतः	३३।२	तदस्य०	५।१६	देव देवान्	७।५
दी	३२।८	तन्वानाः	३६।५	देवयजः	५।८
दुनुना	७।६	तम्	२८।१	देवाः	२७।३
द्वन्द्वी आदि	१४।१	तमसः	३९।३		२८।६
द्वन्द्वी	१४।२	तस्मात्	२६।१		३६।६

३७।१	पर्वताः	१९।५	ब्राह्मम्	४२।१
४२।२	पर्वतेषु	१७।२	भाव	१३।१
दवा अमन् वशे	पञ्चम्	३६।६	माध्यकारो	
देवेभ्यः	पाय	५।४	का अर्थ ३१।१	
द्याम्	पादोऽस्येहाभवत्		माध्यकारो के	
द्याम् आरोहन्तम्	पुनः २५।३		विभिन्न भान	२७।१
द्यावा...पृथिवी	पार्थिवानि	१।५	सुवनानि विश्वा	४।८
द्यौः	पार्श्वे	४३।२	भूमिः	३५।६
धर्माणि	पुरुषः	२२।८	भूमिम्	२२।३
न श्रुते	पुरुष एव	२३।१	भूमिम्	२६।५
न विजयन्ते	पुरुषम्	३२।३	मधुना	४।१
जनासः	पुरुष जातमव्रतः	२८।५	मध्वः	५।१४
नमेते	पुरोहितः	४१।२	मनसः	३४।२
नमो वचाय ब्राह्मणे	पूरुषः	२४ ३	मनस्वान्	७।४
नरः	पूर्वे साध्या देवा	३७।११	मन्त्र का भाव	२०।१
नाकम्	पृथदाज्यम्	२९।४	मन्त्र की समस्या	३०।३
नाधमानस्य	प्र	२।१	महि	१६।२
नाना हवेते	प्रथमः	७।३	महिमान	३७।८
नाय्याः	प्रथमानि	३७।६	महा	७।१२
	प्र वोचम्	१।४	मुख	३२।७ (11)
नुक्म्	प्राजात्	३४।७	मुखम्	३२।७
नुम्णस्य महा	प्रियम्	५।३	मुखात्	३४।४
पचन्तम्	प्रोक्षन्	२८।४	मृगा न	
पत्न्यौ	बन्धुः	५।११	भीमः	२।३
पद् (पाद) ३२।७ (11)	बर्हिधि	२८।३	यः	७।१
पदे	बहुधा विजायते	४०।२	य इति	१२।१
पद्मयाम्		१३२।७ (11)	यः मुन्वते	२१।५
		३३।४ (111)	यजुर्दे के पाठ में	
परमे	बाहू	२०।८	अर्थ में अन्तर न	
परेऽवरे	ब्रह्म	१२।३	होना	२९।१
पर्यभूषत्	ब्राह्मणः	४२।५	वशम्	२७।४,

यत्	२२१८	त्रि, वृष्टु	३२१४	अत् घत्	१२१८
यजान्मरुत	३६४	त्रिचन्द्रमाण	११७१	आत्रात्	३४१०
यजन	३७१३	त्रिच द्र	३१७	शाष्ण	३५१३
यत्	२९१२	त्रिचम्	१९१४	खचत्	३७१९
यजान्मरुत	३०१७	त्रिम	११६	न वनाम इन्द्र	७११३
यजन	३७१०		८१३	न वातो अग्नि-यज २६१४	
यत्	३२१२	अग्नौ अग्नि पुरुष	२६१३	सधस्थम्	१११०
यत्	५१७ ३७१०	विराट्	१६१२	मन परिषय	३६११
यजान्मरुत रोहति	२६१४	विचन्द्रमाण	३८१२	सतताम्	१८१९
यत् भूत यज		विज्जा वृत्ता	२७१४	सतसिधून् ९१३	१८१०
मग्नम्	२३१२	विश्वस्य प्रतिमानम्	१०१३	सयती	१४१३
यद्वैद्य	३३१३	अग्नि	२१७	सम्भावित अय	२७१२
युच्यमाण	१२१६	विष्णो	१११	समृतम्	२९१४
यो अस्वभावात्	११७	विश्वद्	३७१४	समान चिद्व्यमातरित्यवाता	
रघस्यचोदिता	१२१२	वीर्याणि	११३		१४१७
राध	२०१७०	वृषम्	१८१२	सनवे	१८१४
राप्ती	७१९	वृष्ये	३१३	सर्गदुत	२९१३
रां हणम्	१८१६	अथमानाम्	८२	सहस्रगीषा, सहस्राशु	
वज्रगाह	१९१८	व्यातम्	४३१४	सहस्रगात्	२२११
वज्रहन्त	१९१०	व्यन्तम्	२०१४	सा या ऋषयश्च ये	१८७
वरीय	८४	अग्निम्	१७११	साशानानशने	२५१५
वर्षो की वषति	३२१७	वषत्	१६१७	मुनमाप्रय	१२१८
वल्ग्व	९१७	वषा	१६१६	मुन्तम्	१०१०
वत्	४९१८	अशमानम्	२०१७	मागम्	१२७
वाहम्	२११२	अवानम्	७१७	सात	१११२
वाम्	६१९	अग्नीव विगीर्वा लज्जाम्		सोम	२०१९
वायु	३४१८		१०१६	सम्पत्	१९१६
वायवान्	२९१७	वाक्	१६१७	स्मा	१२११
वाग्नि	६१३	गुपान्	७१८, १९१४	रक्षणा	४१४
वि	३२१४ (ग)	श्वम्	३११	हन्ता	१६१०
वि अस्वयम्	३२१६	अग्न	६११ (१७)	द्वयत्	१४१४

वेदलावण्यम्

सक्षेप निररण

+ ओङ का चिह्न	आश्व ग०—आश्वगयन गृह्यसूत्र
= बराबर है, समान है	उ०—पचपातुगात्र, सभाष्य, दयानन्द
✓ धातु का द्योतक चिह्न	सरस्वती म० १९८९
अफोसु०—अमरनाथ मुधागेर, मानु	ऋ—ऋग्वेद—सातबलेकर द्वारा
जिगक्षत, चम्बई १९२८	सम्पादित मूल संहिता
अवे—अथर्ववेद, अजमर वैदिक यन्त्रा	ऋभाभू०—ऋग्वेदा भाष्यभूमिका
ल्य, २००१ वि	न्यायन सरस्वती आर्य
अन—अवैस्ता भाषा	साहित्य मण्डल अजमर
आइओफा—प्रोसाडिग्न ऑफ दा	१९०१ वि०
आल शण्डया ओरियण्डल	ऐ०—ऐतरेय ब्राह्मण, मूल गम्बई
कान्फस	एया०—ऐतिमालाजीज आफ वास्न,
आइओफा० (स)—समरीज ऑफ	डा० सिद्धर वमा
पपज सान्मण्डिन्दी आल	कठोप०—कठोपनिषद्
इण्डया ओरियण्डल	का० य —काण्व अनुवाद संहिता, प
कान्फस	सातबलेकर द्वारा संपादित
आप्टे का कोप—वा० एस० आप्ट	का० श्री—नात्वायन आत सूत्र
स्ट्रण्ड्स सङ्कृत-	कास०—काटनसंहिता, स्वा नाथ
शालश टिक्शनरी,	मण्डल, पाटनी
दिताय सस्वरण	को०—नापीताकि ब्राह्मण

गी०—भगवद् गीता

गो०—गोपय ब्राह्मण

ग्रा० ग्रास०—ग्रसमैत्र

छा०—छानेम्बोपनिषद्

जै० जैत्रा०—चेमिनोय उपनिषद्
ब्राह्मण

तां—ताण्ड्यमहाब्राह्मण

तु० क०—तुलना करो

तै०—तैत्तिरीय ब्राह्मण

तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता, स्वाध्या-
यमण्डल, पाठटी

दपाठ०—दशपाद्युगादि वृत्ति पं०
युधिष्ठिर भीमासक द्वारा
सम्पादित

दस०—स्वामी दयानन्द सरस्वती और
उन का श्रुवेद भाष्य,
१ भाग, अन्नमेर

नपुं०—नपुंसक लिंग

नि०—निदत्त, डा० लक्ष्मण स्वरूप
द्वारा सम्पादित, मूल, १९२७

निघं०—निघण्टु—दयानन्द सरस्वती
स्वामी द्वारा सम्पादित,
अन्नमेर, १९८९ वि०

नेवैशा०—नेचर औफ वैदिक शास्त्र
एस० के० गुप्त

पं० उ०; पपाठ०—पञ्चपाद्युगादिखत,
स्वामी दयानन्द
सरस्वती द्वारा
सम्पादित

पा०—प्राग्निमुनि रचित भट्टाचार्यी
और उस की द्वाशिकावृत्ति,
बनारस

पाठ०—पारस्करीयोनयन सूत्रों का
प्रस्तुत संस्करण

पाटि०—पाट्टपत्र

पा० भे०—पाठभेद

पीटर्सन—हिन्डू औफ दी क्रुवेद
प्रथम भाग

पु०—पुरुष, पुलिग

पृ०—पृष्ठ

प्र०—प्रथम पुरुष

वधसू०—वसिष्ठ धर्मसूत्र

वृउप०—बृहदारण्यकोपनिषद्

भायो०—भारत-यूरोपीय काल्पनिक
भाषा का कल्पित पद

मनु०—मनुस्मृति, बम्बई

मन्त्रस , मम —इस मन्त्रस म
मगहात क्रकगको
आर य० २१ ५
म० २१ ५
न ग आरक
क्रमर मगग ।
प्रमागा म म
मरया ५ आग
मगग की मरया
है ।

महा —महाधर, यजुर्वेद भाग
मु० ३ —मुण्डकोषानपद्
मेघ —मघट्ट मधर कुमार गुन
द्वारा सम्पादित तामरा
संस्करण ।

म० —मन्त्रानु, ए० ए० आरउनका
वैष्णव सीर

ममू —मैक्ल मूलर

य —यजुर्वेद भाहता अन्तर १९९९
। ४०

यभा , य भा य भाष्य—
यजुर्वेदभाष्य रामा न्याय
मरयता ४ भाग, अन्तर

य —वचन

यि —नरमा

यिनी —मरमानवर मोनवर-नारा
यजु, मघट्ट-दाम्प
विकानरा १८९९

य भा —वभाष्य

यभापा —मधर कुमार गुन, य
भाष्यपद्धति को न्याय
मरयता का दन

यभा —यजु माधन

यइ —यजु इन्कम, यो भाग,
मैक्लानल आर नीय

यैग —यै वानर ऐगमालाजी, य०
फतह सिंह

यको —यजु काथ हमारन ।

यैग्राम —वैष्णव ग्रामर फार मुण्डम्
मन्त्रोनल, ए० ए० ।

यैरा —यजुमन्त्र, ए० ए०, वैष्णव ग्रामर

यैमा —वैष्णव साह २, राम गाव
। ४०, नराम

य —यजुपथ ब्राह्मण दो भाग नराम

यैमैर —दम्प मन्त्रोका०

ये २ —यजु अन्तरानपद्

सम०—उत्पाप प्रकाश, कल्कत्ता,
स० १९८१

स०—संस्कृत

सच०—उत्तराचन्द्रिका आत्मार्थम्,
पट्टादा

संप०—दयानन्दभाष्या म संस्कृत
पट्टार्थ

संवि०—सत्तारामेयि. स्वा० दयानन्द
सरस्वती, अजमेर

संज्ञकौ०—संस्कृतय शार्थ शैलुम
कोप, द्वारनामसाद
धर्मा चतुर्वेदी, इलाहा
बाद १९१७

सा०—वाग्गमाथ्य (कवच), पूना
४ भाग ।

सा० ला०—माइवन्निग लाइटर

सिक्कौ—सिद्धान्त कीमुनी, बाल
भनोरमा, मद्रास

सीएसडी०—मुषीर कुमार गुप्ता, ए
क्रिक्कल रुन्डी श्रीक
श कम्मैन्नी श्रीन दी
कवचद माई स्वामी दयानन्द

सूत्र०—इस सम्प्रदाय म सम्पादित
पास्तर्गीशोवायन सुतो की
कमिक मर्या और उन पर
गिष्पनिषा

खी०—खीरिय

दिअ०—हिन्दी अनुवाद

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम ए. पीएच डी., शास्त्री, प्रभाकर
संस्कृत-साहित्य का सुबोध इतिहास



यह लौकिक संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक, नई रसों के सार से विभूषित, कीर्ति आदि के इतिहासों के समान मौलिक, उच्चस्तरीय, सर्वाङ्गपूर्ण, सुन्दर और शुद्ध छपा हुआ तथा कालिदास की विधि आदि अनेकों ऐतिहासिक समस्याओं पर नया प्रकाश डालने वाला एकमात्र संस्करण है। यह विद्यार्थियों के लिए पाठ्य और सहायक पुस्तक, विद्वानों और अलोचकों के लिये विचारों की उद्बोधक और समग्रणीय, सर्वसाधारण के लिए ज्ञानवर्धक तथा रोचक, पारितोषिक और मंत्र के उपयुक्त तथा पुस्तकालयों की शोभा है।
दूसरा संस्करण कर्णालबद्ध ४॥॥ वसुधैव कुटुम्बकम् ५॥॥

भारती मन्दिर, ४ हीरापुरी, गोरखपुर (उ०प्र०)

संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, स्वर्णपदकी

(वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, मेघदूत और उस की वैदिक पृष्ठभूमि, दशकुमारचरित, शुक्रनासोपदेश, गन्धपारिजातविवरण, संस्कृत व्याकरण, अर्थव्यञ्जकताचित्र, नेचर और वैदिक शास्त्राज और श्रृंगवद का धर्म, पास्कुर गृह्यसूत्र उपनयन सूत्र और वैदिक सूक्तसंग्रह आदि के प्रख्यात, मौलिक और ससार लेखक तथा सम्पादक)

डा० सुधीर कुमार गुप्त एक प्रसिद्ध और अनुभवी विद्वान् हैं। आप की लेखनी में शक्ति है, भाषा में श्रृंग और बल हैं। विषयवर्णन में साम्प्रदायिक सरलता, स्पष्टता, विशदता और नई दृष्टि हैं। आप की शैली युक्तियुक्त और प्रवाहशील हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य के विकास का एक सुगम, सन्निहित अनति सक्षिप्त और क्रमिक परिचय प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। इस का पहला संस्करण १९५१ में रोहतक से एक सहायक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था। उस में लगभग १६० पृष्ठ थे। अध्यापकों ने उस की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की। विद्यार्थियों में यह इतना प्रिय हुआ कि दो वर्ष में ही वह संस्करण समाप्त हो गया।

अब यह दूसरा संस्करण नई संशोधन के साथ प्रकाशित किया गया है। इस में ग्रन्थ की काया ही पलट गई है। इस का आकार पहले से कई गुना बढ़ गया है। इस में कुल ६१० पृष्ठ हैं।

इस संस्करण में अनेक नये विषय सम्मिलित कर दिये गए हैं। पहले से विद्यमान विषयों में आवश्यक परिवर्तन और सशोधन भी कर दिये गये हैं, यथा नाटककार और काव्यकार कालिदास के पृथक् पृथक् व्यक्तित्व का सम्पादन

और उन की तिथि, उपमा कालिदासस्य, मास और शूद्रक की तिथि और व्यक्तित्व तथा नाटक की उत्पत्ति के बादों के स्थल ।

इस संस्करण में कवियों के गुण दोषों के साथ उन ने ग्रंथों के मार और अन्य कवियों से तुलना भी दिए गए हैं । पाठटिप्पणियों में B A B A Hons, M A, I C S, I A S, P C S, आदि परीक्षाओं से प्रत्येक विषय से सम्बंधित प्रश्न संगृहीत किए गये हैं । इस से पुस्तक पाठ्यपुस्तक हात हुए सहायक पुस्तक का भी काम करता है ।

इस प्रकार इस पुस्तक का क्षेत्र विस्तृत हो जाने और स्तर के उँचा हो जाने से यह न केवल समस्त विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं और प्रतियोगा परीक्षाओं के लिए परम उपयुक्त है, प्रयुक्त समस्त संस्कृत, हिंदी और भारतीय इतिहास के पढ़ानों, समालोचकों भारतीय साहित्य सवियों और जनसाधारण के लिए पठनीय है ।

आगे दी हुई विषय-सूचा से ग्रंथ के स्तर और क्षेत्र का अनुमान सहज में ही किया जा सकता ।

विषय-सूची

१. विषयप्रवेश

१—२९

वैदिकसाहित्य का सिंहावलोकन—१ संस्कृत शैलिकाल की भाषा—४ संस्कृत साहित्य के अध्ययन का महत्त्व—७ आधुनिक काल में संस्कृताध्ययन का पुनरुद्धार—१० लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत का विशेषताएँ—१६, संस्कृत पाली, प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषाएँ—१६ भारतीय लिपि का प्रादुर्भाव और विकास—२३, संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक भावना का अभाव—२५ शातवाहननिर्माण के साधन—२७ ।

२. वीरकाव्य—रामायण, महाभारत और पुराण

३०—८४

वीरकाव्य की उत्पत्ति और विकास—३० रामायण का कर्तृत्व—३२ शाखाएँ और विस्तार—३३, रामायण के दो भाग—३४, रामायण

हामर काव्यों का अनुकरण—२५, रामायण की तिथि—३६, रामायण की रचना का उद्देश्य और विषय—२८, रामायण का महत्त्व—४०, रानक रमणाय शैली और गुण—४२, महाभारत का कर्तृत्व—४४, महाभारत का विषय—४६, महाभारत के विषयों की उत्पत्ति और विस्तार—४८, महाभारत में प्रवेश—५१, महाभारत का रचनाकाल—५२, महाभारत का महत्त्व—५४, भगवद्गीता—५८, रामायण और महाभारत की तुलना—५९, रामायण और महाभारत के सार—६१, पुराणों का सामान्य परिचय—६१, पुराणों का विशेष अध्ययन—पुराणों का लक्षण—६३, पुराणों के विषय और उन का विकास—६४, पुराणों के नाम और उन के विषयों के सार—६६, उपपुराण—६६, पुराणों का कर्तृत्व—७०, पुराण मूलतः सत्रों की परम्परा नहीं है—७१, पुराणों का रचना काल—७४, साहित्य में पुराणों का उल्लेख—७६, आख्यानो की सच्ची—७६, पुराणों में शुद्ध यादृश सस्कृति का अभाव—७७, पुराणों की निचली सामा—७८, पुराणों का महत्त्व—८० ।

३ महाकाव्य—अ० कालिदास के पूर्ववर्ती कवि १अ—२२अ

कालिदास ने पूर्व काव्यशैली की सम्पन्नता—१अ, सस्कृत काव्यशैली की उत्पत्ति और विकास—५अ, सस्कृतकाव्य की विशेषताएँ—८अ, वाणिनि—११अ, वरहवि—१२अ, अश्वघोष का जीवन और काल—१३अ, अश्वघोष की कृतियाँ—१४अ, अश्वघोष का कवित्व—१६अ, अश्वघोष की कृतिवा की उपलब्धि का महत्त्व—१६अ, अश्वघोष और कालिदास की तुलना—२०अ, मातृचेष्ट—२२अ ।

४. महाकाव्य [चालू]—आ० कालिदास और उन के ग्रन्थ २३अ—६५अ

कालिदास की तिथि—२३अ, कालिदास का जीवन—२६अ, ज-मस्थान—३०अ, व्यक्ति—३१अ, कालिदास की कृतियाँ—३२अ,

नृतुसहार—३४ अ, मधदूत—३६ अ, कुमारसम्भव—३८ अ, रघुवश
—४१ अ, कालिदासक विशेषगुण—४६ अ, अलंकारों का प्रयोग—४८ अ,
उपमा कालिदासस्य—४९ अ, अन्य अलंकार—५२ अ, अर्थान्तरन्यास
की छटा—५२ अ, श्लेष—५३ अ, छंदों का प्रयोग—५३ अ, वर्णम-
शक्ति—५३ अ दोष—५४ अ, दूतकाव्यों की परम्परा—५४ अ, मेघदूत
क अनुकरण—५५ अ, कालिदास का प्रकृतिवर्णन—५७ अ, कालिदास
के काव्यों में जगन आदर्श—६० अ, वैदर्भा रीति क मुख्य गुण—६५ अ ।

५ महाकाव्य [उपसंहार]—३० कालिदास के उत्तरकालीन कवि
६६ अ—११३ अ

प्रवरसेन—६६ अ मेण्ड या मट्टमण्ड—६६ अ रावणार्जुनीय या
आगुनरावणाय—६७ अ भारवि—तिथि—६७ अ गुण दोष—६८ अ
किरानार्जुनीय का कथा और उस का स्तोत्र—७० अ भारवि में कृत्रिमता
—७३ अ, भारवि का व्याकरण का प्रयोग—७४ अ भारवि का अर्थगौरव
और व्यावहारिक ज्ञान—७६ अ भट्टि—७६ अ, कुमारदास—८० अ,
माघ—तिथि—८२ अ, शिशुपालवध की कथा और उस का स्तोत्र
—८३ अ मूलकथा में परिवर्तन—८५ अ माघ के गुण दोष और
शैली—८६ अ, भारवि और माघ की तुलना—८८ अ, कालिदास, भारवि,
माघ और श्रीहर्ष की तुलना—९० अ हरविजय—९० अ, कवि
रहस्य—९३ अ, जेमद्र—९३ अ, कप्पणाम्बुदय—९४ अ, मख—९४ अ,
श्रीहर्ष की तिथि—९४ अ, श्रीहर्ष की कृतियाँ—९८ अ, नैषधचरित और
उस की कथा—९८ अ, नैषधचरित की पूर्णता—९९ अ, मूलकथा में
परिवर्तन—१०० अ, श्रीहर्ष का महत्त्व—१०० अ, संस्कृत महाकाव्यों की
परम्परा में श्रीहर्ष का स्थान—१०३ अ, शिल्प या द्वयर्थक काव्य—१०६ अ,
जैन कवियों की देश—१०८ अ, हरिचन्द्र—११० अ, संस्कृतकाव्यों में
उत्तरोत्तर कृत्रिमता और अवनत रुचि—११० अ ।

६. ऐतिहासिक काव्य

११४ अ—१२८ अ

ऐतिहासिक काव्य की उत्पत्ति और विकास—११४ अ, प्राकृत म
 ऐतिहासिक काव्य—११७ अ, गडबड़ो—११७ अ, संस्कृत के ऐतिहासिक
 काव्य—११८ अ, हर्षचरित—११८ अ, नवसाहसार्चरित—११९ अ,
 विक्रमादित्यचरित—११९ अ, राजतरंगिणी—१२० अ, राजतरंगिणी का
 ऐतिहासिक महत्त्व—१२२ अ, संस्कृत कवियों की तिथि के निर्णय में गण
 का महत्त्व—१२५ अ, अप्रधान ऐतिहासिक काव्य—१२६ अ ।

७ गद्यकाव्य और चम्पू

१२९ अ—१८१ अ

गद्य की उत्पत्ति और विकास १२९ अ, गद्यकाव्यशैली का विकास
 बार्हस्पतीय—१३४ अ, यूनानी प्रभाव १३५ अ, महाकाव्य की विशेषतायें
 —१३६ अ, गद्यकाव्य के भेद—कथा और आख्यायिका—१३७ अ,
 गद्यकाव्यों की विरलता के कारण—१३९ अ, संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास
 की रूपरेखा—१४० अ, गद्यकाव्यों का विस्तृत अध्ययन—मुग्धु—१४२ अ,
 वासवदत्ता की कथावस्तु और उस का आधार—१४४ अ, कथा का आधार
 —१४५ अ, गण—जीवन—१४५ अ, गण का रचनाकाल—१४७ अ,
 कादम्बरी की कथा—१५१ अ, कथा का मूल स्रोत—१५४ अ, गण की
 व्यावहारिक बुद्धि और पारिजल्य—१५४ अ, गण का प्रकृतिनिरीक्षण—
 १५७ अ, दण्डि—व्यक्तित्व—१५९ अ, निधि—१६० अ, कृतिवा—
 १६१ अ, दशकुमारचरित—१६२ अ, गुण और दोष—१६२ अ,
 शैली—१६३ अ, दशकुमारचरित की कथावस्तु—१६५ अ, दशकुमारचरित
 की कथावस्तु का स्रोत—१६७ अ, गण और दण्डी की तुलना—१६८ अ,
 विद्वत्काल का गद्यकाव्य—१७० अ, शैलभट्टारिका—१७० अ, धनपाल
 —१७० अ, उदयमुदरीकथा—१७१ अ, गद्यचिन्तामणि—१७२ अ,
 वेमभूषणचरित—१७२ अ, आधुनिक गद्यकाव्य—शिवगणनिधय—१७३ अ,
 निमधलेखन—१७३ अ, दयानन्द सरस्वती—१७४ अ, भीमसेन—१७८ अ,

हृषीकेश भट्टाचार्य—१७४ अ, अन्य निबन्धलेखक—१७५ अ, चम्पूकाव्य की उत्पत्ति और विकास—१७५ अ, चम्पूकाव्य की विशेषतायें—१७७ अ, नलचम्पू—१७७ अ, यशस्तिलकचम्पू—१७८ अ; जीवन्धरचम्पू—१७९ अ, रामायणचम्पू—१७९ अ, भारतचम्पू—१७९ अ, वरदाम्भिकापरिणय चम्पू—१८० अ, पौराणिक चम्पू—१८० अ, विश्वगुणादर्श चम्पू—१८० अ, सम्प्रदायों के विवेचक चम्पू—१८१ अ, स्वाहामुधाकर चम्पू—१८१ अ, आधुनिक काल के चम्पू—१८१ अ ।

८. औपदेशिक जन्तुकथायें (नीतिकथायें) और लोकप्रिय कथायें १८० अ—२१६ अ

भारत में जन्तुकथाओं की उत्पत्ति और विकास—१८१ अ, उत्पत्ति—१८२ अ, विकास—१८४ अ, औपदेशिक जन्तुकथाओं की विशेषतायें—१८५ अ, औपदेशिक जन्तुकथाओं और लोकप्रिय कथाओं में भेद—१८७ अ, जन्तुकथाओं का सक्षिप्त विवरण—१८८ अ, पंचतन्त्र—१८९ अ, पंचतन्त्र का लेखक—१९० अ, पंचतन्त्र का रचनाकाल—१९० अ, पंचतन्त्र का विषय—१९१ अ, बौद्ध ग्रन्थ नहीं है—१९१ अ, कथा १९२ अ, पंचतन्त्र की शैली और गुणदोष—१९४ अ, पंचतन्त्र की शाखायें—१९५ अ, तन्त्राख्यायिका—१९६ अ, सरल ग्रन्थ (The Textus Semplicior) १९६ अ, पूर्णभद्र का निष्पादित संस्करण—१९६ अ, दक्षिणी पंचतन्त्र—१९७ अ, नेपाली पंचतन्त्र—१९७ अ, रितोपदेश—१९७ अ; पहलवी रूपान्तर और उस पर आश्रित अन्य पाश्चात्य भाषाओं के रूपान्तर—१९८ अ, भारतीय भाषाओं में अनुवाद—१९९ अ, गुणाढ्य की बृहत्कथा और उस का साहित्य—२०० अ, तिथि—२०० अ, व्यक्तित्व—२०२ अ, स्थान—२०३ अ, ग्रन्थ का रूप—२०४ अ, बृहत्कथा के विषय और उन का आधार—२०४ अ, मद्त्व और गुण—२०५ अ, बुद्धस्वामी का बृहत्कथा श्लोकसमूह—२०५ अ, काश्मीरी बृहत्कथा—२०६ अ, बृहत्कथामञ्जरी—

०७ अ, रमासिखार—०८ अ, साहित्य प्रणय कथायें—२१० अ, मतालपत्रविश्लेषा—२११ अ, कथा—२११ अ, शुकसप्तति—२१२ अ, रमा—२१२ अ, सिद्धासनद्वात्रिंशिका—२१२ अ, सामान्य कथायें—२१३ अ, शिक्षाप्रद या नाति कथायें—२१४ अ, परिशिष्टपर्यन्त—२१४ अ, उपमिति भवप्रपञ्चकथा—२१४ अ, औपदेशक चतुर्कथाओं का परिचय पर प्रभात—२१५ अ, पञ्चतन्त्र क परिचयमी रूपान्तर—२१८ अ, शुकसप्तति क अनुवाद २१६ अ, अनुवादों में आख्यानो में हेरफेर—२१९ अ ।

६ मुक्तक और सूक्ति लेखक

२२० अ—२६६ अ

संस्कृतमुक्तककाव्य का विशेषतायें—२२० अ, संस्कृतमुक्तक काव्य की उत्पत्ति और विकास—२२२ अ, मुक्तककवियों का विशद अध्ययन—२२८ अ, भर्तृहरि—२२८ अ, अमरु—२२४ अ, तिथि—२३४ अ, रचना का उद्देश्य—२३५ अ, विशेषतायें—२३५ अ, निरुद्ध—२३७ अ, जयदेव की तिथि—२३८ अ, गातगाविन्द का विशेषतायें—२४६ अ, गातगाविन्द का लारुप्रियता और रसाति—२४२ अ, गीतगाविन्द का अप भ श मूल—२४३ अ, गृ गारिक मुक्तककाव्य—२४३ अ, गृ गारतिलक—२४४ अ, घटकर्पूरकाव्य—२४६ अ, मयूरशतक—२४७ अ, आर्यासप्तशती—२४७ अ, सुमायितसम्रहों में उपलब्ध श गार मुक्तक पत्र—२४८ अ, स्तोत्र और धार्मिक मुक्तक काव्य—२४६ अ, चण्डशतक—२५० अ, सूर्यशतक २५१ अ, मातंग दिवाकर—२५१ अ, सूक्ति या सुमायित सम्रह—२५४ अ, प्राकृत मुक्तककाव्य—२५६ अ, हाल की गाथासप्तशती—२५६ अ, तिथि—२५६ अ, स्वरूप—२५७ अ, विषय—२५७ अ, शैली आदि—२५७ अ, अन्य काव्य—२५८ अ, नीति मुक्तक काव्य—२५८ अ, प्रमोदक काव्य—२६४ अ ।

१० संस्कृत नाटक की उत्पत्ति, विकास और विशेषताएँ

२६७ अ—३०४ अ

उत्पत्ति और विकास—विहगम दृष्टि—२६७ अ, उत्पत्ति—२६७ अ, भारतीय नाटक का विकास क्रम—२६६ अ, विशेष अध्ययन—भरत

नाट्यशास्त्र का मत—२६६ अ, नाटक की उत्पत्ति में धार्मिक क्रियाओं और कुशीलवों का योग—२७२ अ, वीरकाव्यों का योग—२७४ अ, नाटकों की सत्ता पर वैयकरणों की सत्ता—२७६ अ, पतञ्जलि की सत्ता—२७७ अ, नाटक की उत्पत्ति धार्मिक या लौकिक—धार्मिक—२८० अ, लौकिक—२८५ अ, संस्कृत नाटक का मूल प्राकृत नाटक—२८८ अ, संस्कृत नाटक पर मूलानी प्रभाव—२९० अ, संस्कृत नाटक पर शकों का प्रभाव—२९६ अ, संस्कृत नाटक की विशेषताएँ—२९८ अ, नाटका में संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग—३०३ अ ।

११ संस्कृत नाटक का विकास—भास, शूद्रक और कालिदास
३०५ अ—३७१ अ

द्विषण्डम नाटकों का कर्तृत्व (भास की समस्या)—३०५ अ, भास की तिथि—३०६ अ, कृतिया—३११ अ, भास की नाट्यकला—३१२ अ, भास की शैली—३१४ अ, रूपकों की मायाएँ—३१६ अ, छन्द—३१७ अ, पिछले कवियों पर प्रभाव—३१७ अ, भास के नाटकों की कथाएँ—३१९ अ, भास की अन्य रचनाएँ—३३० अ, शूद्रक के पूर्ववर्ती नाटककार—३३१ अ, शूद्रक—३३१ अ, मृच्छकटिक—३३२ अ, कथानक की मौलिकता—३३५ अ, मृच्छकटिक का कर्तृत्व—३३६ अ तिथि—३३८ अ, शूद्रक का चरित्रचित्रण—३३९ अ, मृच्छकटिक की शैली—३४१ अ, मृच्छकटिक की प्राकृति—३४२ अ, चारुदत्त और मृच्छकटिक का सम्बन्ध—३४४ अ, नाटककार कालिदास—३४७ अ, नाटकों के कथासार—मालविकाग्निमित्रम्—३४८ अ, विक्रमोर्वशीयम्—३४९ अ, आम्रधानशाकुन्तल—३५० अ, कालिदास के नाटकों की प्रमाणिकता और शास्ताएँ—३५१ अ, कालिदास की नाट्यकला—३५३ अ, कालिदास के दोष—३५७ अ, कालिदास का चरित्रचित्रण—३५८ अ, कालिदास की शैली—३६० अ, उपमा कालिदासस्य—३६२ अ, वर्णनशक्ति—३६६ अ, कालिदास का संदेश—३६८ अ, माया और छन्द—३७० अ ।

१२. नाटकों का विकास (चालू)—कालिदास के परवर्ती नाटककार
३७२ अ—४५६ अ

अश्वघोष के नाटक—३७२ अ, शास्त्रिणप्रकरण—३७२ अ, लाक्षणिक और गणिका नाटक—३७४ अ, अश्वघोष के नाटकों की भाषा—३७५ अ, अश्वघोष के नाटकों का छंद—३७६ अ, चंद्र या चन्द्रक—३७६ अ, हर्ष—३७८ अ, हर्ष के नाटकों का वर्तुल्य और तिथि—३८० अ, हर्ष के नाटकों की कथाएँ—३८३ अ, रत्नावली—३८३ अ, प्रियदर्शिका—३८४ अ, नागानन्द—३८६ अ, हर्ष चतुर अनुकर्त्ता—३८८ अ, महेंद्र विक्रम वर्मा का मञ्चलिलास—३८८ अ, भवभूति—साम्प्रत अध्येयन—तिथि—३९० अ, कृतिया और नाट्यरूपा—३९० अ, गुण दाप और शैली—३९३ अ, जीवन का यथार्थ चित्र—३९४ अ, पात्रों के अनुसृत्य मायण—३९४ अ, भावप्रकाशन की शक्ति—३९४ अ, भवभूति का भाषा और छन्द—३९७ अ, भवभूति—विशेष अध्येयन—वक्तृत्व—३९७ अ, भवभूति के नाटकों की कथाएँ—३९९ अ, महावीरचरित—३९९ अ, मालतीमाधव—४०१ अ, उत्तररामचरित—४०४ अ, भवभूति का चरित्रचित्रण—४०६ अ, विदूषक का अभाव—४०७ अ, भवभूति का आलाचकों के प्रति भाव—४०८ अ, नाटक का आदर्श—४०९ अ, प्रेम का आदर्श—४०९ अ, प्रकृतिनिरूपण—४१० अ, कवय रस का चित्रण—४१२ अ, कालिदास और भवभूति की तुलना—साम्प्रत—४१५ अ, वैयम्—४१७ अ, प्रकृतिचित्रण—४१७ अ, प्रेम का आदर्श—४१७ अ, उपमाएँ—४१८ अ, रस—४१८ अ, चरित्रचित्रण—४१८ अ, शैली—४१९ अ, निराश्रय—४१९ अ, रचनाएँ—४२२ अ, मुद्राराक्षस की कथा—४२२ अ, शैली और गुणदोष—४२६ अ, कौमुदीमहोत्सव—४२६ अ, शक्तिमद्—८३० अ, हनुमत्नाटक—४३० अ, मञ्जुनारायण—४३१ अ, वेणोसहार—४३२ अ, कथा ४३२ अ, नाटकीय कला—गुण और दोष—४३५ अ, मुरारि—४३८ अ, अनन्यराघव—४३८ अ, राजशेखर—४३९ अ, रचनाएँ ४४० अ, चैतन्य—४४२ अ,

प्रसन्नरायव—४४३ अ, गुणदोष—४४५ अ, कृष्णमिश्र—४४६ अ, प्रमोद
चन्द्रोदय—४४६ अ, लाक्षणिक या अप्रस्तुतप्रशसात्मक रूपक—४४६ अ,
कुन्दमाला—४५१ अ, शैलो—४५२ अ, कुन्दमाला का कथासार—४५२ अ,
कुछ अन्य अप्रमुख नाटककार—शिवस्वामी—४५४ अ, अनगहर्ष मावराज
—४५४ अ, यशोवर्मन—४५५ अ, मयूरराज ४५५ अ, अन्य नाटक—
४५५ अ ।

१३. भारत और पश्चिम का सम्बन्ध और आदान-प्रदान

४५७ अ—४६४ अ

भारत का पश्चिम से प्राचीनकाल में सम्बन्ध—४५७ अ, भारत और
पश्चिम का पारस्परिक आदान प्रदान—४६० अ, वीरकाव्य और नाटक—
४६० अ, कृष्णपूजा पर ईसाई प्रभाव—४६० अ, दर्शन—४६२ अ,
विज्ञान—४६३ अ, रसायनशास्त्र—४६४ अ, ज्योतिष—४६४ अ, खेल—
४६४ अ, शिल्प और कला—४६४ अ ।

परिशिष्ट

१ कुछ ग्रन्थों के कथासार जो मूल में नहीं दिये गए हैं

१ इ—४ इ

सौन्दरनन्द—१ इ, बुद्धचरित—२ इ,

२ प्रश्नसमूह १—१०७

४ इ—४३-इ

डा० सुधीर कुमार गुप्त की अन्य रचनाएं—

१ दशकुमारचरिते प्रथमोन्द्वासः	२०)
२ दशकुमारचरितम् (पू० पी० १-३, ३० पी०) :	३१)
३ शुक्नासोपदेशः	२॥)
४ Nature of Vedic Shakhas	1/8/-
५ <i>Authorship of Some of the Hymns of the Rigveda</i>	1/8/
६ वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन का सार	२॥)
७ ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख चिन्तित सूची पत्र मंगाएं।	३॥॥)

सूचना—डॉक द्वारा मन्दिर में मगाई हुई स्वप्रकाशित सभी पुस्तकें मापसन्द होने पर पहुच की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय पर रजिष्ट्री द्वारा विक्रेय योग्य टफ्फाली अवस्था में लौटाने पर माहक को उस से लिया हुआ मूल्य मात्र मनी आर्डर से लौटा दिया जायगा।

भारती मंदिर, अनुसन्धान शाला,
४ हीरापुरी गोरखपुर।

भारत प्रेस, गोरखपुर।

छ आना भारती मन्दिर पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प
 सुवीर कुमार गुप्त, एम० ए०, शास्त्री, प्रभाकर, एम० डी० एच०,
 मेघदूत का वैदिक पृष्ठ भूमि और उमका
 सांस्कृतिक सन्देश



यह लेख विद्वान् लेखक न अखिल भारतीय प्राच्य महा-सम्मेलन के अहमदाबाद अधिवेशन में पढ़ा था। इसमें लेखक ने अपने मेघदूत के द्वितीय संस्करण में व्याख्यात पौराणिक कथाओं के वैदिक मूल का शृङ्खलाबद्ध विस्तार कर उनसे प्राप्त सन्देश को व्यक्त किया है। साथ ही अनेकों शब्दों के विश्लेषण से यह दिखाया है कि कालिदास की व्यञ्जना का समझने के लिये योगिक वैदिक व्याख्यान शैली का ज्ञान आवश्यक है।

व्याख्यात कथाएँ—रत्निदेव, बलराम का सूतबध और सारभ्यत जलो का सेवन, त्रिपुरविजय, क्रौञ्चभेदन, देवताओं की योवनावस्था, देवता और अप्सराएं, शिव और कुबेर का मैत्री।

व्याख्यातपद—यज्ञ मघोन, कामरूपम्, पयोद, भद्रधाना, अतिथि, श्रावणम्, मविनु, सुरपति, ताये, पादान, जल, अनिल भर्तुः।

परिशिष्ट—१. लेख में आए मन्त्रों के ज्ञानों और मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद। २. चिह्न विवरण

प्रकाशक—

भारती मन्दिर, नई बस्ती, सुरजा (उ० प्र०)

पुस्तक विक्रेता, विज्ञापक और प्रापक

लेखक की अन्य महत्वपूर्ण कृतियाँ—

१ मण्डूक—द्वितीय महाकाण्ड। उस में विस्तृत भूमिका मलपाठ मन्त्रिनाथ की सस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाक, निष्पत्तियाँ परिशिष्ट आदि हैं। लगभग सभी पौराणिक कथाओं के वैदिक मूल को ज्ञाया गया है। अनुक्रम कृति। सुन्दर छपाई और कागज। मूल्य ५८/

२ संहिता दशमुखाचरित—पुनर्पीठिका के प्रथम तान-व्यङ्गनामा और तत् पीठिका का शाब्दिक हिन्दी अनुवाक और विस्तृत भूमिका सन्ति उत्तम और उन्नत सम्पादन कागज २० X २०/१६ मजिस्ट ३४ ग्रजित ० १०

३ विश्रुतचरित—मलपाठ मन्त्रिनाथ हिन्दी अनुवाक निष्पत्तियाँ और परिशिष्ट में विभूषित। मूल्य १/४/

४ अर्थ प्रामाण्यचित्र—चित्र रूप में अर्थ-व्यङ्गना का प्रामाण्यकरण ४

5 Nature of Vedic shakhas and Authorship of the Phonetic Sutas edited by Dayananda Saraswati /12/

भारती मन्दिर, नई बस्ती गुरजा (६० प्र०)
पुस्तक विहायक, प्रापक प्रकाशक और विक्रेता

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम ए पीएच डी शास्त्री, प्रभाकर

शुकनासोपदेशः



डा० सुधीर कुमार गुप्त मधूत, सस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, दशकुमारचरित, वदभाष्यवृत्ति को दयानन्द मरस्यती की देन, ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख नेचर ओर वैदिक शास्त्राज आदि उच्च कौटि ने विद्वत्ता पूर्ण आलोचनात्मक ओर अनुसन्धानात्मक प्रया के कारण विद्वानों, अध्यापकों और विद्यार्थियों की समान में सुप्रसिद्ध हो हैं। आर ने आध्यात्मिक और सांस्कृतिक शैली अपनाई है जिस में आधुनिक दृष्टि और प्राचीन दृष्टियों का सुन्दर और प्रभावोत्पादक समन्वय पाया जाता है।

इन्ही लब्धप्रतिष्ठ लेखक की बुद्धि और लेखनी से प्रादुर्भूत यह रचना बाणभट्ट की अमर कृति कादम्बरी में उपलब्ध व्यावहारिक ज्ञान के गम्भीर समुद्र शुकनासोपदेश का विस्तृत भूमिका, अभिनव अनिनानात्मक संस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, भाग, सांस्कृतिक और दार्शनिक भावों की प्रकाशिका व्याख्यात्मक तथा व्याख्यादि की टिप्पणियों अलंकार शास्त्र के प्रारम्भिक परिचय और शब्दानुवर्णिका से युक्त एकमात्र प्रामाणिक तथा सर्वज्ञसुन्दर आलोचनात्मक संस्करण है। यह परीक्षार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक, विद्वानों, आलोचकों और अध्यापकों के लिए मननीय और समग्रदृष्टि तथा जनसाधारण की ज्ञानवर्धक रचना है। इस संस्करण की एक विशेषता यह भी है कि यह पाठका में आगे विस्तृत अध्ययन और मनन की प्रवृत्ति

उत्पन्न करता है। इस म ऋग्वेद से ले कर आज तक रचे गये वाङ्मय के अनेकों ग्रन्थों का प्रयोग किया गया है।

आकार २० X ३०/१६ पृ० १२० मूल्य अजिल्द २) सजिल्द २।।)

विषय-सूची

आमुख

भूमिका—१-संस्कृत गद्यकाव्य के भेद कथा और आख्यायिका (१-४), २-संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास का साररेखा (५-६), ३-वाण जीवन (१०-११), ४-वाण का रचनाकाल (१२), ५-वाण की रचनाएँ (१३), ६-इर्षनरित का परिचय (१४-२०), ७-इर्षनरित की सज्जित कथा (२१), ८-कादम्बरी शब्द का अर्थ (२२), ९-कादम्बरी की कथा (२३-३२), १०-वाण के गुण (३३-४३), ११-वाण के दाण (४४-४८), १२-वाण की व्यावहारिक बुद्धि और पाण्डित्य (४९-५६), १३-वाण और दण्डी की तुलना (५७-६१), १४ संस्कृत कविता की तिथियों के निर्णय में वाण का महत्त्व (६२-६४)।

कादम्बर्यां शुकनासोपदेशः

१-२२

परिशिष्ट १—टिप्पणियाँ, शान्दिक द्विती अनुवाद और भाव।

परिशिष्ट २—अलंकार शास्त्र का प्रारम्भिक परिचय।

काव्य (२), शब्दशक्ति (३), अभिधा (४), लक्षणा (५), व्यञ्जना (६), रस (७), नायक (८), नायिका (९), गुण (१०), रीति (११), करिषमवप्याति (१२), अलंकार (१३)—१-अनुप्रास २-यमक ३-श्लेष ४-उपमा ५-उत्प्रेक्षा ६-रूपक ७-गिरोधामास।

शब्दानुक्रमणिका

खुन्ना—दार्द और कोष्ठकों में मदमो की मग्ना दिग्गई गटे है।

विशेष सुविधा—प्रकाशक से डाक द्वारा मैगाई हुई पुस्तक पसन्द न आने पर पुस्तक प्रति की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय पर रजिस्ट्री द्वारा प्रिकय योग्य टकमाली अगस्था में लाटाने पर ग्राहक को उस से लिया हुआ मूल्यमात्र मनीआडर से लाटा दिया जायगा।

भारती मन्दिर, ४ हीरापुरी, मोरखपुर (उ०प्र०)

गद्यपारिजातविवरण

इस ग्रन्थ में संस्कृत गद्य और गद्य काव्यों से चुने हुए अधो लिखित स्थला का शाब्दिक हिन्दा अनुवाद दिया गया है। अनुवाद से पूर्व आवश्यक पदों पर मौलिक व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। पाठ के आरम्भ में उसका माग भी दिया गया है।

१—इत्तपथ ब्राह्मणे मत्स्यावतारोत्तहासः ।

—तैत्तिरीयोपनिषदि शिखावल्ली, भृगुवल्ली च ।

२—बृहदारण्यकापनिषदि याज्ञवल्क्यमंत्रे यासवाद (२/४) ।

४—महाभाष्ये व्याकरणाध्ययनप्रयोजनानि ।

५—समुद्रगुप्तप्रशस्तः ।

६—दशकुमारचरितं अप्ठम उच्छ्वासः ।

७—कादम्बर्याम्— जायाल्याभ्रमवर्णनम्, जायालिवर्णनम्, मुनि-विषयको विचार, पत्तिविषये तापसाना जिज्ञासा तन्निवारण च, शुक्नासोपदेशः ।

८—हर्षचरितं मप्ठम उच्छ्वासः—(आदित कुमारस्य वशादिर्षाचय यावत्)

इस विषयसूची से ही पुस्तक की व्यापकता का अनुमान किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का भा शाब्दिक, मौलिक और प्रामाणिक अनुवाद अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

पृष्ठ संख्या ३०२

मूल्य ६)

सूचना—प्रत्येक प्रामाणिक प्रति पर लेखक के हस्ताक्षर अमेजीम (S K Gupta) अंकित मिलेंगे।

विद्यार्थियों के लिये महायज्ञ पुस्तकें—

प्रो० सुधीर कुमार गुप्त के आगामी प्रकाशन—

अगस्त मिनम्बर १९५४

(१) रघुनग—दूधध और तेरहवाँ संग, प्रत्येक लगभग २)

(२) कुमारसम्भव—५ वा संग, लगभग १)

(इन में विस्तृत भूमिका, मूलपाठ, सशोधनी टीका सिद्धा अनुवाद, टिप्पणियाँ, परिशिष्ट और अनुक्रमिकाएँ हैं) । अनुपम संस्करण ।

दिसम्बर, १९५४

(३) महाभारत का सुगोप इतिहास (प्रश्नोत्तर रूप में)

द्वितीय परिचालित और सशोधित संस्करण, लगभग ३।।)

फरवरी, १९५४

(४) अभिज्ञान शाकुन्तल और उसका एक अध्ययन—इसमें मभेद मूल पाठ, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद टिप्पणियाँ, ग्राह्य भूमिका, परिशिष्ट, अनुक्रमिकाएँ तथा प्रश्नोत्तर होंगे ।

लगभग १०।)

प्रो० गुप्त के ने त्रिदत्तापूर्ण, सरल, स्पष्ट, सक्षिप्त और पूर्ण संस्करण अत्यन्त अप्राप्य हैं । इनके मेघनूत आदि ग्रन्थ हागें हाथ विकते रहे हैं । उनमें इन प्रकाशना का उपादेयता का अनुमान कर सकते हैं ।

मूल्य अभाव भय कर प्रति सुरक्षित करने वाले छात्र और अभ्यासकों का मूल्य का १ कमीशन आर प्रो बक व्यव दिया जायगा । यह सुविधा केवल उन्हीं ही दा जागी जो अपनी प्रतिया प्रमग १२ अगस्त, ३० मिनम्बर और ३१ अगस्त १९५४ से पूर्ण सुरक्षित करायेंगे । इसी प्रकार पुस्तक-चित्रिकाओं को भी विशेष अतिरिक्त सुविधा दी जायगी ।

भारती मन्दिर,

नई बस्ती,
मुरजा (व० प्र०)

अर्थव्यञ्जकताचित्रम्

इसमें चित्र व आकार में काव्य-प्रकाश और माहित्यदर्पण के अर्थव्यञ्जना के प्रकारों का सरल संस्कृत में सक्षिप्त और मार्मिक स्पष्टीकरण दिया गया है। यह एम० ए०, शास्त्री और विशारद के चेन्नादियों के लिए अनुपम पस्तु है। इस चित्र को दोरार पर भटकाया जा सकता है। कागज और छपाई बढ़िया है।

मूल्य -/४/

कुछ सम्मतियां—

1. *Pt Gauri Shanker, M A, B Litt, P. E. S, Gora College, Hoshiarpur (formerly at Lahore) and Member Board of Studies in Sanskrit Punjab University.*

“It is very instructive and at the same time lucid and comparative”

2. *Prof M K Sircar, M A (Calc & Dac), Formerly Head of the Sanskrit Deptt D A V College, Lahore and Lecturer Punjab University Lahore now Head of the Sanskrit Deptt Hansa Raja College, Delhi*

“I have recommended it to the M A students of the Pub I find the chart very useful for the students of Sahitya in M. A and Shastr and Visharada Examinations”

3. *Prof N N Chitambar, M A, K T, V. T. Shastri, formerly Senior Lecturer in Sanskrit, Ranga College, Delhi Now Reader in Sanskrit, Delhi University, Delhi*

'It is admirably fitted to serve the purpose for which it is published I have already recommended your 'citram' to my M. A. students

4 *Pt Vana Mahi Sharma Chaturveda, Sahityacharya, Kavya Tirtha etc, Shri Mathur Chatur Veda Vidyalaya, Dempier Park, Mathura*

“श्रीयुत श्री सुधीर कुमार गुप्त” के काव्यप्रकाश तथा साहित्य दर्पण के यथार्थ अर्थानुसार अर्थव्यञ्जकताचित्र को देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। परिश्रम सराहनीय है। उनके इस काये से न केवल छात्रों को ही अपितु अध्यापकों को भी सरलता होती है।

इस की प्रति सभी साहित्याध्यापकों के पास अवश्य रहनी चाहिए।”

5 *Pt. Brahmananda Sukla Vyakaranalanakara Shastri, Shri Radha Krishna Sanskrit College, Khurja (U. P.)*

“प्राच्य प्रतीक विद्याविनोदनिपुणानां श्रीमता मतिमता सुधीर-गुप्तमहोदयानामभिनवा कृतिमार्थव्यञ्जना चित्रतया पद्वत्या चित्रितमयनोक्त्य परा मुदमवाप्तवानभि। मातु शारदाया सेवाया प्रसारप्रकाशोऽयमिति विनेयानां महा-तमुपकार करिष्यति इति च सर्वथा प्रचारमस्य कामये।”

भारती मन्दिर

नई बस्ता

सुरजा (उ० प्र०)

डा० फतहमिह, एम० ए०, डी० लिट्,

कामायनी सौन्दर्य



यह कामायनी की प्रामाणिक सांस्कृतिक, दार्शनिक और भारतीय ऋग की सर्वांगपूर्ण अनुपम आलोचना है। परीक्षार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तक, विद्वानों और आलोचकों के लिए समझणीय और मनमोहक की ज्ञानवर्धक है। नया संस्करण सजिल्द ४॥॥
थजिल्द ४॥ पहला संस्करण—२॥

मुख्य वितरक—

भारती मन्दिर,

नई बस्ती, गुरजा (उ० प्र०)

कामायनी सौन्दर्य

डा० फतहसिद्द, एम० ए०, डी० लिट्

(वेदिक एगोलॉजी, वैदिक दर्शन, भारतीय समाजशास्त्र, मूलाधार,
साहित्य और सौंदर्य आदि प्रख्यात, मौलिक ससार
आर अनुपम कृतियों के रचयिता)

आपने साहित्यक्षेत्र में भारतीय ढंग पर सांस्कृतिक तत्त्वों की परिचायना विवेचना का सुत्रपात कर एक नयी मार्ग का प्रवर्तन किया है। अपने साहित्य का यथार्थ रूप में समझने, उस से उचित अनुभूति प्राप्त करने तथा साहित्य की अपिच्छिन्न निरन्तर गारा की सतता के ज्ञान के लिए हमें इस प्रकार के मार्ग की निरन्तर आवश्यकता थी।

कामायनी सौंदर्य का पहला संस्करण अगस्त १९४८ में निकला था। उस में २५५ पृष्ठ थे। उस की प्रशंसा विद्वानों ने मुत्तकण्ठ से की। एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए उसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया।

अब उसका नया संस्करण इस वर्ष नई सज्जन के साथ प्रकाशित हुआ है। इस में पुस्तक का आकार पहले से दुगुने से भी अधिक हो गया है। इस में २२५ पृष्ठ हैं। विषयक्रम में परिवर्धन, परिवर्तन और सशोधन कर दिया गया है जिससे पुस्तक का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

नवीन शीर्षकों में खण्डानुसार कामायनी का कथा, दार्शनिक आधार-शिला और विश्व साहित्य में कामायनी उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक न केवल परोक्षार्थियों के लिए ही पढ़ने योग्य है प्रत्युत समस्त हिंदी और संस्कृत के विद्वानों, समालोचकों, भारतीय सांस्कृतिक प्रेमियों, भारतीय साहित्य प्रेमियों और जनसाधारण के

लिए पढ़ने योग्य है। विषयसूची साथ दी है जिस से पुस्तक की जानकारी का ज्ञान सहज में हो जा सकता है।

विषय सूची

कथा-परिचय—पूर्वपोठा १ चिन्ता २, आशा ३, श्रद्धा ४, काम ६, वासना ८, लज्जा १०, कर्म १३, ईर्ष्या १६, ईडा २१, स्वप्न २६, मय २८, निर्वेद ३५, दर्शन ४०, रहस्य ४६, प्रानन्द ५१।

कामायनी का आधार —

(१) देवत्व—कामायनी को देव-सम्भ्यता-५५, वैदिक देव-सम्भ्यता से तुलना-५७ कामायनी और वेदों में देवत्व-६४।

(२) असुरत्व—कामायनी की देव-सम्भ्यता में अनुरत्व ६६, मन्वा देव-सम्भ्यता-७१, असुर-सम्भ्यता (कामायनी में)-७५, असुर-सम्भ्यता वेदों में) ७७।

(३) देवामुर सधाम—(क) ऐतिहासिक-७६, (ख) सांस्कृतिक-८०, (ग) दाम्पत्य जीवन-८६, (घ) राजनीतिक जीवन में-८९; नारस्थत-प्रदेश-९० (ङ) असुरत्व की पराजय-९२, (च) देवत्व की विजय ९२, (छ) अन्तर्जगत में देवामुर द्वन्द्व-९३।

कामायनी के पात्र

मनु के तीन रूप—(१) वैदिक-कर्मकाण्ड ऋषि—(अ) तपस्वी मनु-१००, (आ) हिंसक यशमान मनु-१०२, (२) मनु प्रजापति—(०३, ईडा-१०८, रुद्र-११७, (३) पथम पथ-प्रदर्शक मनु—(क) प्रसाद का पथ-प्रदर्शक-११६, पथ की खोज-१२०, प्राप्ति-१२०, पथ-प्रदर्शन-१२१ (घ) वेद का पथ-प्रदर्शक-१२०, श्रद्धा-१२४, यम-यमी-१२८, कुमार-१२६, (४) जलप्लावन-१२६।

काव्य और महाकाव्य

(क) कवि और काव्य - (१) कवि-११०, (२) रस क्या है? -१४०; (३) काव्य-१४८, (४) काव्यरस-१५१; (५) एकत्व, अनेकत्व, अद्वैत-१५३; (६) नाट्य-श्रेष्ठ-काव्य-१५७; (७) काव्य या साहित्य-१६३; (८) साहित्य, काव्य के भेद-१६७; (९) आदि कवि और आदि कविता-१६८, (१०) काव्य प्रेरणा—(क) प्राचेतम-१७४, स्फोटवाद-१७५, (ग) नाद, अनादृतनाद तथा महानाद १७७, (घ) प्रेरणा का उद्गम-१७८; (११) महाकाव्य—(क) परम्परागत लक्षण-१८२; (ख) लक्षणों के अर्थ-१८६; (ग) लौकिक और अलौकिक समन्वय-१९१; (घ) देवामुर-संगम-१९१; (ङ) देव-दृष्टचित्रण का उपयोग-१९८,

कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्यात्मा)

(क) कामायनी में रस-१९६; मायविलास-२०८, एकरस-२०७; (ख) रस का समाजीकरण-२०९; कथानक और नायक २०६, इतिहास-२०६; कथानक का सदाधयत्व-२१३; रस-समाजी-करण का रहस्य-२१५; (ग) चतुर्युगी शक्ति-सम-अर्थ-२१६, धर्ममोक्ष-२१८, (घ) कामायनी में रूपक-२२०, व्यष्टिसाधना-२१२; समष्टि-साधना-२२४ ।

कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्य शरीर)

[क] वहिरंग-२२७; [ख] वस्तु विस्तार की नाटकीयता-२३२; [ग] कामायनी के चरित्र विषय-प्रकृति का स्वरूप-२३७, प्रकृति-पुरुष का संघर्ष-२४९, [घ] प्रकृति के पुतलों का संघर्ष स्त्री-पुरुष में-२४४, समाज में-२४५; प्रकृति के पुतलों की भाग्य विधात्रा-२४७; [ङ] नारी-रूप २४८; [च] प्रकृति-चित्रण-२६० ।

दार्शनिक आधार-शिला

[१] व्यक्तिगत जीवन की देन-२७५; [२] गीतों की विमृति-

२६६ [३] शैवागम का प्रभाव ३०० [क] 'लहर' से त्रिपुर सुन्दरी कामकला-२३४, महात्रिपुरसुन्दरी-३०८, त्रिपुर-३३० शक्तिशक्तिमान् ३२० [४] समाज समीक्षण की समृद्धि ३२६।

गिरव साहित्य में कामायनी—

आदि-मानव या मानव सामान्य

(क) मन्वन्तर ३६८, मन्वन्तरो का रहस्य-३७३ (ग) विद्वत् साहित्य में मन्वन्तर-३८४।

आदि मानव—(ग) आदि मानव का रूपांतर ३६६ प्रमुख महाकाव्य ४०० उपसंहार ४१३।

कुछ सम्मतियां

यह गम्भीर लेखक के पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम है।

'डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्

'डा० फतहसिद्दी जी ने 'कामायनी' का विवेचन दार्शनिक, सांस्कृतिक और प्राचीन परम्परा के दृष्टिकोण से किया है। यह पुस्तक हिन्दी के गौरव को बढ़ाने वाली है।' देशदूत।

'प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वैदिक साहित्य का वास्तविक अनुशीलन करके विशुद्ध भारतीय परम्परा और कामायनी की आधारभूत बातों को विस्तार के साथ समझाया है।' बीणा

'मनु भट्टा, इडा, कुमार और जलप्लावन का अखलाघट्ट इतिहास पहली बार कामायनी सौन्दर्य में मिलता है। महाकाव्य के लक्षणों का विश्लेषण भी हिन्दी में पहली बार इतनी गम्भीरता से हुआ है। यों 'कामायनी-सौन्दर्य' कामायनी पर लिखी सभी पुस्तकों से निराली और अनुपम पुस्तक है।' साहित्य मन्देश

डी० फतहमिह एम० ए०, डी० लिट् साहित्य और सौन्दर्य

कामायनी सौन्दर्य के प्रख्यात लेखक की दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि ने इस पुस्तक में प्रतिपादित विचारों को परम देशीयमान कर दिया है। लेखक का प्रमाण्ड वैदिक ज्ञान शास्त्राय विषय के मूल सिद्धान्तों के स्पष्टाकरण में एक प्रभावशाली और राक्षस तथा युक्तियुक्त साधन बन पड़ा है। उसमें वे इन विषयों को जीवन और उसकी सृष्टि का अंग बनाकर काव्य के चतुर्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य को सम्भव कर पाए हैं। पुस्तक ॥ छै निबन्ध हैं, जिनके विषय तो पुराने हैं, परन्तु नज़र और प्रतिपान्तरशैली एक दम नई और वास्तविक है।

निबन्धों के शीर्षक—

[१] कवि और काव्य—(१-११), [२] भारतीय महाकाव्य—४५-६०, [३] नेमिदूत का काव्यत्व—६३-७२, [४] साहित्य और सृष्टि—७५-८६, [५] सौन्दर्य और उसका शास्त्र—८७-११४, [६] पूर्ण की ओर—११५-१३१ अतः में पद सूचा है।

छात्र और गैटबैक आदि आकर्षक हैं। मूल्य १-१४-०
हार उपय (माधारण बुक पोस्ट) ०-२-६

कुछ सम्मतियों—

‘कवि और काव्य’ में लेखक ने विशेषतः ‘रस’ और ‘काव्य’ पर अपूर्व विचार सामने रखे हैं। लेखक का, गहोर मनन-मनन तथा निदिध्यासन, इस निबन्ध के पक्ष-पक्ष में बोल रहा है। मैं तो इसे हिन्दी साहित्य की संपत्ति मानता हूँ। और सर मे बढिया बात यह है कि नये नये होते हुए भी लेखक की दृष्टि और आस्था

पूणेत भारतीय है। लेखक न पुरानी परम्परा को अस्वीकृत करते कुठित हुआ है, न भारतीय दृष्टि को दुहराने में द्विचका है। आदि कवि व सम्बन्ध की उनकी युक्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं, बहुत तरुपूर्ण हैं।

स्वतन्त्र भारत

‘यह पुस्तक बहुत मनोयोग से मनन करने योग्य है। ‘रस चाद्र से ऊँचे या उसकी अपेक्षा करने वाले (रसत्रद को तत्त्वतः बिना जाने भी) इस पुस्तक में बहुत सी विचारोत्तेजक सामग्री पायेंगे और पढ़ने का भ्रम व्यर्थ न जायगा।

डा० बलराम प्रसाद मिश्र

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने भारतीय और बाह्य सभी दृष्टिकोणों से साहित्य और सौंदर्य की चिन्तना की है।

इस (सौंदर्य और उसका शास्त्र) प्रकरण में लेखक ने इस विषय की एक नींव डाली है जो कि भविष्य के विवेचकों के लिये बहुत काम की निहो हो सकता है।

हरिचन्द्रम श्री० ए०, साहित्य रत्न

गंगा किनारे

उलभन गंगा किनारे, सुख की नींद, सुनीता, पहाड़ी, बीरागा, पत्नी का पाप, न बाधा मन का मोन, प्रायश्चित्त—इन नौ कहानियों का २० × ३०/१६ के आकार का १०० पृष्ठ का यह संग्रह मन को मुग्ध और प्रभावित करने वाला है। इसको कहानियाँ देव विश्वासी करण रस प्रधान, सरस, सामाजिक, क्रियाकलाप की दृष्टि से पूर्ण सफल, नारी जीवन, उसकी कठिनाई और उनके अनेक रूपों और विविध स्तरों की प्रकाशिका, प्रामाण्य जीवन की पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठित, वस्तुविन्यास में नाटकीयता पूर्ण, विदग्ध

व्यजनाओं और कलामक स्फुरणाओं से युक्त हैं। लेखक का यह प्रशंस परम सफल और रोचक बन पड़ा है।

मूल्य १४० वाक यय (रागागण चुक पोस्ट से) ०१०

भीमसेन शास्त्री, विद्याभूषण, एम० ए०, एम० ओ० एल०

अलंकार दीपिका—

शास्त्री जी न इसमें आगरा राजपूताना आदि विश्वविद्यालय में बी० ए० स्नातक के पाठ्यक्रम में निर्धारित काव्यदीपिका की अष्टम शिखा का निरुद्ध उपोद्घात हिंदी अनुवाद और व्याख्या तथा पराशर्यों और अनुक्रमणिकाओं से विभूषित सम्पादन किया है।

प्रथम परिशिष्ट में अष्टाहरणप्रतीक सहित समस्त कारिकाएँ दी गई हैं। इन में विषय को स्मरण कर परिशिष्ट - २ और अनुक्रमणिका २ की सहायता से विद्यार्थी अपना परीक्षा स्वयं ल सक्ता है।

गठ सरया—१ आकार २०×३०/१६

मूल्य ११० वाक्यय २१

मुरय वितरक—

भारती मन्दिर, खुर्जा (उ० प्र०)

पुस्तक विज्ञानक, पापर प्रशक व विक्रेता

टा० कनहमिह एम० ए०, डी० लिट

वैदिक दर्शन

(हरजीमल डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत और शानपूताना विश्वविद्यालय से महायता प्राप्त)

सामायनी जौन्दर आदि के प्रस्थान रचयिता की यह कृति अपनी अनग हा विशेषता रखना है। वैदिक दर्शन का इतना गम्भार, विस्तृत, वैज्ञानिक, तान्त्रिक और विशद व्यवधान अन्यत्र नदत-नहीं। मैक्समूलर काउमन, राथ, डा० राधाकृष्णन आदि की कृतिया से वैदिक दर्शन की गूढ़ और वास्तविक विचारधारा का परिचय प्राप्त नहीं हाता। कान्तप्रज्ञ कथिया के दर्शन से प्राय प्राय प्राकृतिक देवी-देवताआ जड वस्तुआ आदि की स्तुति तक सीमित रखना ही इतर कृतिया में पाया जाता है। यह कृति उन दोषा ने मुक्त है। लेखक की दृष्टि घड़ी व्यापक है। उसका क्षेत्र ऋग्वेद से उपनिषदों तक फैला हुआ है। सर्वत्र वह एक ही दर्शन एक ही भाव, एक ही विचारधारा से पाता है। सक्षेप से इस कृति ने वैदिक दर्शन के विभिन्न तन्वा का समन्वय कर उन्हा एक सूत्र में पिरो सुन्दर मुक्ताहार का रूप दे दिया है। आसार २० x २०/१६ प्रातः ०७५ मूल्य अनिल १) मन्लिड ६) चाकव्यय १॥, १२)

विषय सूची

पिएडाएट—१, क्रया यापुरी—[क] मागी से पुनला—१, [ख] पञ्चकोश—१ [ग] शरारत्रय तथा तीन अग्रस्थाये—१।

० कृति—[क] क्रियाशक्ति—११ [ख] ज्ञानशक्ति—१३, [ग] उन्वाशक्ति—१५ [घ] मौन्थानुमृति—१७ [ङ] अन्त वरग तथा परा शक्ति—२०।

२ शक्ति और शक्तिमान्—[क] ओ३म्-ॐ-०४, [ख] वाक्-०५ [ग] आगम ग्रन्था में वाक्-०५ [घ] नाद, अनाहत-नाद और महानाद-०६ [ङ] वाक् और चेद (अथवा गिर)-१६, [च] व्याप्तिया तथा ग्रहणाक्य (वेद) ०७ ।

४. पुरुष—[क] पुरुष और शक्ति का मिश्रण-३४, [ख] एकसत्रीय स बहुसत्रीय मगीत ३८, [ग] पौकत पुरुष-५०, [घ] मन्त्राज, स्वराज् तथा विराज्-४६, [ङ] निमर्श और माया-४४ ।

पिएटाएड और ब्रह्माएड—१ मूल सिद्धान्त—[क] साम्प्रय और एकता-६३, [ख] दोनों की एकता-६६, [ग] समाज के तत्त्व-७०, [घ] साम्प्रय-एकता सिद्धान्त का महत्त्व-७४ ।

२ वैदिक-देवता-१११, जनक और जननी—[क] उत्पत्ति-७६ [ख] निरावरुण ८१, [ग] वरुण और आप-८६, [घ] वाक् वरुण और देवी-८६, [ङ] वरुण, असुरत्व तथा महत्-६७ ।

३. अदिति, दिति और उनके पुत्र—[क] अदिति और दिति-१०१, [ख] आदित्य और मनुयज्ञ-१०५, [ग] अग्नि-१०८ [घ] सोम-११५, [ङ] सोमवृक्ष-१०५, [च] इन्द्र-१३४ ।

इदम् और अहम्—१ त्रिवेद और उनके शतृ-मित्र—[क] रवेण, सोम तथा इन्द्र-१२२, [ख] गायत्री, ज्येष्ठ तथा साम-१४४, [ग] राम्बर वृत्र, शुक्र और सर्पराज १४५ [घ] अरब, अश्विनौ तथा गारात्री-१५७, [ङ] बृहती, बृहस्पति तथा नक्षत्र-१५१ ।

२ इदम् और अहम् की त्रिकुटी—[क] नाम रूप-कर्म-१७८ [ख] छन्द और छन्दोमा-१८०, [ग] ऋषि, दयना और छ-१८५, [घ] ब्रह्मा, विष्णु और मू-१८८

His Excellency R. R. Dinakar, The Governor of Bihar

'I am glad that you have upheld the view that the V-das are not merely a collection of the babblings of infant humanity but are full of guidance to spiritual aspirants

Dr G. K. Hajj, The Iranological Institute, Tehran (Iran)

I find that you have given some new interpretation and that it is very deep and comprehensive

मुख्य वितरण —

भारती मन्दिर, नई बम्बई, मुम्बई (३० प्र०)

पुस्तक विज्ञापन, प्रापक प्रकाशक और विन्नेदा

टा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट

भारतीय समाज शास्त्र: मूलाधार

मूल्य सजिल् १॥१ अजिल् ४॥ द्वार यय १॥१

डा० फतहसिंह कामायनी सौन्दर्य, वैज्ञानिक ज्ञान, साहित्य और सौन्दर्य तथा वैज्ञानिक गतिमालीजी आदि अनेक कोटि व विद्वाना-पुर्ण अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के कारण विद्वत्समाज में सुप्रसिद्ध हो गई है। उनकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक शैली में अध्ययन की एक नई परम्परा चलवाई है जिसमें आधुनिक नैतिक और प्राचीन ज्ञान का सुन्दर और प्रभावोत्पादक समन्वय किया है।

उन्हीं प्रख्यात लेखक की लेखनी में यह पुस्तक प्रकट हुई है। प्रसिद्ध पुस्तक समाजशास्त्र पर लिखा गई अब तक का नया

पुस्तक से अलग सी जान पड़ेगी । अब तक जो पुस्तके इस विषय पर लिखी गई हैं उनका दृष्टिकोण प्रायः भौतिकवादी ही रहा है, परन्तु यहाँ पर समाजशास्त्र के आध्यात्मिक दृष्टि से देखा गया है । दूसरी विशेषता यह है कि उसमें उन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी यथासम्भवन समावेश किया गया है जो भारतीय ऋषियों और मुनियों के मस्तिष्क से उद्भूत हुए थे । यथासम्भवन इन सिद्धान्तों के क्रियात्मक रूप तथा उन्म पर आश्रित एवं उससे अनुप्राणित समाज के क्रमिक विकास को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है ।

विषय सूची

१ विषय प्रवेश—परिभाषा—१५, विषय का स्वरूप और विस्तार—२१७, अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध—१७२३ ।

२. समाज और व्यक्ति—[क] समाज का नामरूप २४-२४, समाज और लोक २५-३१ लोकत्व और समाजत्व-३१-३२, लोकमत समाजमत और राष्ट्रमत-३२-३३ अन्तर्राष्ट्रीय समाज ३३ ३४, विश्वसमाज-३४-३७ समाज क्या है?—३७-३८, [ख] व्यक्ति का नाम रूप-व्यक्ति-४०-४० चिन् की अभिव्यक्ति-४०-४१ व्यक्ति का व्यवहार ४१-४३ समाज की इकाई-४३-४६, [ग] व्यक्तियों से समाज बनता है । -४० ४६ ।

३ प्राणन-यज्ञ—[क] प्राणन-४७ ४८ [घ] यज्ञ की वर्णना ४८-४९ पुरुषयज्ञ-४९-५०, समष्टि में पुरुषयज्ञ-५०-५५ समाज में पुरुष-यज्ञ-५५-५६ पुरुष यज्ञ का प्रतीक-५६-५८ शिरालिङ्ग -५८-५९ ।

[ग] अग्नि-यज्ञ-५३-५४, अग्नि का महत्त्व-५४-५५, अग्नि

सर्गीकरण-७४-८०, वर्ण व्यवस्था-८०-८७ [घ] आश्रमशुद्धि-८७-८९, भ्रमणवाद-८९-९७।

४. समाज का विकास [क] विकास के सात लोक-८८-८९, व्यक्ति-विकास-९०-९३, व्यक्ति म समाष्टि का विकास-९०-९४, लोक में समाजत्व का विकास-९६। [ख] हास के लोक-९६-१०१, [ग] चार युग-१०१-१०२, युग भेद-१०५-१०६, [घ] नारी, नारायण और वृहती-१०६-११४, [ङ] मन्वन्तर-११५-१२१, मन्वन्तरों का रहस्य १२१-१३४।

५. विकास-सिद्धान्त—सिद्धान्तलोक-१३५-१३८, उत्क्रमण निक्रमण-१३८-१४०, अनुविचक्षण-१४०-१४१, समाजतन्त्र-१४१-१४७ पुरुषवाद-१४७-१६४, चार मोहरे-१६४-१६८, आधुनिक विकासवाद के ढंग पर-१६८-१७३।

६. विकास के मत—ऐतिहासिक मत-१७४-१७८, आत्मवादी मत १७८-१८६, अवतारवाद १८६-२०४।

७. भारतीय विकासवाद और क्रान्तिकर्म—[१] भारतीय विकासवाद-२०५-२०७, [२] भारतीय संस्कृति का क्रान्तिकर्म-२०८-२१४, [३] शान्दी का सामगान-२१४-२१७।

द्वितीय खण्ड में भारतीय समाजशास्त्र के विज्ञानिक रूप और तृतीय खण्ड में वर्तमान समाज और हमारी समस्याओं का विश्लेषण होगा।

मुख्य विवरण—

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (र० प्र०)

पुस्तक चिह्नापक, प्रापक, प्रकाशक और विक्रेता



Dr Fatak Singh, M A, D Litt

The Vedic Etymology.

(Being)

A Critical evaluation of the Science of Etymology as found in Vedic Literature

The book contains a critical evaluation of all the etymologies found scattered over the vast Vedic Literature. These derivations have often been regarded as nonsense having no philological value at all. On critical examination however the present work has found them not only to be of utmost philological value but even of great help to the interpretation of Vedic texts.

In his foreword the author has discussed the problems concerning the nature of Vedic Etymologies, the apparent absurdity in them and words having more than one derivation and has finally arrived at certain laws of semantics underlying these etymologies. The number of these laws is eleven. It forms a part of the author's D Litt Thesis of the Banaras University.

The book is thus indispensable to all students, teachers, research scholars of Vedic literature, philology, Sanskrit Literature and philosophy and religion.

Number of entries 833 Fine printing & set up

Page 232 Size 20 x 8 Rs 24

Cl. of Arts & Subj. is —

BHARATI MANDIRA,

Nai Basti, KHURJA (U P)

Waiters Order Suppliers, Book sellers & Publishers

ANNOUNCEMENT—

The research department attached to the Bharati Mandira proposes to issue the following books in 1955. Orders can be booked in advance on payment of prices indicated against each.

१ मयदेवज्ञपतिडित्येदिकभाष्यम्—The work will contain all the comments of the author on Vedic Mantras found scattered in his commentary on the Gita. The book will also contain footnotes giving interpretations of other commentators & scholars. Rs 10

२ निघण्टुनिष्कृतनिर्यचनादिकोष (याज्ञ सोप) --

The work will contain all the etymologies, interpretation and discussions found in the Nighantu and the Nirukta. New light is also thrown on some readings of the two works, not noticed by Dr. L. Sarup. Rs 20 -

३ दयानन्दीयनिघण्टुनिष्कृतभाष्यम्—The work will contain all the interpretations of Nighantu words and Nirukta passages found in the works of Dayananda Sarasvat. Rs 15

४ Etymologies in the work of Dayananda. It is proposed to evaluate critically all the etymologies found in the works of Dayananda. Rs 20 -

Issued by —

The Research Department

BHARATI MANDIRA, Nai Basti,

KHURJA (U P)

आचार्य अभयदेव जी

१ वैदिक उपदेशमाला—इस लघु कृति में बारह वैदिक उपदेशों का व्यख्यान और प्रतिपादन किया गया है। इनके प्रयोग से प्रत्येक मानव अपने कुल, समाज और राष्ट्र के जीवन को अन्नत बना सकता है। लेखक की इच्छा है कि प्रत्येक मानव एक मास में एक उपदेश पर आचरण करे और इस प्रकार एक वर्ष में समस्त उपदेशों का अपने जीवन का आनंद बना ले। उपदेशों का शार्पक यह है—

[१] उपदेश ग्रहण करना-१ [२] एकान्त विचार-२, [३] मातृकाल उठना-१६ [४] प्रलाभन को जीतना-२३, [५] वीर-रक्षा-३१ [६] त्याग-४२, [७] देशपत्ति ५४, [८] सुशासन-६१, [९] अद्धा-६७, [१०] सत्य ७१, [११] अहिंसा-८३ [१२] विश्वप्रेम-६१।

तोसरा संस्करण मूल्य आजल्द ० १२-०

डाक-दर ०-१६

२ वैदिक विनय—प्रथम खण्ड—यह इस ग्रंथ का पाँचवां संस्करण है। पूरा संस्करण में मासिक प्राणदायक व्यायामों का अभाव था, वह इसमें दूर कर दिया गया है। चित्र आठ पेपर पर एक रंग में छप हैं। प्रातःदिन के पाठ के लिये एक वेद मन्त्र भाषात्मक व्याख्या और शब्दार्थ सहित रक्खा गया है। पुस्तक स्वाध्याय और प्रार्थना के लिये उत्तम और उपयोगी है। प्रथम खण्ड में चार भाग के स्वाध्याय का निमित्त १२४ मंत्र हैं।

मूल्य २ ००

डाकदर ० ५-६

३ तरंगित हृदय—इस कृति में लेखक ने अपने मानस सर में उड़ने वाली विचारतरंगों के २१ शब्द चित्र संकलित किये हैं। स्वर्गीय स्वा० अद्भुतानन्द जी का कथन है— तरंगित हृदय से निकली

हुइ विचार तरंग माला का मध्य छाँद कर बना कर जो शुद्ध हृदय सज्जन पहिरेंगे, मास्तृष्क को शान्त करने वाली सुगन्ध उन्हें अवश्य मिलेगी।

संगृहीत शब्द चित्र—

[१] नमस्कार-१, [२] तेरा कौन है ?-५, [३] चातक का वैराग्य-८, [४] षोडश माग-११, [५] सतान वाचा कौन है ?-१५ [६] प्रतिष्ठा-२४ [७] 'योद्धा सा'-३३, [८] हसता हूँ-४१ [९] सन्ध्या-४६ [१०] उद्घोषन-४०, [११] भयकर-अग्निकाण्ड-५४, [१२] तेरी योग्येवार्ज ६७, [१३] नग्नता-७२, [१४] मेरी यात्रा-७६, [१५] अदूरदृष्टि-८५, [१६] नराले आदमी-९३ [१७] ज्ञान की प्राप्ति-१०० [१८] घर का स्वामी-१०५, [१९] यागमय-१०८, [२०] चले चल-११३, [२१] ओह वह प्रार्थना-११५। छपाई आदि उत्तम पचना सस्करण। मूल्य १-४-०

डाकस्थल ०२-३

४ मन नहीं टिकता क्या करे ?—इस जिज्ञासा पर आचार्य जी ने भिन्न भिन्न व्यक्तियों का समय-समय पर जो उत्तर दिये हैं वे यहाँ पर सुचारु रूप से संगृहीत हैं। इनमें मन का एकाग्र करने के उपायों का विवेचन किया गया है। पृष्ठ मख्या २१।

मूल्य ०३-० टाकस्थल ०-१-०

५-वेदरहस्य—३ गुण्ड

इस ग्रन्थ में आचार्य जी ने श्री अरविन्द का अनुमति से उनका 'The Secret of the Veda' का हिन्दी अनुवाद किया है। आवश्यक स्थल पर साक्ष्य कथन को कुछ समझा कर लिखा गया है तथा अन्य परिवर्तन भी किए गए हैं जिससे डॉ. प्रसन्न उपयोगी हो गई है वही अनुवाद होते हुए भी स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बन पड़ी है।

वयड में वेद का प्रतिपाद्य विषय, द्वितीय में चुने हुए सूक्तों में नुवाद और तोमरे में देवताओं के स्वरूप का विवेचन है।

प्राथमिक सूची—

प्रथम खण्ड—[१] प्रश्न और उसका हल-१, [२] वैदिकवाद वलोकन (क)—वैदिक साहित्य ११, [३] वैदिकवाद का लोकन (ख)—वैदिक विद्वान्-२१, [४] आधुनिक मत-३०, [५] आध्यात्मिकवाद का आचार-४४, [६] वेद की भाषावैज्ञानिक-६२, [७] अग्नि और सत्य-७५, [८] वरुण, मित्र और-८०, [९] आश्विन, इन्द्र, विश्वदेवा-१०३, [१०] सरस्वती उनके सहचारी-११८, [११] समुद्रों और नदियों का रूपक, [१२] सात नदियाँ-१४२, [१३] उषा की गौए-१६०, [१४] और सत्य-१७२, [१५] आगिरस उपारयान और गौओं का-१८१, [१६] खोया हुआ सूर्य और खोयी हुई गौए-१८८, [१७] अगिरस ऋषि-२१३, [१८] सात-सिरी वाला विचार, स्वर्ण दशमना ऋषि-२३३, [१९] मानव-पितर-२५२, [२०] पितरों के वज्र-२७०, [२१] देवशुनी सरमा-२८६, [२२] अन्धकार के-३०८, [२३] दस्युओं पर विजय-३२२, [२४] परिणामों का-३३८।

द्वितीय खण्ड—[१] इन्द्र और अगस्त्य का सत्राद-१७, [२] दिव्य प्रकाश का प्रगता-२३, [३] इन्द्र और विचार-शक्तियाँ-६, [४] अग्नि प्रकाशपूर्ण संकल्प-५०, [५] सूर्य सविता, प्रयता और पोषक-६४, [६] दिव्य उषा-७५, [७] भग सविता-दोषभाक्ता-८४, [८] वायु, प्राण शक्तियों का अधिपति-८४, [९] इन्द्रासि आत्मा का शक्ति-१०७, [१०] अश्विदेव-आनन्द के अधिपति-१२२, [११] ऋतु-अमरता के शिल्पी-१३६, [१२] विष्णु,,